



लखनऊ अकादमी को

—हर्यनारायण

# विषयानुक्रमणी

विषय	पृष्ठ
१ समर्पण	३
२ विषयानुक्रमणी	४-६
३ चित्र-शाहजाद दाराशिकोह और सूफी मुल्लाशाह वदरशानी	७
४ चित्र-शाहजाद दाराशिकोह और सम्राट औरंगजेब	८
५ उपोद्घात	९-२६
६ चित्र-शाहजाद दाराशिकोह	२७
७ " " "	२८
८ दाराशिकोह का एक मस्कृत पत्र, सानुवाद	१-१०
९ प्रकाशकीय	११-१६
१० सिरे अक्बर की भूमिका	१७-२०
११ उपनिषदें-मूल, अनुवाद, सानुवाद सिरे अक्बर	२१-२७०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
------	-------	------	-------

१ ईशावास्योपनिषद्	२१-२८
-------------------	-------

१ ईश-बुद्धि, ईश्वरापेक्ष-बुद्धि (मंत्र १)	२१	६ अस्त्युक्ति और सत्युक्ति (मंत्र १२-१४)	२६
२ धर्म और अनासक्ति (मंत्र २)	२२	७ प्रच्छन्न सत्य (मंत्र १५)	२७
३ आत्महतात्मों की गति (मंत्र ३)	२२	८ पूर्व-ग्रह (मंत्र १६)	२७
४ ब्रह्म सत्य और ब्रह्म बुद्धि (मंत्र ४-८)	२३-२४	९ मुमुक्षु की प्रार्थना (मंत्र १७)	२७
५ अविद्या और विद्या (मंत्र ९-११)	२४	१० अग्नि से प्रार्थना (मंत्र १८)	२८

२ वेनोपनिषद्	२६-४२
--------------	-------

१ प्रथम सख	२९-३२	३ तृतीय सख	३५-३९
२ द्वितीय सख	३२-३४	४ चतुर्थ सख	३९-४२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
३ कठोपनिषद्		४३-६६	
१ प्रथमोऽध्याय	४३-७६	२ द्वितीयोऽध्याय	७६-९६
१ प्रथमा वल्ली	४३-५७	१ प्रथमा वल्ली	७६-८२
२ द्वितीया वल्ली	५८-६९	२ द्वितीया वल्ली	८२-८८
३ तृतीया वल्ली	६९-७६	३ तृतीया वल्ली	८९-९६
३ तृतीयोऽध्याय			९६
४ प्रश्नोपनिषद्		९७-१२८	
१ प्रथम प्रश्न	९७-१०७	४ चतुर्थ प्रश्न	११६-११९
२ द्वितीय प्रश्न	१०७-१११	५ पञ्चम प्रश्न	१२१-१२४
३ तृतीय प्रश्न	१११-११६	६ षष्ठ प्रश्न	१२४-१२८
५ मुण्डकोपनिषद्		१२९-१५६	
१ प्रथमो मुण्डक			१२९-१३९
१ प्रथम खण्ड	१२९-१३३	२ द्वितीय खण्ड	१३४-१३९
२ द्वितीयो मुण्डक			१४०-१४९
१ प्रथम खण्ड	१४०-१४४	२ द्वितीय खण्ड	१४४-१४९
३ तृतीयो मुण्डक			१४९-१५९
१ प्रथम खण्ड	१४९-१५४	२ द्वितीय खण्ड	१५४-१५९
६ माण्डूक्योपनिषद्		१६०-१६५	
७ तैत्तिरीयोपनिषद्		१६६-२०२	
१ शीक्षा वल्ली			१६६-१७७
१ प्रथमोऽनुवाक	१६६-१६७	७ सप्तमोऽनुवाक	१७२-१७३
२ द्वितीयोऽनुवाक	१६७-१६८	८ अष्टमोऽनुवाक	१७३
३ तृतीयोऽनुवाक	१६८-१६९	९ नवमोऽनुवाक	१७४
४ चतुर्थोऽनुवाक	१६९-१७०	१० दशमोऽनुवाक	१७४-१७५
५ पञ्चमोऽनुवाक	१७१	११ एकादशोऽनुवाक	१७५-१७६
६ षष्ठोऽनुवाक	१७२	१२ द्वादशोऽनुवाक	१७६-१७७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
२ ब्रह्मानन्दवल्ली			१७७-१९१
१ प्रथमोऽनुवाकः	१७७-१७९	६ षष्ठोऽनुवाकः	१८४-१८५
२ द्वितीयोऽनुवाकः	१७९-१८०	७ सप्तमोऽनुवाकः	१८५-१८६
३ तृतीयोऽनुवाकः	१८०-१८१	८ अष्टमोऽनुवाकः	१८६-१९०
४ चतुर्थोऽनुवाकः	१८२	९ नवमोऽनुवाकः	१९०-१९१
५ दशमोऽनुवाकः	१८२-१८३		
३ भृगुवल्ली			१९२-२००
१ प्रथमोऽनुवाकः	१९२	६ षष्ठोऽनुवाकः	१९५-१९६
२ द्वितीयोऽनुवाकः	१९२-१९३	७ सप्तमोऽनुवाकः	१९६
३ तृतीयोऽनुवाकः	१९३-१९४	८ अष्टमोऽनुवाकः	१९७
४ चतुर्थोऽनुवाकः	१९४	९ नवमोऽनुवाकः	१९७-१९८
५ दशमोऽनुवाकः	१९४-१९५	१० दशमोऽनुवाकः	१९८-२०२
८ ऐतरेयोपनिषद्			२०३-२१६
१ प्रथमोऽध्यायः			२०३-२१३
१ प्रथमः खण्डः	२०३-२०५	३ तृतीयः खण्डः	२०८-२१३
२ द्वितीयः खण्डः	२०६-२०८		
२ द्वितीयोऽध्यायः			२१३-२१६
३ तृतीयोऽध्यायः			२१६-२१९
६ श्वेताश्वतरोपनिषद्			२२०-२७०
१ प्रथमोऽध्यायः	२२०-२२९	४ चतुर्थोऽध्यायः	२४६-२५५
२ द्वितीयोऽध्यायः	२३०-२३७	५ पञ्चमोऽध्यायः	२५५-२६१
३ तृतीयोऽध्यायः	२३७-२४५	६ षष्ठोऽध्यायः	२६१-२७०
१२ शुद्धि-पत्र			२७१-२७२
१३ सप्तप्रतीक-वर्णानुक्रमणिका			२७३-२८०
१ ईशावास्योपनिषद्	२७३	६ माण्डूक्योपनिषद्	२७७
२ केनोपनिषद्	२७३	७ सैतियोपनिषद्	२७८
३ कठोपनिषद्	२७४-२७५	८ ऐतरेयोपनिषद्	२७८-२७९
४ प्रश्नोपनिषद्	२७५-२७६	९ श्वेताश्वतरोपनिषद्	२७९-२८०
५ मुण्डकोपनिषद्	२७६-२७७		

वाराणसी में जिन  
महापुरुष के सान्निध्य  
में शाहजाद वारा  
शिकोह ने तत्त्वज्ञान की  
शिक्षा पाई थी उन्हीं  
मुगलकालीन पण्डित  
प्रवर प० रामानन्द  
त्रिपाठी जी के पुनीत  
वश के सुवर्ण-कलश  
महामाननीय पण्डित  
कमलापति त्रिपाठी की  
शाहजाद वारा कृत ५०  
उपनिषदों की सिरों  
अक्षर नामक फारसी  
व्याख्या में से ईश केन कठ  
प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य  
ऐतरेय तैत्तिरीय और  
श्वेताश्वतर— इन नौ  
उपनिषदों के युगांतर  
कापी हिंदी रूपांतर  
से सादर मा-ल्यार्पण ।



## मा-ल्यार्पण



ई शो प के न क ठ प्र श्न

श्वे ता श्व तर तै त्ति रीय ऐ त रेय

\* \* मुण्डक \* \* \* सिरों \* \* \* माण्डूक्य \* \*

अ  
व  
र

विद्व मूढाय प० कमलापति त्रिपाठी यू० पू० मुख्यमंत्री उत्तरप्रदेश  
और सम्प्रति मंत्री भारत सरकार भुवन वाणी ट्रस्ट के सरक्षक महान्  
और परम अनुग्रहकर्ता हैं । ट्रस्ट का समस्त परिवार इस मा-ल्यार्पण से  
अपने को गौरवाचित समझता है ।

१० जुलाई १९७५

रथमाता दिवस

## उपोद्घात

वेदमन्त्र तीन प्रकार के हैं—ऋचा, यजुष, और साम (शतपथ ब्राह्मण ४६७१)। ऋचा पद्य है, यजुष मन्त्र है, और साम गान अथवा गीति है (मोमासा सूत्र २१ ३२-३४)। ये मन्त्र चार ग्रन्थमालाओं में संगृहीत हैं, जिन के नाम हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद। ऋग्वेद में ऋचा, यजुर्वेद में यजुष, और सामवेद में साम का प्राधान्य है, अथर्ववेद में प्रायः सभी प्रकार के मन्त्र मिल जाते हैं।

उक्त चारों ग्रन्थमालाओं में से मन्त्रों के कई कई भस्तरण हैं जिन्हें 'शाखा' कहा जाता है। प्रत्येक शाखा में चार पाद हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद्। शाखाओं की संख्या सहस्रों तक पहुँची थी (विष्णु-पुराण ३ ३४)। कई ग्रन्थों में उन की संख्या ११३० अथवा ११३१ स्थिर की गयी है (पातञ्जल न्याकरणमहामाध्य, पस्पशाह्निक, अहिर्बुध्न्य संहिता १२ ८-९, कूर्म पुराण, पूर्वभाग, अध्याय ४२, मुक्तिकोपनिषद् ११२ १३)। इन में से केवल लगभग दर्जन भर शाखाएँ पायी जाती हैं, शेष बाल के गान में समा गयीं। शाखाओं का विवरण इस प्रकार है—

प्रकार	वेद	परिवर्णित शाखाओं की संख्या	उपलब्ध शाखाओं की संख्या	उपलब्ध शाखाओं के नाम
१	ऋग्वेद	२१	१	(१) शारत्त शाखा
२	यजुर्वेद	१००/१०१	२ (शुक्लयजुर्वेद)	(१) वाजसनेयी माध्यन्दिन शाखा (२) काण्व शाखा
			४ (कृष्ण यजुर्वेद)	(१) तैत्तिरीय-शाखा (२) मैत्रायणी शाखा (३) कठ-शाखा (अपूर्ण) (४) कपिष्ठलकठ शाखा
३	सामवेद	१०००	३	(१) वीथुमीय शाखा (२) शषावनीय शाखा (३) जैमिनीय शाखा
४	अथर्ववेद	९	२	(१) शौनक-शाखा (२) पैप्पलाद शाखा

योग ११३०/११३१ १२

इन में से शाकल शाखा ही ऋग्वेद, माध्यन्दिन शाखा ही यजुर्वेद, वीथुम शाखा ही सामवेद, और शौनक शाखा ही अथर्ववेद कही जाने लगी है। यद्यपि इस का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। प्रस्तुत लेखक ने शाखा निर्देश न कर के, रुडि बरग, 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'सामवेद', और 'अथर्ववेद' शब्दों का ही प्रयोग किया है। हाँ ऐसा प्रयोग केवल संहिताओं के लिए किया गया है, ब्राह्मण आदि के लिए नहीं।

प्रसंग, ऋग्वेद-संहिता की ढेरो ऋचाएँ अन्य संहिताओं में लगभग शब्दशः अतिसात् कर ली हैं। सामवेद-संहिता का तो ७५ ऋचाओं की छोड़कर समुचा पत्तेवर ऋग्वेद की ऋचाओं से निर्मित हुआ है।

बहते हैं कि प्रत्येक शाखा का अपना ब्राह्मण था, किन्तु केवल लगभग डेढ़ दर्जन ब्राह्मण वाच-व्यंगित होने में बच गये हैं। उपलब्ध आरण्यकों की संख्या और कम है। मुक्तिशोपनिषद् (११५) के अनुसार प्रत्येक शाखा की अपनी उपनिषद् थी। पहल, प्रकाशित उपनिषदों का सर से बड़ा संग्रह 'ईशादिविश्वीतर-ज्योतिषनिषद' (१२० उपनिषदें) शीर्षक से निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ने पाँच सप्तराजों में निकाला, जिस का अन्तिम संस्करण नारायणराम आचार्य के सम्पादनत्व में १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ। अब इस संग्रह में ६८ उपनिषदों की वृद्धि कर के कुल १८८ उपनिषदों का संग्रह 'उपनिषत्संग्रह' शीर्षक से एक ही ग्रन्थ में किन्तु दो भागों में जगदीश शास्त्री ने मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, बाराणसी, से प्रकाशित कराया है, जिस में जवन १२० उपनिषदें प्रथम भाग और ६८ उपनिषदें द्वितीय भाग के अन्तर्गत हैं। अद्वयार साइबेरी, मद्रास, ने भी प्रायः १७९ उपनिषदों का कई भागों में विभक्त एक संग्रह प्रकाशित किया था। शास्त्री गजानन गान्धु साधने द्वारा सम्पादित विज्ञान 'उपनिषद्वाचस्पत्यकोश' (बम्बई गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, १९४०) के निर्माण में २२३ उपनिषदों का उपयोग किया गया है जिन में से उपनिषत्सुखोपनिषद् और देव्युपनिषद् से २ सर्वथा अनुपलब्ध हैं और माण्डूक्यकारिका के चारों प्रकारों—आगम, अज्ञातगामि, चैतन्य, और अद्वैत—को पृथक्-पृथक् और माण्डूक्योपनिषद् से स्वतंत्र रूप में परिचित किया गया है। इस प्रकार उपलब्ध उपनिषदों की संख्या २१७ ही रह जाती है। माण्डूक्यकारिका उपनिषद् नहीं अपितु माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपाद द्वारा रचित कारिका-ग्रन्थ है। 'उपनिषद्वाचस्पत्यकोश' में इन उपनिषदों की सूची भी दी गयी है। उन में अम्लोपनिषद् (जिस की विशेष चर्चा आगे भावैशी) जैसी उपनिषद सम्मिलित नहीं हैं। स्मरणीय है कि वर्तमान जी० ए० जैकब ने भी एक ऐसे ही कोश का निर्माण किया था, किन्तु उस में कुल बिलानर केवल ४५ उपनिषदों का उपयोग किया गया था।

उपलब्ध उपनिषदों में भी अधिकतर नवीन अथवा अग्रामाणिक हैं, जैसे अम्लोपनिषद्, जो एक मन्दूत-अरवी-मिश्र उपनिषद् है और अक्सर वादशाह के अरसाह का रगून (अल्लोरमूलमहमदावरम्य) कहती है। प्रमगा, इस उपनिषद् की सम्पदन सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने (अपने 'महावाचस्पत्य' में) प्रकाशित कर इस की अग्रामाणिकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। इस का एक वर्षाया भिन्न पाठ उक्त 'उपनिषद्वाचस्पत्य' द्वितीय भाग, की दूसरी शीर्षक की दयानन्दवैधी उपनिषद् के रूप में प्राम्ण होता है। वहीं इन शास्त्र उपनिषदों के अन्वर्णन माना गया है।

उपलब्ध उपनिषदों में भी नवीन और प्रामाणिक हैं, इस का निर्णय पड़ता है। वदयमाण ११ उपनिषदों पर माण्डूक्य के नाम में भाष्य प्रसिद्ध है—ईशासाम्य, वेन, बड, ब्रह्म, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय मेन्दय, छान्दोग्य, युगदारण्यक, और इन्द्राग्नयनर। इन आचार पर प्रायः उन्हीं उपनिषदों को महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है। अन्य भाषाओं में भी लगभग इन्हीं उपनिषदों पर भाष्य रचे हैं। हिन्दु गहर ने कई अन्य उपनिषदों के नाम भी पमाण्यवन् उपनिषद लिखे हैं।

अतः इन का भाष्य केवल ११ उपनिषदों पर उपलब्ध पाकर प्रागण्डिव उपनिषदों की संख्या ११ तक परिमित कर देना अतिशूलक है। मुनिरूपोपनिषद् में एक स्थल (१२६) पर एकमात्र माण्डूक्योपनिषद् को मुमुक्षुषो के लिए पर्याप्त बताया गया है, तथा दूसरे स्थल (१२७) पर १० और तीसरे स्थल (१२८) पर ३२ उपनिषदों का महत्त्व स्थापित करते हुए चौथे स्थल (१४४) पर १०८ उपनिषदों को सभी उपनिषदों का सार घोषित किया गया है। उग (१२९-४०) में इन १०८ उपनिषदों की सूची भी दी हुई है। किस उपनिषद् के आदि और अंत में शान्ति-पाठ क्या होना चाहिए, इस का निर्णय भी इस के प्रथम अध्याय के अंत में किया गया है।

उपनिषदों की पहचान भी आज कठिन है। अधिकतर उपनिषदें स्वतंत्र प्राप्त होती हैं, कुछ भारवृक्षों के भाग हैं, कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों के भाग हैं, और कुछ संहिताओं के भाग हैं। उदाहरण साजिए। तैत्तिरीयारण्यक उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक और ऐतरेयोपनिषद् शून्वेदीय ऐतरेयारण्यक का भाग (प्रश्न ७-९ और २४-६) है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक का अन्तिम, दशम प्रपाठक ही नारायणोपनिषद् कहलाता है। (यह अथर्ववेदीय 'महानारायणोपनिषद्' से भिन्न है, जो उक्त 'उपनिषत्संग्रह' के प्रथम भाग की उन्नीसवीं उपनिषद् है।) बृहदारण्यकोपनिषद् उपनिषद् भी है, भारवृक्ष भी है, और शतपथब्राह्मण का भाग भी है, अर्थात् अन्तिम पाठ १४ के अन्तिम छह अध्याय। रामवेद की कौमुदी शाखा के ब्राह्मण के कुल ४० भागों में प्रथम २५ भागों को 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' अथवा 'ताण्ड्य-महाब्राह्मण', भाग २६-३० को 'षष्ठविंश-ब्राह्मण', भाग ३१-३२ को 'मह-ब्राह्मण', और भाग ३३-४० को छान्दोग्योपनिषद् कहते हैं। शून्वेद के 'वीथीवर्गी' अथवा 'शांडिल्य-आरण्यक' के अध्याय ३-६ का नाम 'वीथीवर्गब्राह्मणोपनिषद्' है। ईशावास्योपनिषद् मुक्त यजुर्वेद की माध्यन्दिन-और रात्रि संहिताओं का अतीसवीं अध्याय मात्र है। कात्यायन-श्रुत सवनिक्रमणों के अनुसार शून्वेद के प्रथम मण्डल का १११ वां सूत्र एव उपनिषद् है। शौनव-श्रुत 'बृहदेकता' का भी यही संकेत है। दशरथिह ने यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता के सूक्त १६, पुरपगुप्त (सूक्त ३१), सूक्त ३०, शिवसक्त्तसूक्त (सूक्त ३४) के प्रथम छह मंत्रों, और ऐतरेयारण्यक (२११-२३३) को भी प्रथम शतसत्रिंश, पुरपगुप्त, तदेव-अथवा सर्वमेध, तथा शिवसक्त्त सत्रक उपनिषदें मानकर उन की व्याख्या की है। शिवसक्त्त-उपनिषद् उक्त 'उपनिषत्संग्रह' के द्वितीय भाग की ४५ वीं उपनिषद् है। वस्तुन जिस भी वेदभाग में ब्रह्मविद्या का निरूपण हो उग उपनिषद् माना जा सकता है। इस दृष्टि में शून्वेद और अथर्ववेद के दोनों सूक्त उपनिषदों की कोटि में आ सकते हैं। हाँ यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय की पुण्यवा म उमें उपनिषद् की मन्त्रा दी गयी है। वस्तुन 'गीता' एव म्नीनिय शिक्षण है जिग का एव म्नीनिय शिक्षण होना ही चाहिए, जो 'उपनिषद्' है।

१ 'कंठत घोडसोपनिषदशुपुनमपुनसोर्व विद्यसज्जालपरम प्राहभेद दशमपायास तिस्रो महामुक्तयो महामुक्तौ च।' कात्यायन, सवनिक्रमणों, दशपुराणिष्य की वेदार्थविधिरा-महाया के अन्तरर्था सति, स० ए० श्रीरहित, स० (अन्तिमकोई) श्वेदरेडन प्रेत, १८८६), पु० १२-१३, 'श्रुतपतेरनर्वा कङ्कतोपनिषत् परम।' शौनव, बृहदेकता, रामकुमार शास्त्र, स०, काशी संस्कृत सोरोड, राधाकु १८४ (बाएनमो, घोडसो सक्त्त सोरीव कापीतय, १९६३), ४६३।



उपनिषदों के महत्त्व के विषय में हम दो-तीन पाश्चात्य मनोविदों के उद्गार उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक गोपेन्हायर लिखता है, 'यह [अर्थात् उपनिषद्] एक सर्वाधिक इतार्थ करने वाला और सर्वाधिक जंजा उठाने वाला पाठ है जो... ससार में सम्भव हो सकता है। जगत् में मुझे जीवन में सान्ति मिलती है, और मृत्यु में भी मिलेगी।' (It is the most rewarding and the most elevating reading which...there can possibly be in the world. It has been the solace of my life and will be of my death) स्वनामधेय वेदज्ञ मैक्समूलर लिखता है कि 'यदि गोपेन्हायर के इन शब्दों के लिए किसी समर्थन की आवश्यकता हो तो मैं अपने जीवन भर के अध्ययन के आधार पर प्रवृत्ततापूर्वक अपना समर्थन दूंगा (If these words of Schopenhauer required any confirmation, I would willingly give it as a result of my lifelong study.) उपनिषद्-दर्शन अथवा मौलिक वेदान्त के विस्तृत व्याख्याता पॉल डायसन के अनुसार वेदान्त [अर्थात् उपनिषद् दर्शन], अपने अविद्वत् रूप में, शुद्ध नैतिकता का सशक्ततम आधार है, जीवन और मृत्यु की पीड़ाओं में हमें न बड़ी भाग्यना है। भारतीयों, इस में निष्ठा रखो। (the Vedanta [viz the philosophy of the Upanishads], in its unfalsified form, is the strongest support of pure morality, is the greatest consolation in the sufferings of life and death. Indians, keep to it!) वेद का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् को वेदान्त कहा जाता है।<sup>१</sup> वस्तुतः, उपनिषद् में ही वेद का पर्यवसान होता है।

उपनिषद् पर हमने प्राचीन उपलब्ध भाष्य अनुराचार्य का है।<sup>२</sup> उन के नाम से कुछ ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य उपलब्ध होते हैं, जिन में से दो एक के विषय में सन्देह किया जाता है, कि वे कहीं किसी परवर्ती शायर की रचना तो नहीं है। परवर्ती आचार्यों के भाष्य भी प्रायः दस-बारह उपनिषदों तक ही सीमित हैं। दार्शनिकों के प्रथम विद्वान् हैं जिन्होंने ५० उपनिषदों की व्याख्या का बीड़ा उठाया और इस कार्य को कर के ही दम लिया। और विशेषता यह है कि उसने अपनी व्याख्या फारसी में लिखी है। इन ५० उपनिषदों की तासिका इस प्रकार है—

१. ईशावास्योपनिषद् २. कैठोपनिषद् ३. बठोपनिषद् ४. प्रश्नोपनिषद्
५. मुण्डनोपनिषद् ६. माण्डूक्योपनिषद् ७. ऐतरेयारण्यकोपनिषद् ८. तैत्तिरीयोपनिषद्
९. एतरेयोपनिषद् १०. छान्दोग्योपनिषद् ११. बृहदारण्यकोपनिषद्
१२. श्वेताश्वतरोपनिषद् १३. मैत्रायण्युपनिषद् १४. कौषीतक्युपनिषद् १५. जानाश्वोपनिषद्
१६. पैनसोपनिषद् १७. कैवल्योपनिषद् १८. पुरुषसूक्तोपनिषद्
१९. शिवसम्बन्धोपनिषद् २०. छागनेयोपनिषद् २१. गर्भोपनिषद् (तदेवोपनिषद्)
२२. महानारायणोपनिषद् २३. तारकोपनिषद् २४. चाणक्योपनिषद् २५. तसोपनिषद्
२६. गीतगोपनिषद् २७. योगशिखापनिषद् २८. योगतत्त्वोपनिषद्
२९. महोपनिषद् ३०. आत्मप्रबोधोपनिषद् ३१. नाट्ययोगोपनिषद् ३२. आरुणिको-

१ 'उपनिषदो वेदान्तः।' गीतमधर्मसूत्र, गणेश शास्त्री गोखले, सं०, आनन्दप्राम साहित्य प्रकाशित, स० ६१ (पुना, १९१०), पृ० ११२।

२ शास्त्र ने प्राचीनतर भाष्यकारों का भी यत्र तत्र स्मरण किया है, यथा माण्डूक्यकारिका-भाष्य पृ० २० और बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य पृ० २, ६ में।

पनिपत् ३३ चुत्तिचोपनिपत् ३४ अयवधिरउपनिपत् ३५ अयवशिवापनिपत्  
 ३६ आम्पोपनिपत् ३७ ब्रह्मविचोपनिपत् ३८ अमृतविपनिपत् ३९ तेजाविदू  
 पनिपत् ४० शतस्त्रयुपनिपत् ४१ गर्भोपनिपत् ४२ ध्यानविदूपनिपत्  
 ४३ मृगसाधूचोपनिपत् ४४ हगनाधोपनिपत् ४५ परमहंसोपनिपत् ४६ अमृत  
 नादोपनिपत् ४७ आप्योपनिपत् ४८ प्रणवापनिपत् ४९ क्षरिकोपनिपत्  
 ५० नरसिंहोपनिपत् ।

प्रस्तुत पाँच में क्रमांक १११ का क्रम द्वारा द्वारा गहोत क्रम से पृथक् रखा गया है क्योंकि यही प्रचलित क्रम है जिसका भग होने पर अनावश्यक अव्यवस्था उत्पन्न होगी। द्वारा में तत्तिरीयोपनिपत् की अंतिम दो वल्लियाँ—आनन्दवल्ली और भृगुवल्ली—को पृथक् पृथक् उपनिपत् माना है जिससे उन के द्वारा ध्यानदात उपनिपत् की संख्या ५१ हो जाती है। सम्भवतः प्रथम वल्ली श्रीधारवल्ली का उससे पता नहीं था। वस्तुतः उन ने जिन उपनिपत् का भी व्याख्या की है उन में से कई के पाठ प्रचलित पाठ से यथावत् भिन्न है जिन की ओर प्रस्तुत अनुवाद में कुछ ही स्थानों पर संशय किया जा सका है। उन ने ऐतरेयब्राह्मण का कुछ स्वतंत्र अंश (१११-१३३) का भी अनुवाद दिया है जिसे भिन्न कर ही फिर अक्षरों के अंशों में अनुक्ति अपना व्याख्यान प्रयोग की संख्या ५१ होती है।

द्वाराशिकोह की उपनिपत् 'वाग्या' का नाम है सिर अक्षर अर्थात् महत्तम रहस्य जो ही प्रायः उपनिपत् पद का भी अर्थ है। इस व्याख्या प्रयोग का प्रथम अनुवाद एक अंग्लैकियन दु पेरान (Anquetil du Perron) नामक फ्रांसीसी विद्वान ने लखन भ्राया में किया जो Oupnek hat नामक से १८०१-२ ई० में स्ट्रासबर्ग और गैसल्ट में प्रकाशित हुआ। इस लखन अनुवाद का जर्मन अनुवाद बर्लिन से १८८० ई० में प्रकाशित हुआ। गायेहायर ने लखन अनुवाद को ही पन्धर उपनिपत् के विषय में उपपद्धत उद्गार ब्रह्मण्ड के अर्थ में व्याख्यान दु पेरान ने फ्रांसीसी भाषा में भी फिर अक्षरों का अनुवाद किया किन्तु वह कभी छपा ही नहीं। यह वही आनन्दियन दु पेरान है जिन ने पारसी ग्रन्थों में अवेस्ता की खोज की थी।

द्वाराशिकोह इस देश में एक विनयक प्रतिभा और प्रवृत्ति का धन व्यक्त हो गया है जिन का यक्ति ब और वृत्ति ब जिनका ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही अज्ञान अथवा अल्पज्ञान भी। यह दण्डन गिर दुर्भाग्य ही नग्न राजा की भाँसा है जसा कि आग स्फोट हुआ। पारसी की उच्चतम सभ्यता के कई अदृष्ट वरिष्ठ अध्यापक भी द्वारा के वृत्ति ब में सबका अनभिज्ञ पाय पात है।

द्वाराशिकोह अथवा द्वाराशुकोह \* प्रसिद्ध मुगल सम्राट शाहजहाँ का ज्येष्ठ और

१ द्वाराशिकोह अथवा द्वाराशुकोह = द्वारा + शिकोह/शुकोह। द्वारा अथवा शारदाशु ईरान का प्राचीन सम्राट था। शिकोह का अर्थ होता है घघ तथा शुकोह का प्रनाप और तेज। इस दृष्टि से द्वाराशुकोह नाम में स्वार्थ अर्थ है और कई लोग यही नाम शुद्ध बताते हैं। द्वाराशिकोह के नाम से प्रसिद्ध सफ़ूत घघ समुद्र सङ्ग्राम में भी मेखन का नाम महम्मद द्वाराशुकोह अङ्कित है। किन्तु द्वाराशिकोह के एक सफ़ूत पत्र का उद्धाटन हुआ है जिस में उस ने अपना नाम द्वाराशिकोह दिया है। इस पत्र की सर्वा मांगे आयेगी। जो ही द्वाराशिकोह नाम ही अर्थ प्रचलित है विशेषतः हिन्दी में अतः हम ने यही नाम स्वीकार किया है।

प्रेष्ठ पुत्र और सुवराज तथा औरंगजेब का अग्रज था। वह २० मार्च १६१५ ई० को पैदा हुआ। साढ़ेबर्हों जब रोगग्रस्त हुआ तब औरंगजेब ने अग्र्य भाइयों को दिखाकर राजधानी पर घेराव चोर दिया और अन्ततः शारासिकोह पर 'काफिर' (इस्लाम का निषेधक) होने का आरोप लगा कर ३० अगस्त १६१९ ई० को उसका वध करा दिया और शाहजहाँ के जीर्ण जी सम्राट बन बैठा।

शारासिकोह राजनीति में असफलता का अवतार था। वह इस क्षेत्र में सर्वदा, सर्वत्र, असफल रहा। चाहे इचादाबाद की सूबेदारी हो, चाहे कन्धार के तशम में मुगल-सेना का सेनापतित्व, और चाहे उत्तराधिकार के लिए युद्ध—सफलता उसे कहीं नहीं मिली। इसका एक बड़ा कारण यह बताया जाता है कि वह अपने आगे किसी को नहीं मुनता था और सब पर अविश्वास करता था। किन्तु एक अग्र्य और कहीं अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र में वह अपना सानी नहीं रखता था।

इस्लाम के इतिहास में इतनी उदार आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से सम्पन्न एक भी राजकुमार अथवा राजपुरुष दिखायी नहीं दिया। इस दृष्टि में शारा और औरंगजेब दो एकान्ततः विरोधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। औरंगजेब की कितनी भी सफाई दी जाय, मानना होगा कि वह हिन्दुत्व-वैभी तो नहीं ही कहा जा सकता। वह हिन्दुत्व और इस्लाम के समन्वय का तो स्वप्न भी नहीं देख सकता था। विपरीत हमने, शारा का अदाय हिन्दुत्व-प्रेम देखिए, कि उसने ५० उपनिषदों की व्याख्या करके बहु कार्य कर दिखाया जिसे उग समय तक किसी हिन्दू ने भी नहीं ठाना था। और हिन्दुत्व और इस्लाम, अथवा बेबाग और समन्वय, के समन्वय के प्रयत्न में तो उसने एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली। यह पुस्तक फारसी

१ औरंगजेब की येन केन प्रकारेण सफाई देने वाले भूल जाते हैं कि ये शारासिकोह के साथ आयाय करते हैं। शीख साही ने ठीक कहा—

'न दाविस्त आ कि रहू मत बदे वर मार कि ई जुगस्त बर फरसिद आवम'  
अर्थात् जिसने शीख पर बर्षा की उसने नहीं जाना कि उसने मनु की राज्ञान पर धरदाचार किया। वस्तुतः औरंगजेब और शारा में से एक ही को चुना जा सकता है। औरंगजेब के प्रसंगिक इश्बाल ने अन्वर और शारा को मारितक कह कर लताड़ा था—

'कुदिम इहदा कि अन्वर पर्वरीद बाब अन्वर किबते शारा इमीव'  
इश्बाल औरंगजेब को इस्लाम और कुफ़ के युद्ध में इस्लाम के सफाई का जतिम बाण मारते थे—

'दन्माले फारजारे कुफ़ो दी सफाई मारा छरने आखिरी'

प्रसंगतः, यहाँ फारसी-भाषा की प्रायः उपमहद्वीप भारत में यह उच्चारण-पद्धति हो अपनायी गयी है, क्योंकि यह उर्दू में गृहीत उच्चारण-पद्धति के अनुसंध बँधती है। आधुनिक ईरानी उच्चारण-पद्धति बहुत चरम चुकी है, और यह भी ज़िराफ़ नहीं प्रतीत होती। उल्लेखनीय है कि अपने दीवान 'मर्नुअक़ाल' की प्रतियोग में समीर ख़ुयी ने भारत में प्रचलित फारसी उच्चारण-पद्धति को अन्वय प्रचलित पद्धति में अष्टतर भाषा है और खुरामानियों की उच्चारण-पद्धति की निन्दा की है जो आज के ईरानियों के समान 'य' को 'जि' और 'कुना' को 'कुनो' बहते हैं। वस्तुतः, जैसा छात्रिय ने लिखा है, सेहरे का अनुकरण भाई का काम है।

में भी उपलब्ध है और संस्कृत में भी, और दोनों पर लेखक के रूप में दाराशिकोह का ही नाम अंकित है। फारसी कृति का शीर्षक है 'मग्मउज्जवहैन' (ममुद्रसंगम का संगम) और संस्कृत कृति का, 'समुद्रसंगम'। फारसी पुस्तक को एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल ने मुहम्मद महमूनुज्जवह के अरबी अनुवाद और टिप्पणियाँ के साथ १९२९ में प्रकाशित किया था। डॉ अलहर अख्तांग रिजवी ने उस का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। संस्कृत पुस्तक को अंग्रेजी टिप्पणियाँ आदि के साथ डॉ० यनीन्द्र बिमल चौधरी ने प्रकाशित किया।<sup>१</sup>

'मग्मउज्जवहैन' अथवा 'समुद्रसंगम' अपने दृष्टि का अनेकांश ग्रन्थ है। इस में पता चलता है कि दारा का नेदास्त और तराबुक दोनों पर किताबें बहियार या और कुछ सम्मिलित कर एक नयी सविश्लेष भारतीय गच्छति की प्रतिष्ठापना की उसे रितनी स्तुति थी। आज समुक्त गच्छति का भारत को रोज चपला है, किन्तु दारा वह महापुरुष है जिस ने उस की नैतिक दार्शनिक आधारभूतों के निर्माण का सुनियोजित (दार्शनिक संगम) प्रयास किया था<sup>२</sup>। उस के पूर्व केवल एक महापुरुष दिखायी देता है जिस ने कुछ इसी प्रकार का प्रयत्न किया था। वह था जबरर के दरबार का कवि-सल्लाहू फैरी जिस ने फारसी में 'शारिकुज्जमारिफत' (सल्लामन-भास्कर) शीर्षक ग्रन्थ लिख कर मुस्लिम समार को नेदास्त का तत्त्वज्ञान देने का प्रयत्न किया था। फैरी का ग्रन्थ अधिनैतिक और दार्शनिकतापूर्ण है। येद है कि इस ग्रन्थ को शीघ्र अथ एक कम धून गये है और ग्रन्थ भी अथ लुप्त हो है। उसे गवर्नमेन्ट ऑफ प्रेस, लखनऊ, ने प्रकाशित किया था। प्रस्तुत लेखन को कुछ समय पूर्व उक्त प्रेस से उग ग्रन्थ के द्वितीय, १९८५ संस्करण की एक प्रति यही बटिना छ प्राप्त हुआ सही। इस में कम मुस्लिम भगार में इन शब्दों का प्रचार प्रसार अत्यन्त उपदेश्य मिष्ट होगा। फैरी ने ग्रन्थ रचना का शोध हो रहा है जिस की छिन्ना रिची को नहीं व्यापनी।

प्रायोग्य उपमहमदोष म हिन्दू और मुसलमान का सम्पर्क सन् १३०० वर्ष पुराना है, किन्तु हिन्दुओं और इस्लाम में उभयपक्षीय सम्पर्क अभी पटित ही नहीं हुआ। राममोहनराय और दयानन्द के पूर्व हिन्दुओं द्वारा इस्लाम की प्रामाणिक दृष्टि से समझने अथवा पण्डित भण्डन की दृष्टि से भी उग का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा का विशेष प्रमाण नहीं मिलता (गन्ता का सम्बन्ध केवल सुनिता से था), जब कि हिन्दू दार्शनिकों ने बौद्ध और जैन ही नहीं पार्थिव और आर्षीयों जैम और नास्तिर और धर्महता सम्प्रदायों पर भी सविस्तार विचार विमर्श किया है। विपरीत इस में,

१ पुस्तक पुस्तकालयों में भी कठिनता से ही प्राप्त होती है। उसका पूरा विवरण इस प्रकार है—'समुद्रसङ्गम, यलोन्ड बिमल चौधरी, स०, A Critical Study of Dara Shikuh's Samudra sangama का सङ् २, प्राच्यशास्त्री-मन्दिर, Comparative Religion and Philosophy Series, सङ् २ (कतकता प्राच्यशास्त्री-मन्दिर, १९४४)। इस प्रकाश का प्रथम सङ् एक समीक्षा-ग्रन्थ है जिस की लेखिका हैं डॉ० (पोथी) रोमा चौधरी।

२ इस का अर्थ यह बदावि नहीं समझना चाहिए कि प्रस्तुत लेखन दारा के दृष्टिकोण अथवा कार्यक्रम का पूरा समर्थक है। यस्तु यहाँ यह इस बात पर शिवा जा रहा है कि दारा की कृति और कतूब ऐतिहासिक ही नहीं समसामयिक महत्त्व की भी दस्तु है। संस्कृतियों के सम्बन्ध के रचनात्मक प्रयत्नों पर अवश्य विचार होना चाहिए।

मुसलमानों में हिन्दुत्व के अध्ययन और मूल्यांकन के प्रयत्नों के कई उल्लेख उदाहरण उपलब्ध हैं। अल्बेरूनी ने 'किताबुल हिन्द', अबुलफ़थ ने 'आईन अकबरी', और सुल्तान बिन आज़र बंखान अपरनाम ज़ुल्फ़िकार अली मुविद<sup>१</sup> ने 'दक्खिस्तान मजाहिब' में हिन्दू धर्म-रस्ते और संस्कृति का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया था। इन में से प्रथम पुस्तक उर्दू, अफ़ेजी, और हिन्दी में भी उपलब्ध है। द्वितीय पुस्तक, 'आईन अकबरी', के तीन चरणों में से एक में हिन्दुत्व का सामान्य वर्णन है। किसी भी एक पुस्तक में हिन्दुत्व सम्बन्धी मामलों का उल्लेख वैयक्तिक अन्तर्गत है। यह पुस्तक हिन्दी में अवश्य आनी चाहिए। यह अत्यन्त कारगर भी हो जायेंगे में अपाय है। तीसरी पुस्तक की भी यही दशा है। किसी की पुस्तक 'आरिफ़ुल्लाह' की चर्चा आ ही चुकी है।

इस्लाम के अध्ययन की दिशा में मध्ययुगीन हिन्दुओं का योगदान कुछ मिला कर शून्य ही रहता है।<sup>२</sup> हिन्दुओं में इस्लाम के सम्बन्धी अध्ययन आज भी नहीं है? हमारे विवरणियाँ की बात न भूलिए। विदेश में जन्म लेने वाले यहाँ भी वही सारा धर्म ईसाइयत पर है, यहाँ पर विचार का प्रसार उनी से प्राप्त है। अब इन स्थिति का अन्वेषण अतः होना चाहिए।

'कुरआन शरीफ' और 'न्यू टेस्टामेन्ट' की तुलना वस्तुतः सर्वत्र की जाती है। यह सही है कि 'कुरआन शरीफ' में इस प्रकार की शिक्षा नहीं मिलती कि यदि कोई एक गाल पर लम्बा मारे तो दूसरा गाल भी अगले कर दो। किन्तु ध्यातव्य यह है कि कुरआन शरीफ एक नयी संस्कृति का घोषणा पत्र है। उसे कोई माने या न माने, यह मानना ही होगा कि उस का प्रादुर्भाव एक नयी संस्कृति को जन्म देने के लिए हुआ था, अन्तर्गत, आध्यात्मिक, और भौतिक-मानवी बातों से लोगों की रूढ़ि के लिए नहीं। ईसाइयत एक मत माने है, जब कि इस्लाम हिन्दुत्व के अन्तर्गत एक धर्म है—अर्थात् सत्य-संस्कृति। इस दृष्टि से इस्लाम का अन्वेषण हिन्दुओं के लिए अधिक उपादेय होना चाहिए।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शायकिबोह हक़त मुहम्मद (सं०) की अन्तिम नयी (नयी) और 'कुरआन शरीफ' की अन्तिम आस्मानों पुस्तक मानता था। इन

१ 'दक्खिस्तान मजाहिब' के लेखक ने अपना नाम नहीं दिया है, योशी-महल जीयसी ही है। सर ब्रिजियम ओन्स ने उस का नाम मुहम्मद कासी कस्मोरी सप्तश। कासी अबुलफ़थ ने 'कहने' अन्तर्गत-आर-ए-लासिरी' तथा अन्य ईरानी पुस्तकों के आधार पर उस का नाम सुल्तान बिन आज़र बंखान अथवा ज़ुल्फ़िकार अली मुविद त किया है। यह धारणा थी, और धारणा कभी-कभी अपना एक मुस्लिम नाम भी रख लेते थे। दृष्टव्य अतः मानिसमानों, 'नम-ए-सर्वद' (नकोदर सर्वज्ञ तस्नीक, प्रकाशन-तिथि अनिश्चित), पृ० ९।

२ इस्लाम के सम्बन्ध में बोद्ध परम्परा में १६०८ ई० में भी कंती भान्त धारणा फेली हुई थी, इस का निदर्शन हमें तामा तारानाम की तिब्बती भाषा में तिब्बत और तामा जिन्वा तथा अलवा चट्टोपाध्याय द्वारा अनेकों में अनुवित पुस्तक 'हिन्दुओं और बुद्धिमान इन इतिहास', बेबीप्रताप चट्टोपाध्याय, सं० ( शिवला इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ़ ऐडवांस्ड स्टडी, १९७० ), के पृष्ठ ११७ ११९ ( पृ० १२१, १७५, और ३१८ के साथ पृष्ठ ) में प्राप्त होता है।

प्रकार वह इस्लाम धर्म से एवान्तन पराङ्मुख नहीं था। उस की वृत्तिओ का अवलोकन बिने बिना ही उस के समसामयिक, मनुषी आदि कई यूरोपीय यात्रिया ने लिख मारा है कि वह धर्म से सर्वथा निमुख हो गया था। वस्तुतः वह इस्लाम और हिन्दुत्व में समन्वय का पोषक था। तथापि यह बात तो कही ही जा सकती है कि वह नमज हिन्दुत्व की ओर अधिप्राधिक आकृष्ट होता जा रहा था। एक उदाहरण लीजिए। उस के आरम्भ-काल के ग्रन्थ 'सकीनतुज्-ओनिया' और 'मकीनतुज्-ओनिया' महात्माओ की जीवनो से सम्बन्ध रखते हैं। उस में निम्नी भी हिन्दू महात्मा की जीवनी नहीं दी गयी है, जब कि उन में इस्लाम की अनुदार परम्परा के उपायक तरकातीन भारतीय सूफी शैखे बहुमद सरहिन्वी 'मुनहिदे अन्के तामी' तक की गहरी भूताया गया है। किन्तु बाद में वह एक कबोरपन्थी साधु बाबा सालदास बैरामी (बाबासाहब) के प्रभाव में आता है और उस पर बेदास्त का प्रभाव बढने लगता है। इन दोनों महात्माओ के बीच जो प्रफोत्तर हुए हैं वे 'मुकासम ए दारासिकोंहो बाबा साल' के नाम से दारा के मित्रप्रवर, फारसी के महान् कवि, चन्दरभान (चन्द्रभानु) 'बरहमन' द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये थे। वे उर्दू अनुवाद के साथ मूल फारसी में सन् १८९६ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे। यह पुस्तक अब बाजार में अप्राप्य है।

दारासिकोंह ने लगभग आधी दर्जन पुस्तकें और लिखी हैं, जो अधिकतर सूफी साधनाभा और महात्माओ के सम्बन्ध में हैं। उस की फारसी कविताओ का एक संग्रह (दीवान) भी 'अफसीरे जाकम' शीर्षक से उपलब्ध है, जिस में १३१ प्रबल और २८ कब्रियाँ हैं। दारा के वाक्य को भी लोग एक दम भूल गये हैं। यह दीवान अभी तक अप्रकाशित है। 'सकीनतुज्-ओनिया' का लेखन उस की कविता को 'अद्वैत का समुद्र' (दरिमा ए तौहीद), 'अद्वैत का अनुभासो' (सुर्गिदे बहुदानियन), जैसे विशेषणों से विशेषित करता है। दारा का वाक्य नाम 'काबिरी' था, और उस का शवा है कि उस ने १०९० गजलें कही हैं—

हजारो बीस गजल मुफ्त काबिरी दर हस्त  
मगर कि मूद ? कि बस मुन्ना न भी-बाशद

उस के वाक्य-नीति भी एक बातगी लीजिए—

बहिस्त आ जा कि मुन्ना ए न बाशद  
जि मुन्ना शोरो बीबा ए न बाशद

(इश्वर वहाँ है जहाँ मुन्ना नहीं होता, जहाँ मुन्ना का कोलाहल नहीं सुनायी देता।) इस शैली में उस की प्रतिभा विशेष नहीं समझी। तथापि इस के कुछ शेर तो सहे ही मामूली नकते हैं। उदाहरण लीजिए—

सत्तनत सद्-नज़र, खुद रा आम्ना ए फुज कुन,  
नक ता दरिया तवाकद मुद चिरा गोहर सवद

चन्द वाजी तु बर झरीजति खुद बहुमदे मुगिल अज सुदास्तन मवा ?  
दरिस्त जर्-आबूद बद्दु भी शकद जानि जर्-आबूद रा अद्-बान पीरत ?  
हर सभे पेचे कि मुद अज ताबि जुस्सं बार शुद दाम मुद, तस्वीह मुद, ज़ोर मुद, उम्मार मुद  
या दोस्त रतीहीम नू अब खेज गुजबोस अज खेज मुददन कि मुबारक गफरे बूर !

दारा की कुछ समादरणीय निश्चय ही प्रथम नोटि की वही जा सकती हैं। उदाहरण लें—

हर्गिज न कुनद आय हिजाव अन्दर यख  
हव बहि हकीकतस्तो कौनै दल  
हर दम य-रमद ब आरिफों खोनि जदीद  
शेरी न खुरन्द जुब शिगारे सुद रा  
महते हैं बि दारा न श्व मस्नवी की भी रचना की थी, किन्तु उस का बड़ी पता नहीं चलता।

वा औ बि कुनद नमिश हुवाय अन्दर घस  
चँ यख व मियानि आयो आव अन्दर यख  
खुद मुज्जहिद अन्द, न बि अहते तकमीद  
रवाह खुरद फताद-य लह भि कदीद

कहते हैं कि दारा ने गीता और योगवासिष्ठ का भी फारसी में पूर्ण या अधूर्ण अनुवाद किया था। गीता का एक अत्यन्त उत्कृष्ट और उदात्त फारसी-अनुवाद पैजी बं नाम में बहुत पहले साहोर से प्रकाशित हुआ था, और अब बाजार में अप्राप्य है। कुछ लोग, जैसे डॉ० एथे (Dr. Ethe), उसे दाराशिकोह की रचना सिद्ध करते हैं। यह अनुवाद इतना हृद्य और मार्मिक बन पड़ा है कि वह मूल रचना का मजा दे जाता है। उस की कुछ बानगी उपस्थित है—

जि मुझे अदम मा हम आमदीम  
व-आतिर व-नू ए धदम भी रवीम  
बराए खुदा कुज हम बारहा  
पए बन्ते खल्क जग आफरीद  
जि जगहा बिना ए अमम मुह-बमन्नत  
खुबद हिस्त-ए देवता दर तजाम  
पए नफिम खुद हर कि नाँ भी पन्नद  
जनक-राज को नीज अम्सानि शाँ  
ब-बाये जन्मी ग़दमी रफत अन्द  
मन अज हर सि आलम खुदा गश्त अम  
हम नारि मन अज बराए खुदास्त  
बदी नैव पेज म बराबर खुबद  
चँ बुनियादि दी सुरत गर्देद घते  
कि विफजै रियायतगजीनाँ कुनम  
य-जेजीम सने नितमपेश नाँ

दमे फन्द अज जिन्वगानी जरीम  
ब-बाये अजल यव कलम भी रवीम  
म-नू हेच पादासे किदारीहा  
हुकाहाए किदारी बिसियार चीर  
जि आमास बुनियादि हर आलम-स्त  
कि य बरिज एशीस्त खुदेन हुपम  
बह लः नेते मुतसिल भी मजद  
हम बगरज बर्द नारे जहाँ  
अजी खार्वारे जहाँ रफत अन्द  
विही गश्त अज खुद खुदा गश्त अम  
रजाए दिते मन रजाए खुदास्त  
कि हर कार अज हुक्मि दावर खुबद  
मुमाईम खुद रा ब शानले कते  
मराआते उस्ततुनगीनाँ कुनम  
जहाँ रा मुमाईम दारल्जमाँ

भारतीय इस्लाम की उदारवादी परम्परा में दारा का स्थान एक दृष्टि से सर्वोच्च है। यह परम्परा यहूद ग़नवी के बरबरी विद्वान् बल्खेस्त्री से ही आरम्भ हो जाती है। इस में उमम अमीर खुसरो, अन्वर के किञ्चित् पूर्ववर्ती, कश्मीर के बादशाह जैनुल-आबिदीन अन्वर महान्, फकीरी, अबुल्फरन, समर्थ आदि महापुरुषों के नाम बुझते गए हैं। इस के विपरीत भारतीय इस्लाम में जो अनुदारवादी परम्परा रही है उस की एक पलक आप डॉ० सय्यिद अतहर जव्वाम रिजवी की प्रसिद्ध पुस्तक 'Muslim Revivalist Movements in Northern India in the Sixteenth and Seventeenth Centuries' (आफ़्फ विश्वविद्यालय, १९६५) से पा सकते हैं। यदि राष्ट्रसन्नेपण की प्रवृत्ति को गंभीर धृष्ट करना है तो हमें उन उदारवादी परम्परा में पुनरुद्धार की दाव

सोचनी चाहिए। ('पुनर्धार' पुरी चीज नहीं है, स्वस्थ परम्पराओं का पुनर्धार नवीन्य के लिए आवश्यक शर्त है।)

इस्लाम की उदार और अनुदार धाराओं का जमना 'उदार' और 'अनुदार' नामकरण निजी पसन्द-नापसन्द की दृष्टि में नहीं किया गया है। वह नामकरण केवल इस तथ्य का परिचायक है कि अमुक धारा अन्य धर्मों के प्रति उदार रही है अथवा अनुदार, अथवा कि इस में अन्तरंग तथा बहिरंग नये चिन्तन का उद्गम महन किया है अथवा नहीं।

इस्लाम की सफ़ी-परम्परा उक्त उदार धारा का विशेष प्रतिनिधित्व करती है, और उस में भी प्रायः बुजुदी (अद्वैतवादी) धारा हो। जैसा कि गर्बनिहित है, तसम्बुफ (मूवी भत) की मूल धाराएँ दो हैं—बुजुदी (अद्वैतवादी) और शुहूदी (द्वैतवादी)। शाह बलीउल्लाह ने अपने 'फैसल-ए-बहदतुल्लुजुद-ओ-शुहूद' में लिखा है कि इन दो धाराओं में अन्तर केवल उपमा और रूपक का है, तात्त्विक नहीं। किन्तु यह मत एक अतिवाद है जो इतिहास से भी खण्डित हो जाता है। बुजुदी सूफियों का सिद्धान्त है 'बहदतुल्लुजुद'—यह सिद्धान्त कि सत्ता एक है, अद्वैत है, अर्थात् यह कि ब्रह्मा सत्ता से इतर अल्प कोई सत्ता नहीं। यह सिद्धान्त जाकर अद्वैतवाद पैदा लगता है। शुहूदी सूफियों का सिद्धान्त है 'बहदतुल्लुशुहूद'—यह सिद्धान्त कि सत्ता तो एक नहीं है, किन्तु समाधि की अवस्था में वह एक हो सकती है। प्रसिद्ध शुहूदी सफ़ी 'मुनजिदे अल्फे सानी' ने लिखा है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न है, किन्तु समाधि में एक ऐसी भूमिका प्राप्त होती है जहाँ ब्रह्म से भिन्न सत्ताओं का लोप प्रतीत होने लगता है, यद्यपि उन का वस्तुतः लोप नहीं होता। सूर्योदय के अनन्तर आनाम में तारे अदृश्य हो जाते हैं, किन्तु वे विद्यमान होते हैं। ठीक यही दशा जगत् की है। ('नज्जूबाते मुजदिदे अल्फे सानी', मसलूख ४३ जीम, आदि)

इस्लाम में बहदतुल्लुजुद-सिद्धान्त का प्रवेश अब्दु यकीद बिस्तामी (९ वीं शती) द्वारा हुआ, जिन ने 'फातिह्यात' (प्रलाप अथवा समाधि-भाषा के पद्य) पद्य नस अस्सराज की पुस्तक 'फितावुल्ला-लुम्मा' (तसम्बुफ की पहली सुप्रसिद्ध पुस्तक) में गुरनित हैं। उस पुस्तक में लिखा है कि बिस्तामी के मुक का नाम 'अबु अली अस्मिन्दी' (सिन्धी) था, जो उन्हें अद्वैत की शिक्षा देते थे। इस के बदले बिस्तामी ने उन्हें 'कर्ज' (आचार) की शिक्षा प्राप्त होगी थी। बिस्तामी पर भारतीय प्रभाव उन के इन वाक्यों में स्पष्ट झलकता है—

१ तक्नु अन्त (अन्तु अ) जाक (जाक-अ) (तत् स्वमति)।

२ हाजा कुन्ताह छदअतन् (यह सब माया है)।

३ मुह्दानी (महाभेव नमो गम—तन्वालोपनिषद् २५)।

४ अना हुव (हुव-अ) (सोष्टम्)।

इन के अतिरिक्त, बहदतुल्लुजुद-सिद्धान्त (४४७) में आर्य सर्प और कबुल का दृष्टान्त बिस्तामी भी देता है। इस सम्बन्ध में आर सी जेनर (R C Zaehner) की पुस्तक 'Mysticism Sacred and Profane' (द्वितीय संस्करण, आनसफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६९), पृ. १६१ और उस से किन्जित आगे, द्रष्टव्य है।

हुसैन बिन मन्सूर अल्-हन्नान (९ वीं शती), अबु सजीद इब्न अशुज्जैर



(१० ११ वीं शता), मुहोत्तरीन इन्नु बरवी (१२ १३ वीं शता), अबुल्वरीम अल जीली (१४ १५ वीं शता) इसी नाम के अनुयायी हुए। हुल्लाज न हुलूल (अवतरण अथवा अवतार) और इतिहाद (एकीभाव ब्रह्मीभाव) न सिद्धांत उद्घाटित किया। इमाम मज्जानी (११ १२ वां शता) ने कना अन कना (लय का लय, नाश वा नाश) की चर्चा की और ब्रजुदी हस्त होत रह गया, सम्भवतः भग के वारण, और कहा कि ब्रह्मीभाव वास्तविक अद्वैत नहीं, बल्कि एमा है जैसे शराब में भरे शीश का देखकर कोई भ्रम से मानन सगे कि यह शीश में शराब नहीं शीश का रंग है। इस सम्बन्ध में उस का मिश्रवातुञ्ज अवतार' द्रष्टव्य है, जिस का अग्रणी भी अनुवाद भी निवत्सन न कर दिया है। इस्तुत इतिहाद (जीव और यज्ञ का अद्वैत) शिक (ईश्वर में अनौत्तर का समावेश) है ईश्वर की सत्ता में किसी भी प्रकार शरीक होना शिक है जिस का साक्ष्य गजाली में कहाँ ? अतः उस भास्मा की शीमा और ब्रह्म को पुरा से उपमित करना पडा। वह यह भी कहता है कि हुल्लाज आदि मुय (मय) की दशा में इतिहाद की बात कर जाते हैं। अबुल्वरसिम अलजुनैब बन्दारा (१ १० वां शता) भी कहता है कि बिस्तामी मुय की दशा में अद्वैत वक्तव्य था, जो समाधि की मात्र एक प्रारम्भिक अवस्था है। (द्रष्टव्य सराज, पृ ३८१)

ब्रजुषी परम्परा के सूफी ब्रमि अलानुज्हीन रसी ने पूछा और चरवाहा शीपक भाव्यादिक में सब धर्मों के प्रति महानुभूति का भाव प्रकट किया है। भारत में इस परम्परा के सूफी निजामुज्हीन अलिफ ने एक बार एक शेर पडा था जो हसन वहाबी का भी माना जाता है—हर बीम रास्त राहें दान व निष्ठा पाहें अर्थात् हर बीम सत्य घर है हर धर्म हर उपासना-नयल। दाराबिन्दो के गुरु अपने समय के प्रसिद्ध सूफी मुल्ला शाह बदनशानी थे जिन्हें बदनमाण शेर बत्तन के अपराध में बन्धित हो कर कश्मीर छाटना पडा था—

पज हर पज ए मुदा दारम मन बि पर्वी इ मुस्तफा दारम

(अर्थात् मैं ईश्वर से सीधे हाथ मिलाता हूँ मुझ दृष्टत मुहम्मद (स०) की ब्रमा परवाह है ?) सरलासाह बन्शानी के गुरु अर्थात् दारा के गुरुमह मिर्जा और भी ब्रजुदी परम्परा के सूफी थे और वे इतने बड़ और उदार ब्रह्मन्त ने कि गुरु बोबिंद सिंह की जब अमृतसर में स्वर्ण मन्दिर की आधारशिला रखने के लिए एक उच्च कोटि के महात्मा की आवश्यकता हुई तो उन्हें भिया मारन बाग कोई नहीं जथा था। फलतः ब्रह्मी महात्मा के हाथ उक्त बिना नाम सम्पन्न हुआ।

दाराबिन्दो भारतीय तत्त्वबुद्ध के चार सज्जाना (पीठा)—बिस्मिय, कादिरिय मुहानदिय और नकशबन्धिय—में से कादिरि सज्जाने का सूफी था। उस का काव्य नाम भी कादिरि था। इस प्रकार दारा का सम्बन्ध एवं सम्बन्धी चदार परम्परा से था जिसे उन में पराकाष्ठा का पहुँचा दिया। उस ने तमबुद्ध की अनेक ऊँची

१ जैसे मुल्लाशाह अतत दुनियादार सिद्ध हुए। दारा के औरगजेब द्वारा बंध करा दिये जाने पर इन्होंने औरगजेब की नछाई देते हुए दारा की पराक्रम की गताय की मय समाप्त हो जाने से उपमित किया था—हक खाहिर शुद युवारि यातिल था रफत' (सत्य प्रकट हुआ, असत्य क्षयवा मिथ्यात्व की मूल समाप्त हो गयी।)

भूमिओं पार की थी और समाधि की स्थिति तक पहुँचा हुआ होने का दावा करता था। उस के अनुसार उस की कतिपय रचनाएँ उस की वाघ्यात्मिक अनुभूति (कथक) पर ही आधारित हैं।

हम देखते हैं कि जो बूझती उसका कथन की प्रच्छन्न प्ररणा से प्रवृत्त होता है वह दाराशिकोह की प्ररणा से वेदात्त से उत्तममूर्त्तवा मने मिलता है और दो बड़ी संस्कृतिओ—हिंदुत्व और इस्लाम—के परस्पर मने मिलने के लिए भूमि तैयार कर पाता है। अब यदि उस भूमि की ओर हमारी दृष्टि ही न जाय, तो उस के लिए क्या कहा जाय ?

कुर्आनि शरीफ की कई आयता मं सकेत हैं कि कोई जाति ऐसी नहीं है जिस में ईश्वर ने अपन कबी या रसूल नासल या सदेसहर दिव्य बाणी या अपीरपय प्रथ म भेजे हा (सूर बनी इसाईस १५ फातिर २४ हनीद २५)। इन सदेसहरो म से किसी किसी को किसी किसी पर करीबता प्राप्त है (सूर बकर २५३) किंतु वे सभी सभ के लिए बिना किसी भेद भाव के माय हैं (सूर बकर १३६, एफान ८४ भाति)। कुर्आन म यहाँ तक कहा गया है कि जो लोग इन म भेद भाव करते हैं और कहते हैं कि हम कुछ की मानते हैं और कुछ को नहीं वे निराचय ही जाकिर (इस्लाम का शत्रु) हैं (सूर निहा १२० १२१)। ऐसी दशा म कुर्आन ने अनुमार प्रत्येक महारमा और प्रत्येक अपीरपयस्तेन शिष्टपरिमुहीत धर्मप्रथ प्रत्येक के लिए भविष्यवाण माय हो जाता है। बस्तुन कुर्आन की स्पष्ट घोषणा है कि ईश्वर ने प्रत्येक जाति क लिए पृथक् शरीखत (धर्म-भाग धर्माचार धर्मशास्त्र) निर्धारित कर रखी है (सूर हज ६७)। उस म एमे भी सरेन विवधान हैं कि कुर्आन और मुहम्मद (स०) मुख्यत अरब के लिए भेज गये थे (सूर इ-आम १२६, युसुफ २ बमरा ४६ हाम अमजद ४४)। बल्कि उग म यहाँ तक कहा गया है कि उस म बही बाँने कही गयी हैं ओ पिछले सदेसहरो ने नहीं गयी थी (सूर डान अमजद ४३) और कि उस म उहाँ कातो की तस्कीद है (सूर युसुफ ३७)। तो इस प्रकार के बाक्य कि इस्लाम के अतिरिक्त अन्य धर्म अमाय (सूर आस इफान ८२) अवका निवृष्ट (सूर तीब ३३) हैं एकान्त अवका विशेषत अरब के लिए शरिताय मान पा सकते हैं। चित्नी मुस्पष्ट घोषणा है—बडो कि ईमान ताव इन ईश्वर पर [और उस पुस्तक पर] जो अपन ईश्वर की ओर म हम पर उवरी ओ इन्नाहीम पर [उतरी], और इस्माहीन इस्लाम और मानुस और उस की सत्ताव पर [उतरी] और जो सूमा और ओमा की सी गयी और जो [अच] नबिया की सी गयी, कि हम उन म ए किसी म कुछ भेद नहीं करते। (सूर बकर १२६)। इस महत्वपूर्ण आयत म सभी धर्माचारों और धर्मप्रथो म समान यद्धा सधर्म-ममभाव का अभुतयुक्त उपदेश निबड है। इसी प्रकार कुर्आन की कुछ अन्य आयता मे सभी धर्मों के पुष्पात्मा अनुपायिना जो सराहा गया है और आरमासव िया गया है कि उ-हे (परमोन म) कोई मय नहीं सतावगा (सूर बकर ६२ माय ६९)।

यदि कुर्आनि शरीफ म यह पढ़नु उजागर किया गया होता तो इस्लाम का और पानन भारत गरित विश्व का इतिहास कुछ और ही होता।

कुर्आनि शरीफ के अन्तर्चिरोधा के बिछार क निष्पत्ता (विराम निपध कथन) की बरपना की गयी है जिस के अनुसार उस की कई आयताओं द्वारा कई अन्य आयतन मन्सूत (निरस्त निर्निड कथित) हो गयी हैं। मन्सूत आयतन दो मोटि की हैं—

‘मन्मूलाऽस्तिमायन’ (पाठ-वचन) और ‘मन्मूलाऽस्त्युत्तरम’ (चोदना-वचन, विधिविधेय-वचन)। प्रथम बाँटि की मन्मूल आयनो के हैं जिन का पाठ यजित है, और जो पतन कर्त्ता शरीर के मुहम्मद (स०) द्वारा ही निवान दी गयी थी। इन की संख्या ६० बनायी जाती है। इस प्रकार के नसब का आधार कर्त्तन में ही उपलब्ध है। एक आयन है, ‘जब हम एक ओपन को बंदन कर उन की जगह दूसरी आयन का देते हैं...तो [बाहिर तुम ग] बहन है कि गू तो स्वयं गड़ साता है...’ (गूर, नहल १०१)। एक और आयन है, ‘हम जिन आयनों को मन्मूल कर देते हैं या जिन को भुता देते हैं उन ग अच्छी अथवा उन-की ही [आयन] का देते हैं।’ (गूर, बकर १०६) इन आयनों में उक्त फोटि के नसब की मसला स्पष्ट रूप में स्वीकार की गयी है। मौलाना मुहम्मद खली और मौलाना अबुल-कवाम आझाद जैसे आधुनिक भाष्यकार ‘नसब गिदाल’ का विरोध करने हुए बहने हैं कि यहाँ ‘आयन’ का अर्थ कर्त्तन की आयन नहीं बल्कि पुत्रों की शरीर है, किन्तु यह एक संशय का पट्टकल्पित अर्थ है जिन का कोई आधार नहीं। उल्लेखनीय है कि कर्त्तन में ही मुहम्मद (स०) द्वारा उक्त की आयनों के विस्मरण की संभावना की ओर संकेत किया गया है। तत्सम्यग्गी को आयनो जिनको स्पष्ट है—‘[हे मुहम्मद !] हम तुमसे ऐसा वर देते कि तुम भूलेगा नहीं, उक्त के अतिरिक्त जिसे अज्ञात [भुताना] पाटे...’ (गूर आना ६०७)। दूसरी बाँटि की मन्मूल आयनो के हैं जिन के पाठ का विधान है और जो पतन कर्त्ताने शरीर में आदि बाद ग मगूरीन करी आ रही है, किन्तु जिन का पतन-आवरण वर्जित है। ऐसे आयनो काह की उन्माद के अनुसार १ है, कुछ के अनुसार ५००, और कुछ के अनुसार इन के बीच। यदि वैविक्य ही इस मतभेद का कारण है। यदि दास का उदारवाद विराम हुआ होना का सम्बन्ध इसका में भी पुनः-चर्च के अनुरोध से हिन्दुओं के पतितवर्ग-गिदाल जैत सिमी गिदाल की उन्मादना ही कर रहनी। अतः, यहाँ अधिग विस्तार में जान का अवकाश नहीं।

इन आयनों का उदाहरण दो सभी देने रहे हैं, किन्तु बादा के ही इन्ह गम्भीरतापूर्वक लिया था। यह इन का आधार पर वेदा-उपनिषदों की ईश्वरीय ज्ञान मान कर उन के प्रचार-प्रसार में जुट गया था। यन्त्रि उक्त के अपने निष्पन्न और गम्भीर स्वाभाव, चिन्तन मनन, और निदिध्यासन के बत पर इन्ह एक प्रकार से सर्वश्रेष्ठ धर्मग्रन्थ घोषित किया था।

दाराशिकोह की उदारता का एक निदर्शन सीत्रिपः। शाहजहाँ ने इलाहाबाद में कुम्भ के अवसर पर तीर्थयात्रियों पर एक नया कर लगा दिया। इस पर हिन्दू रामानन्द ने बहुत कोनाहल मचा और काशी के पंडितों ने तत्कालीन मध्यागिष्ठ मन्त्री श्री स्वामी कवीद्राचामी के नेतृत्व में उठन कर के विरुद्ध प्रत्यावेदन किया। दारा ने इस कार्य में उन की भरपूर सहायता की और अन्ततः शाहजहाँ से आग्रह कर के कर समाप्त ही करा दिया।

ऐसे मुखरान की औरगनेब द्वारा निर्धम हत्या पर यहाँ के पण्डितों ने रोने-बन, उत्तरप्रदेश के वर्तमान मुख्य मंत्री ५० कमलापति त्रिपाठी के पूर्वज, ५० रामानन्द ने, जिन्होंने दारा के लिए सखुन ब्रह्मा की सिद्धि करने कास एक ग्रन्थ ‘विराट विवरणम्’ की रचना की थी, ये दो बीमू बहाय है—

‘दाराशाह विपत्तु हो ! कथमहा !’ प्राणा न गच्छन्त्यसौ ?’

दारा का ‘गिरें अवसर’ कितनी बखत तब बहुत पहल भारत में प्रचलित हुआ

था। उस का एक भाग सर्वप्रथम वज्रमोहन लाल द्वारा मेडरिन हॉल प्रेस, वाराणसी, में १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। दूसरी बार पूरा ग्रन्थ तीन खण्डों में जयपुर से प्रकाशित हुआ। वाराणसी संस्करण का अब बड़ी पता नहीं, जयपुर संस्करण की एक प्रति दिल्ली के किसी पुस्तकालय में उपलब्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सम्यद मुहम्मद रजा जलाली नाईनी और डॉ० ताराचन्द के सम्पादकत्व में नयी संज्ञा के साथ सावान प्रिंटिंग प्रेस, तेहरान, ईरान, में १९६१ ई०<sup>१</sup> में प्रकाशित हुआ है, जिस का मूल्य ८०० रियाल (१०० रुपये के आसपास) है। उस के बाद सलतऊ अकादमी ने संसार में थायद प्रथम बार दाराशिकोह दिव्य मनाया था, जिस में प्रस्तुत लेख ने काफी सरोवर के सम्पादक श्री नन्दकुमार अवस्थी की उपस्थिति में दारा के समसामयिक महारव पर एक बातों की धी और 'तिर्रे अकबर' के हिन्दीकरण की आवश्यकता पर बल दिया था। अवस्थी जी ने सूचित किया कि वे इस कार्य में सास-बेइस्तान से सगे हुए हैं और कि उक्त ग्रन्थ के अनुवाद का कार्य वे एक विद्वान् में सौंप रहे हैं। अन्ततः वह पार्श्व प्रस्तुत लेख को समालना पड़ा, और उस की पहली किस्त भाग के सामने है।

'तिर्रे अकबर' की रचना में कितना हाथ दाराशिकोह का है और कितना पण्डित-मण्डली का, यह कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि दारा ने वाराणसी में रहकर पण्डितों और सन्यासियों को जमा कर के इस ग्रन्थ की रचना की थी, जैसा कि वह अपनी भूमिका में स्पष्ट कहता है। दिल्ली में दारा १८ जून १६२७ ई० को यह रचना छह भाग में पूरी हुई थी। उस के दो वर्ष बाद उस को हत्या कर दी गयी। परन्तु यह कार्य उस युग में किसी एक अहिन्दु के बगल में नहीं था, चाहे वह कितना भी विद्वान् क्या न रहा हो। सम्भवतः दारा बहुत उतनी ही जानता था जितनी पण्डितों का गारसार्थ समझने और सरावण्धी निर्णय देने के लिए आवश्यक थी। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आया है। अदवार साहबेरी की गेल्फ स० XI. D. 4 पर, जिस का उत्प्रेष बंटेनॉय खण्ड II, १९२८ ई०, पृष्ठ २ (b), के 'Padyakavyas' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है, एक हस्तलिखित संस्कृत प्रमाण-पत्र है जो दाराशिकोह की ओर से गोस्वामी नृसिंह सरस्वती को सम्बोधित है। इस की चौबीसवीं कण्डिका में 'दाराशिकोह का नाम आया है। इस पत्र को भी मुहम्मद राज ने 'अदवार साहबेरी मुतेदिन' (बहाविषा) के खण्ड ४, भाग ३ (१ अक्टूबर १९४०), पृष्ठ ८९-९४ पर A Sanskrit Letter of Mohamed Dara Shukoh शीर्षक से अपनी एक टिप्पणी (पृ ८७-८८) के साथ प्रकाशित किया है। सन् १९४३ के खण्ड VII, भाग २ (८ मई, १९४३), पृ. १०७-११४ तथा भाग ३ (१ अक्टूबर, १९४३), पृ. १९२-२०३ पर इस पत्र का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। खण्ड VI, भाग ३ (१ अक्टूबर १९४२), पृ. १७२-१७७, पर पी० के० गोडे ने 'The Identification of Goswami Nrsimhasrama of Dara Shukoh's Sanskrit Letter with Brahmdendra Sarasvati of the Kavindra Chandrodaya (between A. D. 1628 and 1658)' के अन्तर्गत पत्र के सम्बोधन का विषय करने की चेष्टा की है। आनोच्य पत्र अनुवादसहित प्रस्तुत ग्रन्थ में पृ. १-१८ पर प्रकाशित है।

१ भागचर्चें हैं कि अंग्रेजी मुद्र-वृष्ट पर 'First Edition 1957' अंकित है किन्तु कारसे मुद्र-वृष्ट पर '१९६१' मुद्रित है। अतः साक्ष्य से प्रकाशन-दिन १९६१ तिष्ठ होती है।

इस तरह की भाषा इतनी ज्वलित है कि उस का लेखक प्रथम कोटि का सस्कृतज्ञ और सिद्ध कवि प्रतीत होता है। इस लेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मुसलमान शैली अर्थात् बुर्जान तथा फारसी शब्दों की उस प्राचीन शैली में लिखा गया है जिस में मुरदक (अन्तर्धानुप्रासयुक्त) और मुवफफा (उपान्त्यानुप्रासयुक्त) पदों अथवा पदावलियों की भरमार होती है। 'बुर्जानि अरीफ' आद्योपान्त इसी शैली में लिखे हैं। यह शैली सस्कृत शब्दकारों को प्रायः अज्ञात है। दारा की व्याख्या उपनिषदों की भावना के सर्वथा अनुरूप जान पड़ती है। किसी मुसलमान का उपनिषद् में रहस्य पार इतना अधिकार चर्चित कर देने वाला वस्तु है। यह विशेषता सस्कृत और उपनिषद् परम्परा के प्रामाणिक और सम्भार परिचय में बिना आ नहीं सकती। मगर तो यह है कि दारा उपनिषद्-वाक्यों और सिद्धान्तों का उद्धाटन हस्तामलकबद्ध कर देता है, और अनुवाद अथवा व्याख्या की भाषा कहीं भी दुर्बोध नहीं होने पाती। वस्तुतः व्याख्यान शैली की सहजता में दारा आधुनिक टीकाकारों के लिए भी अनुकरणीय है। वैसे, दारा मूल उपनिषदों को कितना समझता था, इस विषय में सन्देह होने लगता है जब वह अपनी भूमिका में यह दावा करता है, कि उस ने उपनिषदों का केवल अनुवाद किया है और वह भी शब्दशः, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि उस ने शब्दशः अनुवाद मात्र न कर के बहिन तथा अपेक्षया अधिक महत्वपूर्ण स्थलों की व्याख्या कर डाली है। इस सम्बन्ध में, नमून के तौर पर प्रश्नोपनिषद् ११५ की व्याख्या प्रष्टव्य है। यही कारण है कि हम ने 'छिरे अक्बर' को उपनिषदों की व्याख्या माना है। दारा ने अनुवाद में पण्डितों से पूरी सहजता ली है, किन्तु उस ने एकसूत्रता एकतावयता माने और विचारी ने उपनृहण का कार्य उस ने स्वयं निभाया है। यही कारण है कि उस की व्याख्या पूरी तौर पर न तो शंकराचार्य की व्याख्या का अनुगमन अनुबद्धन करती है और न किसी परवर्ती आचार्य की व्याख्या का। वह बहुत से महत्वपूर्ण स्थलों पर स्वतन्त्र व्याख्यान करता प्रतीत होता है। ईशावास्योपनिषद् (१२-१४) में आये असंभूति और संप्रति तत्त्व पर विचार कीजिए। शंकराचार्य 'असंभूति' का अर्थ प्रकृति करते हैं और 'संप्रति' का कार्यब्रह्म, जब कि दारा का किया अर्थ है निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म। प्रश्नोपनिषद् (५७) पर भी यही अनुवादकीय टिप्पणी पर दृष्टिपात कीजिए, जहाँ शंकराचार्य की एक भूल की ओर संकेत दिया गया है और दिखाया गया है कि दारा उस से कैसे बच गया है।

दारा की भाषा आकरण और वाक्य रचना की दृष्टि से यत्न-तत्न सदोप होती हुए भी सहज, सरल, और सुस्पष्ट है। उपनिषदों की फारसी करते समय उस ने ससन्ध की सांख्यिक शब्दावली से, जिस के व्यवहार में वह इतना निपुण और निष्णात था, अपने को कैसे बचा ले गया, इसे देखकर चरित हो जाना पड़ता है। शब्दों की सर्वसाधारण सवैया बनाने के लिए उस ने अत्यन्त सरल पदों से काम चलाने की चेष्टा की है। वह सस्कृत शब्दों के प्रायः उत्तम रूपों का भी प्रचुर प्रयोग करता है। जीव जीवात्मा, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, प्राण, अपान, उदान, ज्ञान, समान, पूर्य, अविया, हिरण्यगर्भ, ज्ञानी, मुक्ति आकाश अन्तर्यामी, सुप्रति जैसे वीरों तत्त्वों का वह घटले से प्रयोग करता है। यदि यह परम्परा आगे बढ़ती तो फारसी के शब्द भाण्डार में अवलम्बीय वृद्धि होती फारसी और सस्कृत के साजसज्जा का नया युग आरम्भ होता, और वहाँ राष्ट्रीय एकता तथा एकराष्ट्रवाद की विनाश प्रक्रिया को नयी दिशा मिलती।

अनुपपन्न ने 'आईने अवतरी' में हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य के सात कारण गिनाए हैं—  
 १. पापा-सम्बन्धी पार्यवय २ परस्पर मल-जोन का अभाव ३ स्वार्थपरता  
 ४ आत्म-प्रमाद ५ अन्धपरम्परा-न्याय ६ धार्मिक अग्रहिणुता ७. उदारवादी  
 नेतृत्व का अभाव । दागजिकोह का व्यक्तित्व और कृतित्व इन सातों कारणों के  
 विरुद्ध खुली मुठ घोषणा है ।

दारा जिज्ञामु प्रकृति का व्यक्तित्व था । उसे सभी इल्हामी-आत्मानों अपना  
 ईश्वरोक्त एन्गो का अवगाहन करने के बाद भी जप तृप्ति और शान्ति की उपलब्धि  
 नहीं हुई तो वह उपनिषदों की ओर मुड़ा और हुनहृत्प हो गया । वह इस निष्कर्ष  
 पर भी पहुँचा था कि 'कुअनि शरीफ' में जिग किताबिन्-नक़्सीन्' (मूर ए  
 बाकिअनि ७८) अर्थात् 'गुप्त पुस्तक' की ओर सचेत है वह उपनिषद् ही है । वह  
 कहता है कि यह भावत क तो बाइबिल की किसी पुस्तक के बारे में है और न उस  
 'लौहो मठ कुव' (मूर-ए अल्बुसुअ २१-२२) अर्थात् 'सुरक्षित पद' के विषय में है जिस  
 की प्रतिनिधि 'कुअनि शरीफ' बनवाया गया है । उपनिषद् के अध्ययन से दारा  
 'के लिए "अज्ञात" ज्ञात हो गया और 'अ नमन्ता हुआ' गमता हुआ हो गया ।'  
 (सिरे अवतरी की धूमिना, पृ० २०) ।

'सिरे अवतरी' में उपनिषद् के मूल वाक्य अथवा मंत्र नहीं दिये गये हैं, उन की  
 वैधान्य कारकीर्दी टीका दी हुई है । प्रस्तुत मन्त्र में यह सभी पूरी कर दी है । ऐसा  
 करने समय उस ने मन्त्री को एक प्रकार से अपनी भाँति सम्पादित कर के उन्हें एक नम  
 हय से प्रकाशित किया है । ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि  
 व्यञ्जन-मन्त्रिणी की तोड़कर लिखा जाय ताकि 'वाचक-पाठक' पर अनिवार्य रूप से  
 सन्धे सहित पदों का बोझ न पड़े और विरामचिह्नों के प्रयोग में भी सुविधा हो ।  
 उपनिषदों में विरामचिह्नों का इतना व्यापक प्रयोग शायद पहली बार हुआ है ।  
 और भी, परम्परा प्रयुक्त अनेक आवश्यक पूर्ण विराम हटा दिये गये हैं । इस विविध  
 व्यवस्था के कारण मूल उपनिषद्-वाक्यों की समझना सुगम बन हो गया है ।  
 उपनिषदों में जो मन्त्र एक से अधिक स्थान पर आये हैं टिप्पणियाँ द्वारा उन की पुनर्गति  
 का प्राय उल्लेख भी कर दिया गया है । प्रस्तुत पाठ्य की ओर से अन्य उपयोगी  
 टिप्पणियों की भी व्यवस्था हुई है जिस से 'सिरे अवतरी' की उपयोगिता बढ़ गयी है ।

प्रस्तुत लेखक ने मूल उपनिषद् वाक्यों के अपने अनुवाद भी दे दिये हैं ताकि  
 'सिरे अवतरी' के समीक्षात्मक अध्ययन में सुविधा हो और उपनिषद् मिथ्याता का स्वतंत्र  
 रूप से प्रामाणिक परिचय भी प्राप्त हो जाय । अनुवाद में जिस भूतार्थपरक अनुसन्धान-  
 शैली का अवलम्बन किया गया है वह निश्चय ही दागजिकोह के युग में सुलभ नहीं थी ।  
 अस्तु, मन्त्री का प्रस्तुत लेखक द्वारा किया गया अनुवाद भी अक्षरानुसारी मात्र न हो  
 कर उपनिषद् के मूल अर्थ की पकड़ का आकृष्टी है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'सिरे अवतरी' का जो अनुवाद हुआ है उस का उपजीव्य तद्वत  
 संस्करण ही है । इस संस्करण का पाठ इनमन्य निगान्छ है और सम्पादकीय  
 प्रमाद के प्रमाण पदे पदे प्राप्य हैं । प्रस्तुत लेखक का मूल का परिष्कारित रूप के  
 अनुवाद करने में बहुत धन्य करना पडा है ।

अस्तु इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में चार प्रकार की सावरी है—

१. उपनिषद् के अवगमनादिन मूल वाक्य अथवा मन्त्र

२. उन वाक्यों अथवा मन्त्रों का प्रमाणित अनुवाद

३. 'सिरे अक्षर' का अनुवाद

४. उनमें तीनों प्रकार की सामग्री में सम्बद्ध उपयोगी टिप्पणियाँ

इन में संख्याक १, २, और ४ का वर्तुल प्रस्तुत लेखन का है और क्रमांक ३ का, दारानिकोह का।

पचासो उपनिषदें जिन सामग्रियों के साथ कई पट्टों में पूरी होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ उन का प्रथम सङ्ग है। इस में अद्योत्तिष्ठित ९ उपनिषदें सप्तसंख्यो उपरिनिर्दिष्ट सामग्रियों के साथ समाविष्ट हैं—

१ ईशावास्योपनिषद् २ केनोपनिषद् ३ कठोपनिषद् ४ प्रश्नोपनिषद्  
५ मुण्डकोपनिषद् ६ माण्डूक्योपनिषद् ७ तैत्तिरीयोपनिषद् ८ ऐतरेयोपनिषद्  
९ श्वेताश्वतरोपनिषद्।

ये, अन्तिम की छोटकर, सभी उपनिषदें मुञ्जिकोपनिषद् (१. ३०-३९) में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार क्रमबद्ध की गयी हैं। प्रचलित नाम भी यही हैं। जैसे दारा ने क्रम एकदम बदल दिया था। श्वेताश्वतरोपनिषद् का स्थान घीदहुवा है, अतः साधारणतया यह छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ब्रह्म, ईश्वर, और जाबाल के भी अन्तर आनी चाहिये, किन्तु चूँकि बृहदारण्यक के आगे केवल इस एक उपनिषद् पर 'वाकराचार्य' का भाष्य उपलब्ध होता है, अतः इस के शकर द्वारा व्याख्यात उपनिषद् का ही साथ रहने में स्वारस्य है, और इस लघुकाय उपनिषद् का बृहदारण्यक जैसी विपुलकाय उपनिषद् के साथ प्रकाशित होना अटपटा भी लगता है, अतः इसे प्रथम खण्ड में ही स्थान देना आवश्यक समझा गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भावधानी के बावजूद बहुत-सी भूलें दीख रही हैं। इन्हें आगे के संस्करण में दूर करने की चेष्टा की जायेगी। जैसे, पुस्तक के अंत में एक कामचलाऊ शुद्धिपत्र दे दिया गया है। दारा द्वारा प्रयुक्त 'तोहोद' का अनुवाद 'एवेअरवाद' अथवा 'अद्वैतवाद' किया गया है। अब लगता है कि 'ब्रह्मविद्या' अधिक उपयुक्त होता। ईशोपनिषद् और केनोपनिषद् में 'सिरे अक्षर' के प्रतीक के रूप में 'सि० अ०' के स्थान पर 'व्याख्या' अथवा 'व्या०' छपा गया है। पाठक इत्यादि सुधार लें।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भाषा में सम्बन्ध में एक स्वतंत्रता ली गयी है, वह यह कि 'आत्मा', 'अग्नि', और 'वायु' जैसे शब्दों का प्रयोग प्रायः पुल्लिङ्ग के रूप में किया गया है। ये शब्द संस्कृत में पुल्लिङ्ग हैं और हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग। दयानन्द जैसे वक्त्रियों से लेकर वे हिन्दी में भी इस का प्रयोग पुल्लिङ्ग के रूप में किया है। बहुत-से वैदिक-ओपनिषद् विषया पर लिखते समय इन्हें पुल्लिङ्ग मान कर चर्चने में स्वारस्य अधिक प्रतीत होता है। ये देवता परक शब्द हैं, किन्तु स्त्रीलिङ्ग के रूप में रखना किञ्चित् अटपटा लगता है, यद्यपि 'देवता' अर्द्ध रूप से स्त्रीलिङ्ग है। सामान्य अर्थों में प्रयोग की बात और है। वर्तनी के सम्बन्ध में भी हमने एक स्वतंत्रता ली है। हमने 'ऋषिओं' लिखा है, 'ऋषिया' नहीं। जब हम 'ऋतुओं' लिखते हैं 'ऋतुवो' नहीं, तो 'ऋषिया' क्यों लिखें? हाँ दीर्घ ईकारान्त पदों की बात और है। अतएव हम ने प्रचलित पद्धति की समीचीन मानते हुए 'नदियों' लिखा है, 'नदियों' नहीं।

## शाहजादः दाराशिकोह



[ विन्डोर्पिया मेमोरियल लाइब्रेरी के मालिक से ]



## शाहजादः दाराशिकोह



[ मिन्टोविया मेमोरियल, कलकत्ता के मोज़न्य से ]

## ‘दाराशिकोह’ का एक संस्कृत पत्र

(विवरणार्थ उपोद्घात पृष्ठ 23 24 द्रष्टव्य)

स्वस्ति श्रीमदनाहार्यदुर्निवार्यशौयोदार्य-कार्यविचार्यशिरोधार्य-  
जगदप्रतार्यदेवात्यवहास्यविद्वदविदार्यसुधासोदर्यवच सौकुमार्यधैर्य -  
गाम्भीर्य - धुर्यवर्य - सौंदर्य - प्राप्तशाक्यगतजातिसकय्यतुर्यचातुर्य-  
प्राचुर्य - सौकर्यप्रभृतिगुणगणनिधानेषु ॥ १ ॥

स्वस्ति श्रीमन्निप्रपञ्चचिरतरचित्तसिंचितित-समुद्वद्रोचि -  
सचयचाकचिवयचमत्कारचर्चनचचित - चद्रविरोचनचित्तभानु-  
रचिनचयाच्युतचन्द्रचूडचरणचितामणिषु रचिरतरवचनरचन-  
समुच्चरणचातुरीसचारसमचनवचितवाचस्पतिचतुराननपचान -  
नेषु ॥ २ ॥

## ‘दाराशिकोह’ के संस्कृत पत्र का अनुवाद\*

स्वस्ति अनाहार्य और दुर्निवार्य शौर्य, औदार्य, कार्य-काल में विचार्य,  
शिरोधार्य, जगत् अप्रतार्य (प्रतारणा के अयोग्य), देवताओं द्वारा अभ्यवहार्य  
(सत्कार्य), विद्वानों के लिए [भी] अविदार्य (अभेद्य), अमृत की वधुभूत मायी के  
सौकुमार्य, धैर्य, गाम्भीर्य, शौर्य वीर्य, सौन्दर्य, शाक्य (मागध, मल्ल, मगध, मल्ल)  
को प्राप्त, जातिसाक्य से शून्य, चातुर्य प्राचुर्य, सौकर्य प्रभृति गुणगण के निधान  
श्रीमन् ! ॥ १ ॥

स्वस्ति श्रीमन् ! ओ चन्द्रचूड (शिव) के चरणों में चितामणि [स्वरूप] हैं, जिस  
निवचरण चितामणि का निष्पञ्चन [भक्त] चिर बाल तक चित्त में चित्तग करते  
हैं, जो सहोत्पित रश्मि समूह की रीतव (चाकचिवय) ने चमत्कार के चर्चन से चचित  
है, जो अमृत चन्द्र, अग्नि, और सूर्य की ज्योति के पुञ्ज से युक्त है, जो मृदुस्वति,  
ब्रह्मा, और शिव को रचिरतर वचनो की रचना और उच्चारण की चातुरी के  
सचार-माधुर्य द्वारा पछड़ देते हैं ॥ २ ॥

\* पत्र की अविकल रूप में प्रकाशित किया गया है, जैसा प्राप्त होता है ठीक  
जैसा हो, सुस्पष्ट लिपिकीय अद्युद्धिओं को जो अक्षुण्ण रहते हुए। हाँ, मुद्रणार्थ  
(हाइकेन) तथा विराम अनुवादक ने पाठ को सुबोध और सरल बनाने में निमित्त  
अपनी ओर से लगाये हैं। पत्र की भाषा पाणिन्यपूर्ण और सजित होते हुए भी  
बहुधा भ्रष्ट है, जिस के कारण अनुवादक को बड़े-बड़े ठीकर सपत्ती हैं और संमत्तना  
कठिन हो जाता है। पत्र के अग्रणी अनुवादक सी कुहन राज ने भ्रष्ट स्थलों पर अनेक  
टिप्पणियाँ दे कर इस कठिनाई को हल करने की चेष्टा की है, जिन से प्रस्तुत  
लेखक ने प्रभूत साध उठाया है। एतदर्थ वह श्री राज तथा बह्मविद्या के सम्पादक  
के प्रति अपना आभार प्रकट करता है।

स्वस्ति श्रीमत्सर्वगुणग्रामधाम - चडाशुचडधाम - परमभिराम-  
ध्यातनवाबुदपयादाशरथिराम - दानानुकुत्परंशुराम - महीयाम-  
घावध्येत्यानुकृतराम - कृतसमधीतसाम - भूदेवदारिद्र्यविराम-  
वाग्देवताराम - वपुष्कातिविवशीकृतवरवाम - सौजन्यतिरस्कृतवाम-  
विगतभाम - थितशुभाशीसुधाचाम - प्रपूरितार्थिसार्थसकलकाम-  
सौंदर्यविनिजितकाम - बिस्फुरस्कीर्तिदाम - महोद्दामनामप्रारब्ध-  
द्विजतरप्रणाम - पुष्पपरिणाम - विद्वत्सलाम - श्रीतविश्राम-  
विध्वस्तजगदुखपाम - सत्पामरोपकारकाम - विवक्षामक्षितीश-  
निष्काम - रक्षकरासमाचरितपार्थव्यायाम - विद्याविनोदाति-  
वाहिताबिलयाम - विहितभूतलस्वप्नाम - विजितरिपुसग्रामेणु ॥ ३ ॥

स्वस्ति श्रीमद्वैद्यनाथपद्यारज प्रपद्यमानागम्यपुष्पसमासाद्य-  
सत्तमाद्य - प्रसाद्य - समाद्य - निगाद्य - कविकदम्बदारकाधि-  
पाभिवाद्य - निरतरास्वाद्य - सुधासवाद्य - सविस्सवेद्यानवद्य - हृद्य-  
गद्यपद्यविधानवैशद्यशालि - सर्वविद्याप्रद्योतनोद्योतसद्य.द्यद्योती-  
कृतानिद्यवद्यवादीद्रव्य देपु ॥ ४ ॥

स्वस्ति सर्वगुणग्राम के धाम, सूर्य के समान प्रबण्ड, परम भिराम, नवाम्बुवरयाम  
दाशरथि राम का ध्यान करने वाले, दान के परशुराम का अनुकरण करने  
वाले, महिमानुक्त, धवलिमा के वलराम का अनुकरण करने वाले, साम के सम्यक्  
अध्ययन के कर्ता, बाह्यणों के दारिद्र्य का विराम करने वाले, वाग्देवता के लिए  
वाटिकास्वरूप, गरीर की वांछि द्वारा उत्तम वात्साओं को विवश कर देने वाले, सौजन्य  
द्वारा शत्रुओं को दमन देने वाले, त्रीध रहित, शुभाशीर्वाद की मुद्रा का पान करने वाले,  
पाषाण के समूह की सज्जत कामनाओं को पूरा करने वाले, सौंदर्य के कामदेव की पछाड  
देने वाले, उगम्बल कीर्ति वाले, द्विजस्य द्वारा महान् और उद्दाम नाम से प्रारम्भ किये  
जाने वाले प्रणाम के पात्र, पुष्प परिणाम वाले, विद्वानों के भूषण-स्वरूप, विद्याम का  
आश्रय करने वाले, जगद्व के दुख के अविषाण के विजय ॥ युवत, माधाराण सज्जनो  
के [भी] उपकार की कामना करने वाले, [अन्य नृपा] से वातालाप के उन से कुछ  
भी न चाहने वाले, अर्जुन के समान व्यायाम करने वाले, शारा सपय विद्या विनोद के  
अपतीत करने वाले स्वर्ग के ग्राम की भूतल पर प्रतिष्ठित करने वाले, सपाम म रिपुओं  
को विजित करने वाले श्रीमन् ॥ ३ ॥

स्वस्ति भगवान् शिव के चरणों की रज से प्राप्य, अवश्य पुण्य ॥ उपलभ्य,  
श्रेष्ठतम पुरपा द्वारा प्रसन्न किये जाने योग्य, विभोर होनेर आत्माय, कपनीय,  
कविगण लोके देवताओं के अधिपति द्वारा अभिवादनीय, निरन्तर आत्माय, गुणा की  
समता करने वाल, सविन्दु द्वारा ज्ञेय, अनवरत और हृद्य कल्याण रचना में निपुण  
के युक्त सभी विद्याओं की प्रभा द्वारा निदा के अयाम और प्रशमनीय वादिगण  
का पद्योत्तम बना देने योग्य ॥ ४ ॥

स्वस्ति श्रीमत्प्रचडोदडदोहूँडमडलीसत्तिसरदकाडप्रकाड-  
खाडवदाहसमयपाडवगाडीवविपयककृत्यस्मारकखडखडीकृतभूमडला-  
खडलसमारातिमुड - पुडरीकखडविमडित - ताडवरसिका-  
खडब्रहाडभाडमडपाधिप - प्रचडमुडादिवघकृच् - चडोहिडीपिड-  
धवलचडोश्वरेपु ॥ ५ ॥

स्वस्ति श्रीमदामूलकवलितकीलालप्रलयकालानलज्वालजाज्व-  
ल्यमानकरालकुटिलकालुष्यकाकोलकुलेपु ॥ ६ ॥

समुल्लसदुद्वेल्लनिर्मलसालिव्योल्लाल्यमानसमुल्लोललावण्य -  
सिंधुसकलकलाकलापलवायमानानुल्लस्यलीलालवननिलयेपु ॥ ७ ॥

स्वस्ति श्रीमद्विहितत्रिभुवनविहार - निरुदाहारविस्फार-  
परिहिततुपारकर - मरीचिकानुहार - कीर्तिजगत्सारहार - दिगन्त-  
रसमागच्छन्नानोपहार - समासादितभगवत्कथामृताहार - समा-  
चरितदुश्चरितसमाहारसहार - कृतदुर्जनप्रहार - प्रतीहारविज्ञा-  
पितानेकराजागमनव्यवहारप्रस्तुतशुभाशी सुधाभ्यवहारसदगहार-  
प्राप्तमुद - विस्फुरद्यक्षप्रहार - प्रणष्टदुराचारसचार - सततानु-

स्वस्ति प्रचण्ड और समुत्थित भूजमण्डल के समान फंसी अकाण्ड शाखाओं वाले प्रकाण्ड खाण्डन ( वन ) के बाह के समस्त पाण्डन ( अनुन ) के पाण्डोव से सम्बद्ध कृत्य के स्मारक स्वरूप भूमण्डन के स्वामी के शत्रु का शिर खण्ड-खण्ड कर देने वाले, पुण्डरीक खण्ड से सुशोभित ताण्डव के शक्ति अखण्ड सहाण्ड भाण्ड के मण्डप के अधिपति प्रचण्ड मुण्ड आदि का वध करने वाले चण्डीहिण्डी पिण्ड के हनन घवल चण्डीश्वर ( शिव ) की समता करने वाले श्रीमान । ॥ ५ ॥

स्वस्ति जनराशि को आमूल कवलित कर देने वाली प्रलयकाल की अग्नि पवासा के समान कराल और क्रुदित कालुष्यकाकोलकुल ( कालकुल ) को उद्भासित करने वाले श्रीमान । ॥ ६ ॥

उल्लासयुक्त उल्लसते हुए निमत कोमलता द्वारा लास्यमान, समुग्गमल लावण्य के सिंधु-स्वरूप सकल कला कलाप द्वारा व्यवहृत अवल्लस्य लीला के आलम्बन के निलय ॥ ७ ॥

स्वस्ति त्रिभुवन को विहार ( मड ) बना देने वाले उदाहरण रहित समृद्धि वाल तुपारकर ( चन्द्रमा ) की मरीचिका के अनुरण को घर लेने वाले ( असम्भव नर देने वाले ) जगत की मणिमाला स्वरूप कीर्ति वाले दिग दिगन्तर से नाना उपहार प्राप्त करने वाले भगवत्कथामृत का जाहार सम्पन्न करने वाले दुश्चरिता के समाहार का महार करने वाले दुर्जनों पर प्रहार करने वाले प्रतीहार द्वारा विज्ञापित अनेक राजाओं के भागमन समाचार पर प्रस्तुत शुभाशीर्वाद-मुखा के घोषना अंगों की शुभ गति वाल प्रसन्न रहने वाले उज्ज्वल सच के प्रचार स युक्त दराचार के प्रचार को

चरितसज्जनानुचार - सदाचार - निर्विचार - ब्रह्मविचारतत्पर-  
सपूर्णभूमडलविख्यातसमाचार - निरस्तसमस्तव्यभिचार - प्रहता-  
भिचार - गुणविस्तारजनितजननिस्तार - धर्मावतारसमारब्धभवा-  
भोधिपारोत्तार-समुल्लसद्वच । पीयूषधार-साधार-साहित्या-  
र्णवकर्णधार - जगदाधार - तीक्ष्णधारकरवालच्छिन्नसपरिवार-  
रिपुशिरोनिरर्गलविनिर्गलशोणितसार-विलसन्मतिप्रसार - विज्ञात-  
सार - परानन्दकासारव्यावसान्मनोविसार - महीमडलालकार-  
धनुष्टकारप्रपलायितसाहकारवरवैरिविमतलकारभूकारवधूवार -  
त्यक्तापकार - विविधप्रकारसदुपकारकारक - जगदगवकार - स्मृतो-  
कार - निर्विकारनिराकारसाकारनारायणपरायण - गुणप्राकार-  
सलब्धमहाधिकार - प्रारब्धहरिविमुखध्वंकार - प्रह्लादानुकार-  
निर्नाशितकलिकालाधर्माहाधकार - निहितनीचन्यक्कार-खलनिचय-  
प्रहितनिकार - श्रितत्रिखोकीवियत्प्रतीकार - सदोदारसमापादित-  
विद्वद्गुणवारिद्वयविदार - परदारविमुखरूपवन्मार - सुकुमारविग्रह-  
विग्रहकुमार - महाराजकुमार - चतुर्दशविधामार - वदनकमल-  
विनियन्तुगधीद्वार - विगतबोधपारवार - विध्वस्तदुर्निवारदुर्बोध-  
निजवपु सारहतदुर्योधनसमयोधनानेकशोभितबहुवार - स्मृत-

मष्ट कर देन वाले, महा शिष्टाचार का आचरण करने वाले, महाभारी, निर्विचार  
ब्रह्मविचार में तत्पर, सम्पूर्ण भ्रमण्डल में आचरण के लिए विख्यात, समस्त व्यभिचार  
का निरसन करने वाले, अभिचार रोकने वाले गुणविस्तार में अन्तः से आगे, धर्मावतार,  
भवसागर से पार उतरने में आरम्भ कर चुकने वाले, वाणी की समुल्लसित पीयूषधारा  
वाले, आधारयुक्त, साहित्य सागर में कर्णधार, जगत् के आधार, तीक्ष्ण धार वाले  
खट्व से छिन्न सपरिवार रिपुगण के शिरा से निरन्तर प्रवाहित शोणित वाले, उज्ज्वल  
मुष्टि-व्यापक वाले, सार-वेत्ता, हाथी के समान परम अन्तः के सर में स्थित कमोष्वापार  
वाले, भूमण्डल के अन्तःकार धनुष्टकार से आगे हुए अहमरी महाशत्रुओं की बपुओं  
द्वारा छोड़े हुए आभूषणा नौ वषणन वाले, अपकार का परित्याग करने वाले, राज्ञना  
के प्रति विविध प्रकार के उपकारा ने बर्ता, जगत् की नीरोय करने वाले, आकार  
का स्मरण करने वाले, निर्विकार निराकार, साकार नारायण में अनुरक्त, गुण-  
धर्म से महान् अधिपार (पात्रता) प्राप्त करने वाले, हरि से विमुख नरो पर  
धिपार का उपक्रम करने वाले, प्रह्लाद का अनुकरण करने हुए कतिबुत के मोर  
अधकार का नाश करने वाले, मोची का बहिष्कार करने वाले, खल समुदाय से  
पार्येय सम्पन्न करने वाले, लीला लोचों के नाश का प्रतिकार करने वाले, विद्वद्गण  
के दारिद्र्य के विदारक, परस्त्री से विमुख रूपवान् कामदेव-स्वप्न, युधुमार शरीर  
वाले, कुमार (स्वन्द) जैम विग्रह वाले महाराजकुमारों वाले, चोद विद्याज्ञा के  
आगार, मुष्ट-नयन में निगलने वाले गुणधोधार वाले, जान के समुद्र से पार करने

द्वारिकाधीशप्रत्तसुवणसुवर्णसहस्रभारसभार - वैभवाभिभूतभूभार  
॥ ९ ॥

स्वस्ति श्रीमत्सद्यः समुद्यद्दहामदीव्यदयोदयसमर्दसमुन्निद्रदि-  
दिरतुदिलदीवरदलद्रोणिद्रोहि - चद्रचारु - मद्रनिस्तद्रायिष्ट-  
द्राम्दृषादोलनविद्रावित - द्रवज्जगद्द्रावकोपद्रवेपु द्रुततराद्रोद्रि-  
हेमाद्रिद्रविणदानोत्पादितसमुद्रिक्तदृप्यदृढ - दारिद्र्यद्रुमविद्राव-  
णेषु सार्द्रहृदयासादितसारभद्रमुद्रासमुद्रोद्दीप्यमानवीरभद्रस्वर-  
रौद्रप्रत्तत्तर्ह्यसोहादोद्दीपनद्रुहिणपु ॥ ० ॥

स्वस्ति श्रीमत्परब्रह्मज्ञानध्याननिधान - प्राप्तनिरुपमानपरमा-  
नन्दभान - धरणीधरप्रधान - बाणसध्यानपायसमान - समुद्यद्बिद्युद्बि-  
द्योत्तमानवृषाण - गुरुगर्ध्वंगीयमानयशोवितान - कृतविद्युद्वरसमान-  
प्रयाणमात्तनिजितवेरिप्रतान - भूमीसतान - सुरत्ताण - गीर्वाण-  
वृक्षवद्यमानगुणसविधान - क्षितिरेक्षानिदान - दत्तनानादान-  
विहितसाधुसमाधान - चतुदशविद्यानिधान ॥ ११ ॥

स्वस्ति श्रीमत्प्रचुरतरतीश्रत्वरतपश्चरणचातुरीचचुरेपु ।

बाले दुर्निवार भ्रमण को ध्वस्त कर देने वाले निज शरीर की शक्ति से दमोघन के  
समान अनेक योद्धाओं का हनन करने वाले बहुधा स्मृत द्वारपात्रों के मुघियों द्वारा  
प्रवृत्त अनन्त सुवर्णराशि वाले भूभार को ध्वस्त करने वाले धीमन् । ॥ ९ ॥

स्वस्ति सद्यः समुचित उद्दाम रूप से जागृतस्थित दया के उत्प के हृदय  
से निरतत आप्त पीन इदीवर दल द्रोणि को भींच दिखाने वाले चन्द्रमा के  
समान सुन्दर दृष्ट के प्रति मैत्रो के एक आदीवन (गति) स अवत को उपद्रुत करने  
वाले वीर उपद्रवों को भगा देने वाले पवतेन्द्र हमाद्रि (मेघ) के द्रव्य के द्रुत दान से  
सम्पन्न बह हुए द्रवगुण दृढ दारिद्र्यद्रम का नाश करने वाले कोमल हृदय में  
सर्वप्रपत्नी और भद्र मुद्रा स युक्त समुद्र में देदीप्यमान भगवान् वीरभद्र के रौद्र रूप  
से भी अप्रतिहत सोहादे के उद्दीपन के विद्योता श्रीमन् । ॥ १० ॥

स्वस्ति परब्रह्म के ज्ञान ध्यान के निधान-न्दरूप अनुपम परमानन्द और  
ज्ञान को प्राप्त करने वाले धरणी के धारको से प्रधान बाणसध्यान में अजुन के  
समान चमकती हुई बिजली के समान चमकमाने हुए वृषाण वाले उत्तम गधवों  
द्वारा पायी जाने वाली यशोलाभा वा न विद्रुहों का सम्मान करने वाले प्रयाण मात  
में दीर्यों के समुदाय को विजित कर लेने वाले भूमि-सन्तान मुरा के भी क्षान्ता  
देवगण द्वारा वन्द्यमान गुणराशि वा न पृथ्वी की रसा के निधान जाता प्रवार के  
दाता के दाता मृत्युदयो को मारि न विघ्न करने वाले चोदह विद्यामा के  
निधान धीमन् । ॥ ११ ॥

स्वस्ति प्रचुर और उत्तम तपस्या में निपुण चन्द्रचर (निव) व चरण-नमस  
के चञ्चल प्रमरो की समता करने वाले सुन्दर ब्रह्मविचार [ने वन] में सिंह

समुदंचचंचद्रचूडचरणकमलाचचलचंचरीकायमानेषु, चारुब्रह्म-  
विचारपंचाननेषु, प्रकाशकीतिकाडधवलितब्रह्माडभाडेपु ॥ १२ ॥

स्वस्ति श्रीमन्महामहनीयमहिममहिमनिविहितजननिवह-  
मोहाहितसतापेषु । महदहोर्हेषु, समोहितसमोहितहितव्यूह-  
निष्प्रत्यूहदुरुहससञ्चितप्रवाहेषु ॥ १३ ॥

स्वस्ति श्रीमत्सकलकल्याणकलाकलापनिलयेषु, विमलतर-  
सल्लोकलीलाविलासकलनीलनलितेषु, रुचिरतरनखरचित्तचोरणचास-  
चातुरीधुरेणेषु, स्मरहरचरणपरिचरणचिन्तनाचितेषु ॥ १५ ॥

स्वस्ति श्रीमदखडभूमडलपडितमडलीमंडनायमानेषु, समुदंड-  
प्रचंडपाडित्यचंडरोचोरोचि.सचयप्रकाशोक्ताज्ञेपन्नह्माडभाडेपु,  
प्रकाडवर्णनाकाडाकाडताडवितचडीश्वरेषु ॥ १६ ॥

स्वस्ति श्रीमत्परभतपस्विमनस्वियशस्विययेषु ॥ १७ ॥

स्वस्ति श्रीमत्सकलगुणिगणगरिष्टेषु, विद्वद्वरविष्टेषु, ब्रह्म-  
गोष्ठीकनिष्ठीकृतवसिष्टेषु ॥ १८ ॥

स्वस्ति श्रीमंदमदमदयतिवृ दवदितपदद्वारविदद्वेषु, श्रीमद्-

की समता करने वाले, प्रचण्ड कीर्ति-प्रसार से ब्रह्माण्ड-भाण्ड को खनित करने वाले श्रीमन् ! ॥ १२ ॥

स्वस्ति महामहनीय जनों द्वारा गायी गयी महिमा की शीतलता से जन-  
मनूह के मोहननिग सनाप को नष्ट करने वाले, महापुरुषोचित अर्हता वाले, अभीष्ट  
वस्तुजात की प्रापक, बाधारहित, दुःख बुद्धि-अबाध वाले श्रीमन् ! ॥ १३ ॥

स्वस्ति सकल कल्याणराशि के आगार, सत्पुरुषों के विमलतर सीला विलास-  
दुषन सर के मील नलिनस्वरूप, उत्तम पुरुषों के रुचिरतर चित्त की चोरी की  
चार चातुरी में घुरीण, नामदेय को भस्म करने वाले (शिव) के चरणों की  
परिचर्या के चिन्तन से उन्मत्त श्रीमन् ! ॥ १५ ॥

स्वस्ति अष्टध भूमण्डल की पण्डितमण्डली के अलंकरण-स्वरूप, प्रचण्ड  
पाण्डित्य से चण्ड अशुमानों की ऊपर उठने वाली निरालों की राशि में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-  
भाण्ड को प्रकाशित करने वाले, प्रकाण्ड वर्णना (स्तुति) की राशि द्वारा नण्डीश्वर  
(शिव) को ताण्डयन्तृप में प्रभूत करने वाले श्रीमन् ! ॥ १६ ॥

स्वस्ति परमनपरवी, मननवी, और यज्ञस्वियो में श्रेष्ठ श्रीमन् ! ॥ १७ ॥

स्वस्ति गरल मुक्तिमय में गरिमावान्, महाविद्वानों में परिष्ठ, ब्रह्मविचार-  
गोष्ठी में समिष्ट को भी नीचा दिखा देने वाले श्रीमन् ! ॥ १८ ॥

स्वस्ति यतिवृन्द द्वारा मायह यन्दिन चरचपुस्त-न्यो समय-मुगत बाने,  
भगवान् के परण ५ पिनाज से निष्पन्न आनन्द-आनन्दोद क प्रसृष्टन से पूर्ण हृदय बाने,

गोविन्दपदचितनोद्यदानदमदोहकदत्तुदिलितहृदयेषु । द्राग्वि-  
द्रावितजगदुपद्रावकोद्रोहिकदवेषु, शरच्चद्रसुदरयशोभद्रेषु, श्रीमद-  
विद्यानिद्रादरिद्रेषु, सच्चिदानन्दध्यानविधानप्राप्तपरमानन्देषु, सकल-  
कलाकलापकुशलेषु ॥ १९ ॥

स्वस्ति श्रीमत्साक्षाद्विरूपाक्षायितेषु, पण्डितलक्षाधीशेषु, शास्त्र-  
कक्षासमुपन्यासविक्षेपितदक्षविपक्षाध्यक्षेषु, द्राक्षारसाक्षालितसुधा-  
सौदर्यमाधुर्यधारासमृद्धिसमृद्ध - समधिकमेधाप्रसिद्ध - प्रवर्धितशुद्धा-  
विरुद्धबाग्धाटीपरिपाटीसमुद्धवितमहोद्धतविबुधुधाधीशवसुधराधीशव-  
रेषु ॥ २० ॥

स्वस्ति श्रीधरणीसमुद्धरणकिरिषु, निरतरास्मत्प्राणायितेषु,  
तत्समाधानाविराट्क्यानिरतेषु, सशमितससारदुरितेषु ॥ २१ ॥

स्मृति श्रीहरे श्रीकवीद्रोदिताशीर्महापातवर्षाय पर्यायितोऽस्ति ।  
महोदयसौदर्यगभीर्यधात्रे ध्रुव तुर्यचातुर्यसिन्धो विधात्रे ॥ २२ ॥

स्वस्ति श्रीमद्भक्तिसभारसभावनासमासादनप्रसादित-  
श्रीदश्रीदुर्गेषु, ससभ्रम - निभ्रम - निर्भर - विभावितश्रीभर्गेषु,  
समवाप्तदुरापापवर्गेषु, मुकृतकृतिससर्गेषु, क्लिबिलसदनाविल-  
सत्सन्निर्गमेषु, समानालितप्रतिपालितवधुवर्गेषु, मुदा सदा समाचारा-

जगत् को उपद्रुत करने वाले अधम पुरुषों के समुदाय की शोध भगा देने वाले शरद के  
पद्म के समान सुन्दर भगवन्मय यश वाले [केवल] अवस्था की निद्रा में द्रिष्ट,  
सच्चिदानन्द के ध्यान विधान से परमानन्द को प्राप्त करने वाले सकल कला-कलाप में  
कुशल श्रीमन् ॥ १९ ॥

स्वस्ति साक्षात् विरूपाक्ष (शिव) स्वरूप साखी पण्डितों के स्वामी,  
शरन्न भर्मा के उपमाय से सम्पन्न विपक्षाध्यक्षों में दक्ष द्राक्ष में प्रक्षालित सुधा  
के सौन्दर्य और माधुर्य की धारा की समृद्धि से समृद्ध प्रचुर मेधा के लिए प्रसिद्ध, शुद्ध  
और अविरुद्ध बागी की पाटी की परिपाटी से आवृत उद्धत ज्योति के विधात्रिन करने  
वाले देवराजस्वरूप पृथ्वी के स्वामी श्रीमन् ॥ २० ॥

स्वस्ति पृथ्वी के समुद्धार में बाराह-स्वरूप गदा हमारे प्राणस्वरूप सत्पुरुषों के  
शान्ति विधान आदि सत्कर्मों में निरुद्ध, भगवन् पाप को नष्ट कर देने वाले श्रीमन् ॥ २१ ॥

कवीद्रापाय द्वारा प्रदत्त आर्क्षीवजन के महापातों में खेष्ट आर को श्री हरि की  
स्मृति पुन पुन होती रहती है । परम बोधाय सौदर्य गाम्भीर्य के बारक आप  
विरचय ही तुर्यावस्था में त्रिपुण्य के सिन्धु और सप्ता हैं ॥ २२ ॥

स्वस्ति भक्त सभार-सपादन द्वारा घनद (बैजबण) तथा दुर्गा को प्रसन्न  
करने वाले अजिनम्ब भ्रम से विरत रह कर सम्पन्न रूप में शिव का ध्यान  
करने वाले दुष्प्राप्य अपवर्गों को प्राप्ति कर देने वाले उत्तम पुरुषा से सत्य करने



चरणकनिष्ठीकृतवरिष्ठवसिष्ठ - गौतम - गालव - गार्ग्यगण - गाधि-  
गर्ग्येषु ॥ २३ ॥

स्वस्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशंकराचार्यसमानेषु ।  
वसिष्ठ - विश्वामित्र - व्यास - वामदेव - वात्स्यायन - वौधायन-  
वाल्मीकि - वरतनु - वैजवाप - कपिल - कणाद - कात्यायन - कहोड-  
केनेपित - कुकुश्रि - कौत्स - कौडिन्य - काश्यप - कौशिकायन-  
काष्णाजिनि - कण्व - कुशुमि - ऋतु - कुमार - हारीत - गोरक्ष - गालव-  
गर्ग - गार्ग्य - गोभिल - गौतम - जावाल - जमदग्नि - जातूकर्ण्य-  
जैमिनि - रत्नाकर - पाणिनि - पतञ्जलि - पराशर - पिप्पलाद-  
पैठीनसि - पुलस्त्य - पुलह - मृगु - ऋज्यु - भागुरि - भृंगि - भार्गव - भर-  
द्वाज - भुसुड - भरत - भर्तृहरि - मनु - मनुमरीचि - माटि - मृकडु-  
भार्कडेय - भाडव्य - मैत्रायणीय - मैत्रावरुणि - मत्स्येन्द्र - मीननाथ-  
यम - यास्क - यासवल्क्य - लोमश - लौगाक्षि - रिवत - शुक्र-  
शौनक - शाङ्गिल्य - शातातप - शाटपायनि - शङ्ख - शाखायन-  
शुन पुच्छ - शाकरय - शाकटायनेकऋषीश्वरमुनीश्वरसिद्धवस्त्री-  
समानेषु, परब्रह्मभूतिषु, गगाजलनिर्मलमनो - वचन - काय - स्फूर्तिषु,  
सच्चिदानन्द - स्वरूपेषु, महायतिवर - भूषेषु, परिकल्पित-  
निर्विकल्पसमाधि-विध्वस्तससारमहाश्रमेषु, श्रीगोस्वामिनृसिंहाश्रमेषु

वाले, सत्पुरुषों के उद्भवम और अनाविन ससर्ग वाले, बन्धुबर्ग को धम्यरूप रूप से  
साक्षित और प्रतिपादित करन वाले सदाचार के आचरण द्वारा वरिष्ठ वसिष्ठ,  
गौतम, गालव गार्ग्यगण गाधि और गर्ग को नीचा दिखा देने वाले श्रीमन् । ॥ २३ ॥

स्वस्ति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जो श्रीशंकराचार्य के समान हैं ।  
वसिष्ठ विश्वामित्र, व्यास वामदेव वात्स्यायन वौधायन, वाल्मीकि, वरतनु वैजवाप,  
कपिल कणाद कात्यायन, कहोड केनेपित, कुकुश्रि, कौत्स, कौडिन्य, काश्यप,  
कौशिकायन, काष्णाजिनि, कण्व, कुशुमि, ऋतु, कुमार, हारीत, गोरक्ष, गालव, गर्ग,  
गार्ग्य, गोभिल गौतम जावाल, जमदग्नि, जातूकर्ण्य, जैमिनि जरत्कार, पाणिनि,  
पतञ्जलि पराशर, पिप्पलाद पैठीनसि पुलस्त्य, पुलह मृगु, भृज्यु, भागुरि, भृङ्गि,  
भार्गव भरद्वाज भुसुड भरत, भर्तृहरि, मनु मनुमरीचि, माटि, मृकडु, भार्कडेय,  
भाडव्य, मैत्रायणीय, मैत्रावरुणि, मत्स्येन्द्र, मीननाथ, यम, यास्क, यासवल्क्य, लोमश,  
लौगाक्षि रिवत शुक्र, शौनक, शाङ्गिल्य, शातातप, शाटपायनि, शङ्ख, शाखायन,  
शुनपुच्छ, शाकन्य, शाकटायन—अनक ऋषीश्वर-मुनीश्वरसिद्धों के समान भासमान,  
परब्रह्म के आकार वाले गगाजल के समान निमल मन, वचन, काय, और स्फूर्ति वाले,  
सच्चिदानन्द-स्वरूप, महायतिवर्ग के अधिपति, निर्विकल्प सदाधि के अनुष्ठान से  
ससरण के मरान् धम का विध्वस्त करने वाले श्रीगोस्वामिनृसिंहाश्रम के प्रति परम

प्रकटितपरमानन्दसदोद्भूतत्वज्ञानदूरीकृतमहामोहसमवगतसप्तभूमिका-  
समारोह - महम्मददाराशिकोहकृता ओन्नमोनारायणायेत्यष्टाक्षर-  
मन्त्रपूर्वका नमस्कारा सन्ति ॥ (२४॥)

स्वस्ति श्रीमत्सु ब्रह्मादिदेवताराध्यतमश्रामत्कमलाकात-  
निताततात्प्रेमभक्तिनिष्ठातविश्रातस्वातसमास्वादिताभ्रातवेदात् -  
सिद्धातपारावारीण - भक्तजनजेगीयमानयशोवदानवितानतलमोद-  
मानसन्मानसेषु ॥ (२५॥)

दिगतस्थितविद्वज्जनचञ्चेतश्चकोरनिचयाचातचद्रिकाय -  
मानकीर्त्तिक्षीरोदपूरप्रभोदितनिखिलमुहज्जनराजहसेषु ॥ (२६॥)

निर्विशेषप्रज्ञाविशेषविशेषेतावोपशिष्यनिवशताभ्य - पचो-  
पनिपदव्यारकानचातुरीकलाचित - महोद्दृढपाण्डित्यमडिताखड-  
ब्रह्माडभाडोदरेषु ॥ (२७॥)

पूर्वोत्तरभीमासार्धसारसारस्वतसागरसमवगाहनसोत्साहभारती-  
वैभवमकरदभरविभूषितवदनारविदेषु ॥ (२८॥)

तत्तद्दिगतनिरुद्धसमस्तसामतचयशिरोवतसमणिमरीचिमजरी-  
मासालासितधरणसरोजपीठेषु ॥ २९ ॥

आनन्दराशि को प्रकट करते वाले परमतत्व के ज्ञान से महामोह को दूर करने वाले  
[समाधि की] सातवीं भूमिका प्राप्त कर लेने वाले मुहम्मद दाराशिकोह के ओ नमो  
नादायणाय इस अष्टाक्षर मन्त्र से युक्त नमस्कार निवेदित हैं ॥ २४ ॥

स्वस्ति ब्रह्मा आदि देवताओं के आराध्यतम श्रीसुक्त कमलाकांत (विष्णु)  
के प्रति ऐवातित और प्रबुद्ध प्रेम और भक्ति से प्रतिष्ठित अन्तःकरण द्वारा अन्तः  
वेदान्तसिद्धान्त में पारंगत भक्तजन द्वारा गांधी जाने वाली कनोपास के प्रसार में  
आनन्दित होने वाले सच्चे मन वाले श्रीमन् ॥ २५ ॥

दिगत से दिगत विद्वज्जन के चञ्चल चित्त चकोरी के समूह द्वारा पी ली गयी  
अज्ञानोत्तना के सदृश भागमान कीर्ति के क्षीरसागर के पारने से अखिल मुहज्जन  
राजहसों को हूषित करने वाले ॥ २६ ॥

अष्टाण्ड ब्रह्माण्ड भाण्ड के उदर (भीतरी भाग) को निर्विशेष प्रज्ञाविशेष से  
वितेजित सम्पूर्ण मिथ्य-अमुदाय द्वारा प्रश्रयित पौंच उपनिषदों की व्याख्या चातुरी की  
बला से समुज्ज्वल महान् उद्दाम पाण्डित्य से अण्डित करने वाले ॥ २७ ॥

पूर्वभीमाष्टा और उत्तरभीमांश के अर्ध-भाग के मारम्भन सागर में समवगाहन से  
उत्साहित वाणी के वैभव लची मकर-द-नाम्भार में विभूषित मुखमल खान ॥ २८ ॥

विविध निगनों में स्थित समस्त सामन्त समूह के निरं पर मुञ्जोदित पथियों की  
मरीचि मञ्जरी की नाचा से खानित चरणचपलों में पीठ ॥ २९ ॥

कर्नाटद्विविडाग्रप्रभृतिसकलदाक्षिणात्यविवुधमहीगोर्वाणशिरो-  
मुकुटमान्यतमश्रीः श्रीमद्वेदान्ताचार्यसचिराख्यारूपसुधानिर्जरीकृत -  
निखिलश्रीवैष्णवजनेषु ॥ (३०॥)

श्रीगुरुचरणेषु निरन्तरप्रणतनिजकृपाकृता रामानुजाख्य-  
दासानुदासकृता पारेपराद्वंद्वप्रणतिनुतिपरपरा वरीवृततुतमा-  
चरीकरीमि च, मनसैव सन्निधापितास्मत्प्रभून् ध्यानविषयान् वरीभरीमि  
च, मुहुर्भवंदर्शनपीयूषविषयिणी वाछा । शुभमन्त्र श्रीमता कृपा-  
सदोद्बोधदेने । तत्र तदेधमानमापास्तेतमा निजाघिसरोरुहछायासु-  
भगमन्यो दासजन । विशेषेणात्तया समाचारा श्रीसाहजीकाणा  
पत्रतोवगता भविष्यति प्रभूणा । तथापि दासजन स्वाभिलाप-  
सिद्ध्यर्थं यत्प्रार्थयते तदगोकरणीयम् । महाप्रभूणामत्र राजद्वारि  
यत्पूर्वमतिक्रातेन राजा रजतमुद्रामात्र प्रात्यहिक निवध्यकृतमस्ति  
तद्राज्यपरावृत्तिवशेन रुद्धमपि श्रीमतामगनेन सतत भविष्यति ।  
मितिराश्विनशुक्लतृतीयाया सवत् १८०५ अष्टादशशतोत्तर-  
पचमान्दे (॥३१॥)

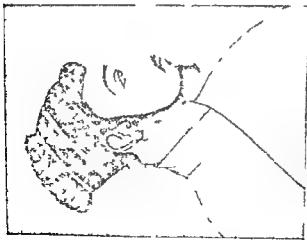
कर्नाटक द्विविड, आग्र प्रभृति सकल दाक्षिणात्य मेछाबी भू-देवताओं के शिर के  
मुकुट द्वारा मान्यतम और समस्त वैष्णव सम्प्रदाय को रुचिर व्याख्यारूप सुधा द्वारा  
अमर कर देने वाले श्री वेदान्ताचार्य ॥ ३० ॥

श्री गुरुचरणों में निरन्तर प्रणत निज कृपावृत रामानुज नामक दासानुदास-कृत  
परार्द्ध से भी अधिक प्रणामों की परम्परा पहुँचे । मैं आप अपने प्रभु का  
मन में पुन पुन ध्यान करता हूँ और पुन पुन आप के दर्शन की आकांक्षा  
करता हूँ । यहाँ श्रीमान् के कृपासन्देह के दोहरे में सब कुशल-मंगल है ।  
आपने चरण कमल की छाया से सौभाग्यवाली यह दाम उस की वृद्धि की आशा करता  
है । यहाँ के समाचार विज्ञाप रूप से श्री साहजी के पत्र से प्रभु को विदित होगी ।  
तथापि यह दास अपनी अभिलाषा की सिद्धि के लिए जो प्रार्थना करे उस स्वीकार  
अवश्य किया जाय । महाप्रभु को यहाँ राजद्वार पर राजा ने जो रजतमुद्रा मात्र  
देनिय बहन नहीं रखा था और जो राज्य में उषलपुषल के कारण बंद हो गयी वह  
श्रीमान के आगमन से पुन चालू हो जायगी ।

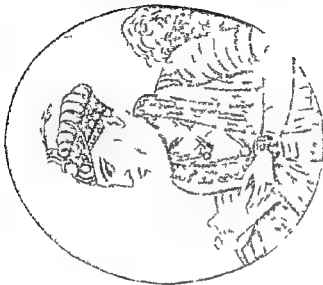
मिति आश्विन शुक्ल तृतीया सम्बत् १८०५ ॥ ३१ ॥



शाहजहाँ दाराशिकोह और उन के गुरु मुल्ताशाह बदरशानी  
 [ सिरों अक्षर की सहायता से ]  
 [ पृष्ठ 20 पर उपोदघात की पाद टिप्पणी द्रष्टव्य ]



ब्राह्मण दारशिकोह



सम्राट् औरगजेव

[ सिरे बववर की सहायता से ]

## प्रकाशकीय

‘सिरे’ अन्वर’ (महत्तम रहस्य), शाहबाद. दारा शिकोह कृत ५० उपनिषदों की फारसी व्याख्या का पुनीत नाम है। कलकत्ता विक्टोरिया मेमोरियल के संग्रहालय में यही ग्रन्थ ‘सिरे’ असुरार’ (गुह्यतम रहस्य) नाम से बड़े खुबसूरत अक्षरों में मोनूद है, और यह स्वयं दारा के हाथों का लिखा बताया जाता है। उपनिषत् (ब्रह्मविद्या) को गुह्यतम ज्ञान की सजा दी जाती है। “इति गुह्यतम शास्त्र (गीता अ० १५ श्लोक २०)”—इसलिए शाहजाद अलीम ने इस ग्रन्थ का नामकरण ‘सिरे’ अन्वर’ अथवा ‘सिरे’ असुरार’ ठीक ही किया।

यह ग्रन्थ, ‘सिरे’ अन्वर’ के हिन्दी अन्वय-रूप का प्रथम छप्ट है, जिसमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, भाष्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर, इन नौ उपनिषदों को प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी संस्करण के ग्रन्थकर्ता हैं डॉ० हर्षनाथायण, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी। डॉ० हर्षनाथायण, अरबी, फारसी, संस्कृत आदि विविध भाषाओं के व्येष्ट विद्वान् हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के उपोद्घात पृष्ठ 926 में, विद्वान् अनुवादक ने ग्रन्थ और ग्रन्थकार शाहजाद दारा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। यह पुस्तिका रूप में होते हुए भी एक सर्वाङ्गपूर्ण शोधग्रन्थ के समर्थों से सम्पन्न है। उसके बाद ग्रन्थ के बारे में कुछ विवेचन उल्लेखनीय नहीं है। फिर भी हिन्दी में यह ग्रन्थरत्न कैसे आविर्भूत हुआ, ग्रन्थ के सम्बन्ध में उपलब्ध कुछ अन्य सूचनाएँ, इस पुनीत कार्य में सहायता करनेवालों के प्रति आभार प्रदर्शन, और अन्त में चिरस्मरणीय रामकुमार दारा के प्रति श्रद्धाञ्जलि—इन कर्तव्यों से प्रेरित होकर कुछ पत्तिका पाठकों के सामने प्रस्तुत करना मैंने अपना कर्तव्य समझा।

लगभग ६-७० वर्ष की बात है, जब कुर्आन शरीफ के नागरी लिप्यन्तरण और हिन्दी अनुवाद के जटिल कार्य में मैं व्यस्त था। इसी हिन्दू इण्टर कालेज (वाराणसी) के प्रधानाचार्य स्व० श्री विद्याभिक्षु जी यह समाचार कही से मिला। वे अरबी और फारसी के विद्वान् थे, और उस समय सिरे’ अन्वर’ का हिन्दी तथा उर्दू में अनुवाद करने में वे व्यस्त थे। कुछ समानधर्मी जैसा काम प्रतीत होने पर मैं उत्कण्ठावश सखनऊ आये। मेरे कुर्आन के काम की देण कर मुग्ध हुए। उसी समय उन्होंने चर्चा की और ‘सिरे’ अन्वर’ का अनुवाद, जो वे कर रहे थे, उसको मैं प्रकाशित करूँ, ऐसी अपनी इच्छा उन्होंने व्यक्त की। मुझसे भी काम पसन्द आया, किन्तु उस समय ‘कुर्आन’ में अतिव्यस्त होने के कारण मैंने असमर्थता प्रगट की।

मगवान् श्री कृपा से सन् ६९ में मैं कुर्आन के विवाद कार्य से निवृत्त हुआ। श्री विद्याभिक्षु जी का सम्पर्क बीच में बराबर कायम रहा। सिरे’ अन्वर’ की ओर ध्यान दिया गया। उन्होंने कुछ उपनिषदों की अनूदित पाण्डुलिपि मुझे दी। यह निर्णय होता रहा कि हिन्दी रूपान्तर में फारसी वा नागरी लिप्यन्तर भी दिया जाय या नहीं, अनुवाद केवल हिन्दी में हो, अथवा हिन्दी-अरबी के सहित। दैवयोग कि श्री विद्याभिक्षु जी, कुछ बीमारी के बाद दिवंगत हो गये। इससे कार्य में एक और अवरोध आया, जो दूसरी ओर स्वर्गीय श्री विद्याभिक्षु जी की अप्रियाया याद और

शाहजाद द्वारा के प्रति देश के आभार-प्रदर्शन को व्यक्त करने के लिए 'सिरे' अवसर का प्रकाशन अब अनिवार्य सा हो उठा ।

किन्तु मरबी और ससृष्ट पर समान अधिकार, साथ में दार्शनिक पृष्ठभूमि— ऐसे विद्वान् का मिलना सरल न था । लखनऊ विश्वविद्यालय, और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कई विद्वानों से सम्पर्क किया, किन्तु बात वाञ्छनीय ढंग पर बन नहीं पाई । काशी में फारसी के पुस्तकालय विद्वान् डॉ० देवीनारायण एडवोकेट से भेंट हुई, उनका अल्प पुस्तकालय का विपुल स्रष्टाव्य देखा । उनके पास भी, 'सिरे' अवसर' की एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि, उनके पूर्वजों के समय से सप्रहीत थी । द्वारा की इस कृति को हिन्दी में लाने में उनका भी आग्रह रहा । इसी दौड़भाग के बीच लखनऊ अकादमी के अध्यक्ष, डॉ० हर्षनारायण से साक्षात् हुआ । उनमें कार्य के अनुरूप सर्वाङ्ग समता मौजूद पाई । 'लखनऊ अकादमी' से ही हमारे नव-प्रकाशित हिन्दी कूर्शान का निमोषण हुआ । मैंने बहुभाषाई नावरी लिप्यन्तरण से समीचीन और दुस्तर कार्य की पूर्ति के उद्देश्य से 'भुवन वाणी ट्रस्ट' की लखनऊ में स्थापना की । एक वित्तीय 'वाणी सरोवर' का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ, उसमें दिविष्ट भाषाई लोकप्रिय सङ्ग्रन्थों का धारावाहिक प्रकाशन होने लगा । डॉ० हर्षनारायण अति व्यस्त व्यक्तियों में से हैं । फिर भी कुछ मेरे धर्म और आग्रह, तथा शाहजाद द्वारा का नाम उजागर करने की प्रेरणा से उन्होंने ट्रस्ट के लिए 'सिरे' अवसर' का हिन्दी रूपान्तर करना स्वीकार किया । कार्य चलता रहा ।

सन् १९७३ से १९७४ । डॉ० हर्षनारायण ने उपर्युक्त नौ उपनिषदों का प्रस्तुत हिन्दी संपादन पूरा कर दिया और सन् ७३ में उसके प्रकाशित हो जाने की पूरी सम्भावना थी । किन्तु दैवयोग । कुछ अनिवार्य अवरोध उपस्थित हो गये । फल-स्वरूप सन् ७३ का सम्पादनश्रम शून्य आज दो वर्षों बाद जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने का सोभाग्य हो रहा है । स्व० डॉ० विद्याभिश्रु जी को अद्यावधि देने के बाद, इस कार्य में सभी सहायकों और परामर्शदाताओं के प्रति हम आभार प्रदर्शन करते हैं । काशी के दार्शनिक देवीनारायण एडवोकेट, जो अनेक समाजसेवी सत्याओं से सम्बद्ध हैं, के भी हम अनुरहीत हैं । स्व० डॉ० ताराचन्द जी से इलाहाबाद में भेंट हुई थी । उनसे भी बड़ा प्रोत्साहन मिला । हमें दुःख है कि प्रकाशन होने पर उनको प्रति भेंट करने का सोभाग्य प्राप्त न हो सका । श्री इनामूरुद्दौल, सेन्टरी, कौन्सिल आफ् कल्चरल रिलेशन्स, दिल्ली के अनुरूप से ही, स्व० डॉ० ताराचन्द के सम्पादनत्व में ईरान से प्रकाशित 'सिरे' अवसर' की प्रति मुझको प्राप्त हुई थी, वे अतीव धन्यवाद के पात्र हैं । डॉ० हर्षनारायण तो 'भुवन वाणी ट्रस्ट' की विद्वत्परिषद् के मूल्यवान् सदस्य हैं, सिरे' अवसर के द्वितीय खण्ड के अनुवाद में अब भी लगे हुए हैं । वे ट्रस्ट-परिवार के सदस्य हैं, उन्हें धन्यवाद कौन दे ? प्रस्तुत श्रम में सलगन चित्र, सिरे' अवसर (फारसी प्रकाशन) ईरान, और बिकटोरिया मेमोरियल फलकला के जीवन से श्रद्धा हुआ है । हम उनके प्रति आभार प्रदर्शन करते हैं ।

कहा जाता है कि सर्वप्रथम 'सिरे' अवसर' वाराणसी में प्रकाशित हुआ । बात सत्य में नहीं आती, मैं मारे देश में कोई प्रति ही देखने की निमात्रो हूँ । दूसरी बार जयपुर में प्रकाशित हुआ । बसकला विश्वविद्यालय के फारसी विभागाध्यक्ष डॉ० होशामाल कोषा का मुझसे बचन है कि उन्होंने इसकी स्वयं देखा है, बहुत गदा-गा छपा था । उसकी प्रति भी देखने में नहीं मिलती । बहरहाल यह सत्य

निश्चित है कि शाहजाद दारा के हाथों यह महत्कार्य १६१७ ई० (२६ रमजान, १०६७ हिज्री) को शाहजाद के दिल्ली निवासस्थान 'मजिस् निरम-बोघ' में पूर्ण हुआ और उसके बलिदान का भी प्रमुख हेतु यही साबित हुआ। दूसरा तथ्य यह है कि एक विदेशी अन्यथाविज्ञानी शाहजाद की यह भारतीय कृति, यह बहुज्ञान-नवेधना भारत में नहीं, सर्वप्रथम योध्य में प्रकाश में आई। आधुनिक समय में भी इसका एक रमणीक सरकरण 'ईरान' में ही छाया है। भारत में, भुवन वागी द्रष्टा यह उपक्रम प्रथम है।

सामान्यतः देश में यत्न-तत्त्व इसकी वास्तुनिर्माण मिलती है। (१) १७१० ई० पुष्क समय ३६—सिपिक दरगहमीन (अमरोहा, मुरादाबाद) काशी हि० वि० वि० पुस्तकालय श्रीराम सेवशन P G 58 A (२) एक प्रति श्री देवीनारायण एडवोकेट सुपुत्र श्री मुंशी जयद्वय जी के पास बाराणसी में सुरक्षित है। यह १७२७ ई० से पूर्व की है। (३) एक प्रति श्री श्रीराम सेवशन (काशी हि० वि० वि०) पुस्तकालय P. G 58 में भी सुरक्षित है। (४) यह प्रति फारमाइकेस साहबेरी बाराणसी P 2029 में मौजूद है। (५-४)—ये प्रतियाँ किन्हीं मुसलमान सिपिकों की लिखी हुई हैं। (५) यह प्रति श्री खानखान शाहन, इलाहाबाद के यहाँ सुरक्षित रही। उनके सुपुत्र श्री धीरेन्द्र बर्मा इलाहाबाद वि० वि० में सेवचर रहे। इनके नाता श्री उमाचकर सहाय सक्सेना (जहानाबाद जि० पीसीपीत) द्वारा लिखी हुई ५ प्रतियों में से यह एक है। (६) श्री एच० विद्याभिशु जी के पास प्रति मैंने इदीनी (बाराबकी) में स्वयं देखी है। (७) बिकटोरिया मेमोरियल, कलकत्ता में एक प्रति अति सुसज्जत मौजूद है। मालूम होता है कि प्रकाशित न होने के बावजूद नाकी लोगों ने दारा के इस मानवीय कार्य को प्रेम से सजो कर रखा।

अतः एक निश्चित बात उल्लेखनीय है। कुछ अतिवादी शोधकों को शक्ति यह खोजने में केन्द्रित रही है कि शाहजाद दारा शिकोह की सहज भावा और उपनिषदों में कहाँ तक पँथ रही है। वह फारसी व्याख्या 'तिर' अर्थात् स्वयं दारा की रचना है, अथवा संस्कृत और दार्शनिक पण्डितमण्डली की कृतृत् को अपने नाम से प्रशस्त करके दारा ने अपने को गौरवान्वित किया है? ये शकानुजन, कभी कभी सक्षीर्ण मनोवृत्ति के भी शिकार होकर, अपने निर्णय की पुष्टि में दो तर्क रखते हैं—एक तो व्याकरण के दोष, दूसरे बहुज्ञान के दुर्बल विषय में एक अभारतीय धर्मविज्ञानी की तत्त्वज्ञान पर मौलिक और अद्विष्ट व्याख्या।

इस सत्ता के समय में भूल जाते हैं कि बहुज्ञान का विषय विस्तृत मनन का है। वह व्याकरण और शब्द-अज्ञान की नेट्रियो से स्वतंत्र है। कबीर, नामक आदि की दार्शनिक देन भाषा-सौष्ठव में घरे है। रामचरितमानस की दोहा चौपाइयों की भासाओ की पटावड़ी, व्याकरण और जम्हो की लोर-परोख के दोषों से 'सुखती' की अथर्व महिमा पर आरोप नहीं आता। अनेक विद्वानों, पदमं-ग्रन्थों और पुस्तकालयों की सहायता से एक स्नातक शोधग्रन्थ तैयार करके 'डाक्टरेट' की उपाधि से सम्मानित होता है। थोप उन मूलाधार विद्वानों, सदमंग्रन्थों और पुस्तकालयों से नहीं दिया जाता। सुखी इन शोधकों के ऐसे कपन, तत्त्वज्ञान के विषय में उनका शोधसाधन और उनमें मिथ्या आत्मदर्शनाया ही बरताते हैं। शाहजाद तो स्वयं स्वीकार करता है कि फारसी से दाराजती पर्यन्त वह संन्यासियों, ब्राह्मणों और तत्त्वज्ञानियों के पाग



‘तत्त्वज्ञान’ की खोज में भटकता रहा है। विद्वानों से ज्ञान प्राप्त किया है। किन्तु इससे दारा की तत्त्वज्ञान पिपासा, उसका ज्ञान गन्धन और उसकी देन—इन पर आरोप कहाँ से खाता है? जो लोग ब्रह्मज्ञान को भाषा, व्याकरण, देश विदेश, अपना और विराना धर्म, इन बातों से जोड़ते हैं, वे उपनिषद् के विषय से ही कोसों दूर हैं। दारा ने भूमिका में व्यक्त किया है कि ‘ब्रह्मज्ञान का शब्दार्थ ‘उपनिषद्’ है। यद्यपि उसके सरलक हिन्दुओं में भी कोई ही कोई वस्तुतः तत्त्वज्ञानी विद्वान् इस समय मौजूद हैं।”<sup>६</sup> दारा के इस लेख से उसकी क्षमता में सन्देह करनेवालों को अपनी दमनीय दशा पर विचार करना चाहिए।

समरकन्द बुझारा का रक्त, इस्लाम धर्मावलम्बी, कल को भस्मात् बननेवाला दुबाराज, यदि अपने विचारों के कार्यान्वयन में सफल होता तो देश का इतिहास ही कुछ और होता। उससे प्राणों की बलि भी मानवमात्र के विचार सगम की वेदी पर हुई। हुन शाहजाद को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उसके जन्मदिनों बने रहने की प्रार्थना करते हैं।

अगस्त, १९७५ ई०

नर गुलाम अख्तर

प्रतिष्ठाता—भुवन बाणी ट्रस्ट, लाहौर-३,

[४०]

## सिरेँ अक्बर\*

(११ उपनिषदों की फारसी-व्याख्या)

कर्ता—

दाराशिकोह

अनुवादक

(मूल संस्कृत तथा फारसी से)

डॉ० हयनारायण एम ए पीएच डी

सर्वं खल्विद ब्रह्म

[ 'विस्मिल्लाह को ]† 'बे' का बिन्दु नित्य रहस्य के समान है

[ भूमिका ]

१ स्तुति उस सत्ता की जिस की विस्मिल्लाह\* की बे का बिन्दु समस्त आत्मा की (अपौरुषेय) प्रथो में उस के नित्य रहस्यों में से है और कुआनि शरीफ की शास्त्र-योनि\* (मूरतुल्लाहि)\* [अलहम्द जादि १७] में सकेत इसमें आबम [महनाम] से किया गया है और जिस नाम के अतगत समस्त फिरख्तो आत्मा की प्रथो ईश-दूतो (नविओ) तथा महात्माओ का उल्लेख है। परमेश्वर अपनी ध्येयम मृष्टि मुहम्मद जन की सन्तान, उन के सम्पूर्ण मित्रमण्डल का मंगल करे।

७ प्रस्तुत अनुवाद 'सिरेँ अक्बर' के तेहरान संस्करण पर आधारित है। दाराशिकोह न उपनिषद् के मूल मंत्र नहीं दिये हैं अनुवादक डॉ० हयनारायण ने उन्हें दे दिया है, और उनका अनुवाद भी कर दिया है।

† प्रस्तुत पुस्तक में यह शब्द [ ] में रखे शब्द हिन्दी अनुवादक द्वारा अपनी ओर से जोड़े गये हैं।

१ कुआनि शरीफ का प्रथम पद, जिसका अर्थ है 'परमेश्वर के नाम के साथ (आरम्भ करता है)।' २ अरबी में 'उम्मुलकित्बा' जिस का अर्थ है 'पुस्तक की माता'। बहमूय (११३) का शब्द 'शास्त्र योनि' इस का सुन्दर पर्याय है। कुआनि की प्रथम सूरा, 'मूरतुल्लाहि', को 'उम्मुलकित्बा' या 'उम्मुलकुआन' कहा जाता है। ३ मूरतुल्लाहि, 'अलहम्द से आरम्भ होती है १ १०

२ इसके पश्चात् जब यह निर्द्वन्द्व भिक्षुक मुहम्मद दाखशिवोह सन् १०१० हिन्दी में स्वर्गोदय नश्वीर गया था तो उसे ईश्वर की अनुकम्पा और अनन्त अनुग्रह से सिद्धा में भिन्न, ज्ञानियों में वरेण्य, गुरुओं के गुरु, स्वविरो के स्वविर, धास्ताओं के धास्ता, तत्त्ववेत्ता, एकेश्वरवादी, महात्मा, मुल्लाभाह (जिन्हें परमेश्वर का संरक्षण प्राप्त हो) के शिष्यत्व का गौरव प्राप्त हुआ। क्योंकि [विनीत को] प्रत्येक सम्प्रदाय को देखने तथा एकेश्वरवाद के उत्तम प्रवचनों के सुनने का चाव भी साथ था, और [उस ने] ब्रह्मज्ञान (समझ) की बहुत सी पोशियों का अनुशीलन और पुस्तकों का प्रणयन किया था, और अद्वैत की प्राप्ति की तृष्णा, जो एक अथाह समुद्र है, निरन्तर बढ़ती ही जाती थी और जलित प्रश्न मन में आते ही आते थे, जिन का समाधान ईश्वरीय वाणी तथा अनन्त सत्ता-सम्बन्धी आप्त वचनों के बिना सम्भव न था, और क्योंकि महान् कुर्बान, उदार विवेकपुरस्सर ग्रन्थ, प्रायः रहस्यमय है और आज उन रहस्यों का ज्ञाता दुर्लभ है, विनीत ने चारा कि समस्त आस्मानों की पुस्तकों का अनुशीलन करे जिस में कि ईश्वरीय वाणी, जो अपनी व्याख्या आप है, यदि एक पुस्तक में सन्निहित है तो दूसरी में विवक्षित और विस्तृत रूप में उपलब्ध हो जाय और उस विस्तर में वह संक्षेप ज्ञात हो जाय।

३ उस ने सौरात, इजीप्ट, खन्नर, और अन्य देशों पर दृष्टि डाली, परन्तु अद्वैत का प्रवचन उन में भी सम्पन्न तथा गूढ़ था। सरल अनुवादों से जिन्हें स्वाध्यायी ने विद्ये में अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हुई। तब इस बात की धुन सबार हुई कि हिन्दुस्थान में किस ओर से अद्वैत-तत्त्व प्रकाशित है, अद्वैतवाद की चर्चा इतनी अधिक है, और प्राचीन हिन्दुस्थान के पण्डितों और ज्ञानियों को ब्रह्म के एकत्व से नकार और एकेश्वरवादियों पर आपत्ति नहीं है, अपितु पूर्ण विश्वास है, वर्तमान काल के मूर्खों के विपरीत जो अपने आप को उत्तमा (धर्माचार्य) मान बैठे हैं, शास्त्र बजाते तथा ब्रह्मज्ञानियों और अद्वैतवादियों की यातना और तात्स्तिकीकरण में निरत हैं, अद्वैतवाद के उन समस्त वचनों की जो प्रशस्त, विवेकपुरस्सर ग्रन्थ [कुर्बानि शरीफ] तथा तबी<sup>१</sup> की प्रामाणिक हसीनी में स्पष्टतः भिन्न है, टुकड़ाते हैं, और इस-माथें बें बटमार हैं।

४ इन मोपानों की खोज के पश्चात् पता चला कि इस प्राचीन [हिन्दू] ज्ञान में सारी आस्मानों की पुस्तकों से पूर्व-चार आस्मानों की पुस्तकें, जो श्रुत्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, तथा अथर्ववेद हैं, समस्त विधि विधानों के सहित उत्पत्तीन ऋषिणा पर जिन में श्रेष्ठतम ब्रह्मा अर्पण ईश्वर के मृहत्स्वरूप आदम हैं, प्रकट हुई और जिनमें यह अर्थ इन्हीं पुस्तकों से प्रकट है।

५ और कुअनि शरीफ से यह भी विदित होता है कि कोई जाति ऐसी नहीं है जो निश्चय और निदूत हो। जैसा कि उस का वचन है—“ व मा कुआ मुअज्जिनीन हुता नबूअस रसूलन ” [१७ १५]। दूसरी आयत में—“ व अिम्मिन् अुम्मतिन् अिल्ला खला फीहा नजीरुन् ” [३५ २४], और अयब कहता है—“लकद् अर्सलना कमूलना यिल्प्रय्यिनाति य अन्बल्लुना मअहुसुल् कितान वल्मीजान ” [५७ २५]। अतः इन से निश्चित हुआ कि महान परमेश्वर किसी जाति को दण्डित नहीं करता जब तक उस जाति में अपना दूत नहीं नियुक्त कर देता और कोई जाति ऐसी नहीं जिस में [परमेश्वर का] सदेशहर न हुआ हो। और निश्चय जानो कि उस में दूतों को प्रवृत्त चमत्कारों के साथ भेजा है और उन पर पुस्तक तथा [सत-असत् का] विवेक उतरा है।

६ और इन चार पुस्तकों के सार को जिस में ही एक ईश्वर की भक्ति और साधना का निरूपण है उपनिषद् नाम से पुकारते हैं। और उस युग के पुरस्कर्ताओं ने उसे पृथक् कर उस पर सुव्यक्त और सुविस्तृत भाष्य लिखे हैं और [सोच] सदा अष्टतम उपासना के रूप में ग्रहण करते हुए उस का पाठ करते हैं।

७ क्योंकि हम आत्मदमन से हीन जिज्ञासु की दृष्टि मूल अद्वैत-तत्त्व पर थी न कि अरबी मुरबानी इबानी और मस्कृत पर ऐसी इच्छा हुई कि इन उपनिषदों को जो अद्वैत का भांडार है और जिन के ज्ञाता उस [हिन्दू] जाति में भी कम रह गये हैं फारसी भाषा में बिना यूनानाधिक्य के निस्वाद्य भाव से वाक्यानुवाक्य शब्दानुशब्द अनूदित करने समक्ष कि यह [हिन्दू] ममाज जो उसे मुसलमानों से इतना छिपा कर रखता है उस में क्या रहस्य है।

८ क्योंकि आजकल बाराणसी नगर का जो इस जाति का विद्यापीठ है हम जिज्ञासु से सम्बन्ध था [उस ने] पण्डितों और सयासियों को जो अपने काल के अग्रणी तथा वेद और उपनिषद् के ज्ञाता थे जमा करके इस अद्वैत मार को जो उपनिषद् अर्थात् गोपनीय रहस्य है और जो परमेश्वर के सही भक्तों का साम्य-नदय है मग १०६७ हिस्से में निस्वाद्य भाव में अनूदित किया। और हर नटिनाई तथा हर ऊँची निशा जो [वह] चाहता था जिसे पाने की [उपवी] इच्छा थी विसे [वह] खोजता लेकिन पाता नहीं था [उसे उस ने] पुरातन ग्रन्थ के इस सार से जो निस्तदेह वास्मानी पुस्तक में प्रथम सम्मान का अर्पाद द्रोत और खड्ग-तत्त्व का सागर है और कुअनि शरीफ के अनुकूल बल्कि उस का भाष्य है प्राप्त किया। और स्पष्ट आभास होता है कि यह ज्ञान साक्षात् इसी प्राचीन पुस्तक के विषय

मे है—“अिन्नहू लफुअनुन करीमुन् ॥ (७७) फी किताबिम्-मकूननिन् ॥ (७८)  
 लला यमसुहू<sup>१</sup> अिल्लल्-मुतहहुरून् ॥ (७९) तन्जीनुम्-मिरैबिल्ल-आलमीन (८०)”  
 [५६:७७-८०] ।

९ अर्थात् उदार कृअनि एक पुस्तक मे है जो एक गुप्त पुस्तक है जिस की जानकारी पब्लिश आस्माओ के अतिरिक्त किसी को नहीं होती। और वह ससार के पालनहार के द्वारा अवतीर्ण हुई है। और स्पष्ट जात होता है कि यह आयत खबर, तोरात, और इजीप्त के बारे मे नहीं है। और शब्द ‘तन्जीस’ [अवतरण] से ऐसा प्रकट होता है कि यह तोह महफूज [सुरक्षित पट]<sup>२</sup> के सम्बन्ध मे भी नहीं है। और क्योंकि उपनिषद् जो गोपनीय रहस्य है, इस पुस्तक का मूल है और कृअनि शरीफ की आयतें उस मे प्यो की स्थो पाई जाती हैं, अतः निश्चय जानो कि ‘गुप्त पुस्तक’ (किताबे मकून) यही प्राचीन पुस्तक है और इस मे इस भिद्युक्त के लिए ‘अतात’ जात हो गया और ‘न समझा हुआ’ समझा हुआ हो गया।

१० अनुवाद आरम्भ करते समय कृअनि शरीफ से शकुन निकालने पर उस की सूरए आराफ<sup>३</sup> निकली जिस का आरम्भ यह है—“अलिफ् ला<sup>४</sup> मी<sup>५</sup> सा<sup>६</sup> द् ॥ (१) कितायुन् अमुजिल अिलैक फला यकुन् फी सदरिक् हुरजुम्-मिन्हु लितुनजिर यिही य जिफ्रा लिलमुअमिनीन (२)” [७:१-२] अर्थात् “हे मुहम्मद! (परमेश्वर उन का कल्याण और त्राण करे।)”<sup>७</sup> अलिफ् लाम् मीम् साद् एक पुस्तक है जिसे तुम्हारी ओर उतारा गया है। अतः तुम्हारे हृदय मे इस पुस्तक के विषय मे सशय नहीं होना चाहिए, ताकि उस पुस्तक से लोगों को डराओ, और वह विशेषतः आस्थावाजो (मोमिनो) के लिए उपदेशप्रद है।” और स्वयं अपने, अपनी सत्तानो और मित्रो, और सत्य के विज्ञातुओ के सामान्वित होने के अतिरिक्त [उस का] कोई अन्य उद्देश्य अथवा प्रयोजन नहीं था।

११ जो आम्बवान् जुद्ध भगवान् की प्रसन्नता के लिए खुद भगवत् के स्वार्थ का परिचायक कर इस अनुवाद को जो ‘सिरे अनवर’ नाम से अविहित है ईश्वर-भजन का अनुवाद ममझवर और हठखर्मी छोटखर पढ़े और ममझोना वह सशयरहित, निर्भय, निरापद, और सदा के लिए मुक्त हो जायगा।

१. कृअनि शरीफ [मू० यात्रि-अति ५६:७८] के अनुसार चट खर्चों में एक सुरक्षित पट पर लिपिबद्ध है। २. कृअनि शरीफ की सज्जती मूलः। ३. अरबी मूल—‘सफ़र-आहु गलैह य सल्लम्’।

[ॐ]

# ईशावास्योपनिषद्

[शुक्लयजुर्वेदीय काण्वशाखीय]

[पूर्णमद, पूर्णमिद, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते;

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।]'

[ॐ शान्ति शान्ति शान्ति]

[अवमल ओं, वज्रमल ईं, जेज्वमल हमी उपतद अवमल;  
जेज्वमल अवमल चुं फतद, वाज वमानद अवमल ।]'

(हिन्दी अनुवाद) [वह (ब्रह्म) पूर्ण है, यह (जगत्) पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण से पूर्ण के निकलने पर पूर्ण ही शेष रहता है ।]'

ॐ ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृध, कस्य स्विद्धनम् ? ॥१॥

अनु०—धरती पर जो जगत् है वह ईश्वर द्वारा आच्छादित है । तू उस के त्याग से भोग कर, लोभ न कर, घन किस का ? (१)

व्याख्या—'ईश' का अर्थ है सब का स्वामी और 'वास्य' का अर्थ है आच्छादित, अर्थात् समस्त जगत् जगदीश्वर से आच्छादित है । वह जगदीश्वर प्रकट है तथा अगत् उममे निहित है । जो कुछ नाम और रूप वास्तव है वह जगदीश्वर से निम्नत हुआ है, जगदीश्वर से स्थित है, और जगदीश्वर से सम हो जाता है । जगत् की मूल सत्ता जो आत्मा है ऋत और सत्य है, और जगत् का वाच्य-रूप जो अविद्या है असत् और मिथ्या है । इस सत्ता में आत्मा जो ऋत और सत्य है व्याप्त हो रहा है और इसे भी ऋत और सत्य प्रदर्शित कर रहा है, अर्थात् जगत् का नाम और रूप सत्यात्म असत्त्व है [जगत् है अगत् किन्तु सत्य से समान प्रतिभासित होता है], और कोई अस्तित्व नहीं रहता ।

१ यह मंत्र दामाशिवोद ने नहीं दिया है, यद्यपि इसे प्रायः उपनिषद् के आरम्भ में खगा देने की परिपाटी है । २ उक्त मंत्र का हिन्दी-अनुवादक का किया हुआ यह फारसी अनुवाद है ।

अत चाहिए कि इस सत्यवत् प्रतीत होने वाले असत्य को, जिस की तू ने स्वयं वन्दना कर ली है और जिस से दिल लगा लिया है, आसक्ति और कामना त्याग कर निष्काम भान से और उससे बिना किसी आसक्ति ने उन समस्त कर्मों, समस्त सुखों, और समस्त व्यसनो का (जो अभीष्ट हो) उपभोग कर और हृदय में आसक्ति की भावना न रख । ससार और धन किस का है ? और किस का हुआ है ? देखा जाता है कि एक के पास से दूसरे के पास चला जाता है, और एक से दूसरे को प्राप्त होता है । [१]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।

एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

अनु०—ससार में सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे । ऐसा [ ही है । ] इस के सिवा कोई और मार्ग नहीं है, जिस से मनुष्य में कर्म की आसक्ति न हो । (२)

व्या०—यदि सौ वर्ष तक जीवित रहे तो भी शुभ कर्मों का त्याग न कर और उन के फल की इच्छा न कर । अर्थात् फल की कामना से रहित साधना तथा कर्म सदैव करना रहे, क्योंकि साधक की मुक्ति का यही मार्ग है और उस के लिए कोई अन्य मार्ग नहीं है । जब तू शुभ कर्म करे और उस का फल दृष्टि में न रखे तो इस के कारण पुनः पुनः भी हानि नहीं पहुँचायेगी और तू मुक्ति प्राप्त कर लेगा । [२]

अमुर्या नाम ते लोका अन्धेन समसावृता ।

तास् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥३॥

अनु०—वे अगुरो के लोक घोर अन्धकार से आच्छादित हैं । जो लोग आत्मा का हनन करने वाले हैं वे मृत्यु के पश्चात् उन्हें ही प्राप्त होते हैं । (३)

व्या०—जो कोई इस वर्ण को नहीं समझता और कर्म फल के लिए करता है और उस मुक्ति के होने हुए जिस मेवह आत्मा को जान सकता है, उस ने नहीं जाना और प्रमाद बिना, वह अगुरो के लोक में, जो भैरानो का लोक है, और जिस लोक को अग्रपार में ऐसा आच्छादित कर रखा है कि उस में कोई भी वस्तु अवलम्बित नहीं होती, जाता है । उन्होंने अपना रत्न अपने ही हाथ में बहाया है । [३]

अनेजदेक, मनसो जवीयो, नैनद् देवा आप्नुवन्, पूर्वमपत् ।  
तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अनु०—[वह] नि स्पन्द है, एक है मन से भी तीव्रगामी है, उसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकी, क्योंकि यह पहले ही पहुँचा हुआ है। वह स्थिर होते हुए भी अन्य दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर जाता है। उस में ही वायु जलो को धारण करता है। (४)

व्या०—यह आत्मा यद्यपि यतिशून्य है अद्वितीय है और दूरात नहीं रखती और मन के भाव से भी अधिक तीव्रगामी है उस तक समस्त बाह्य और आन्तर्य मानेन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकती। जहाँ कहीं इन्द्रियाँ अपने को पहुँचा सकती हैं, वहाँ यह इन्द्रियों से पूर्व ही विद्यमान होता है। और यद्यपि वह गति नहीं करता तथापि वह समस्त द्रुतगामियों के पूर्व वहाँ पहुँचा होता है। हिरण्यगर्भ जो सभी से कम करता है और कर्मों के फल को प्रान्ति करता है उसी आत्मा में है। अर्थात् आत्मा सबव्यापक है। [४]

तदेजति, तन् नैजति, तद् दूरे, तद्वन्तिके ।  
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥५॥

अनु०—यह चलता है वह नहीं चलता है वह दूर है वह निकट है। वह इस सब के भीतर है, वह इस सब के बाहर भी है। (५)

व्या०—गतिमान वही आत्मा है और यतिशून्य वही दूर वही आत्मा है और निश्चय वही और भीतर वही बाह्य है और बाहर वही। [५]

यस् तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति  
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

अनु०—जो भी समस्त भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में आत्मा को, वह इस के कारण [किसी से] घृणा नहीं करता। (६)

व्या०—जो कोई समस्त भूतों और समस्त जगत् को अपने में देखता है और अपने को समस्त भूतों में और समस्त जगत् में उस को कोई वस्तु मूर्खित नहीं देखती और वह किसी वस्तु से घृणा नहीं करता और कोई भी वस्तु उसकी दृष्टि में दुरी नहीं होती। [६]



यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः  
तत्र को मोहः, कः शोक, एकत्वमनुपश्यतः ? ॥७॥

अनु०—जिस दशा में ज्ञानी के लिए समस्त भूत आत्मा ही हो गये उस में एकत्व-द्रष्टा को क्या शोक और क्या मोह ? (७)

ध्या०—जो ज्ञानी बि स्वय सर्वगत हो गया है और जिस में द्वैत की भावना नहीं रह-गयी है, वह किस से मोह करे और किस से घृणा प्रकट करे ? क्योंकि वह आत्मा हो जाता है ।<sup>१</sup> [७]

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्,

अस्नाविरं, शुद्धमपापविद्धम्,

कविर्, मनीषी, परिभूः, स्वयभूर्

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अनु०—यह सर्वगत, निर्मल, अक्षरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, शुद्ध, अपापप्रस्त, द्रान्तदर्शी, मनीषी, सर्वोत्कृष्ट, और स्वयभू है। उसने युगानुयुग के लिए मयायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया है । (८)

ध्या०—यह सर्वव्यापक है, वह पवित्र है, वह शरीर-रहित है, वह अक्षत है, उस का कोई रोग नहीं है, वह उत्पत्ति, जीवन, तथा मरण तीनों युगों से मुक्त है, वह निष्पाप है, वह निष्कर्म है, वह शुभाशुभ बशों से परे है, वह सर्वश तथा सर्वद्रष्टा है, वह महानो से महान् है, ॥ उच्चो मे उच्च है, वह अपनी सत्ता से सततवान् [स्वयभू] है, और समस्त शेष-सोपान्तर को मृष्टि से विविध रूपों से उसी ने रचा है । [८]

१ यह वाक्य (फारसी मूल—‘बे र्थी भातिक् य ग्यानी कि आत्मा शुदा’) दस्तुगः इसी सातवें मंत्र का अर्थ है जो (मूल ग्रन्थ में) मंत्र ८ के चारम्भ में आ गया है। बिन्दु उस का रूप पों होना चाहिये—‘क्योंकि यह ज्ञानी आत्मा हो जाता है’ (‘कि र्थी भातिक् य ग्यानी आत्मा शुदा अर्थ’)

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥९॥

अनु०—वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं । [और] वे मानो उस से भी घोरतर अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] जो विद्या में रत हैं । (९)

व्या०—जो सोय कर्मों के फल पर दृष्टि रखते हैं और उसी में रत हैं वे घोर अन्धकार में पड़ते हैं । और वे, जिन्होंने कर्म नहीं किया है और जिन का अन्तःकरण साधना द्वारा शुद्ध नहीं हुआ है और बिना समझे हुए केवल अनुकरण में ब्रह्म ज्ञान की बातें करते हैं उन लोगों की अपेक्षा जो कर्मफल पर दृष्टि रखने के कारण घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, अन्धमतर हैं और घोरतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं । [९]

अन्यदेवाहुर विद्यया, अन्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणा ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

अनु०—विद्या से अन्य ही [फल] कहते हैं और अविद्या से अन्य कहते हैं । ऐसा हम ने विद्वानों से सुना है जिन्होंने हमारे लिए उस की व्याख्या की । (१०)

व्या०—वे हैं जो कहते हैं कि 'सुकर्मों का फल दूसरा है और ज्ञान का फल दूसरा । [१०]

विद्या चाविद्या च यस् तद् वेदोभय स ह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अनु०—विद्या और अविद्या दोनों को जो साथ-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को प्राप्त कर लेता है । (११)

व्या०—इसे स्वीकार न कर क्योंकि दोनों का फल एक है । क्योंकि उस कर्म से जो परमाकाश के विना किया जाता है निष्पाप और शुद्ध होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, और साक्षात् ब्रह्म हो जाते हैं । [११]

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रता ॥१२॥

अनु०—घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो असम्भूति की उपासना करते हैं, मानो उस से घोरतर अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] जो सम्भूति में रत हैं । (१२)

व्या०—जो निर्गुण की उपासना करते हैं वे असम्भूति हैं और जो सगुण की उपासना में रत हैं वे सम्भूति हैं । [१२]

अन्यदेवाहु सभवादन्यदाहुरसभवात् ।

इति शुभ्रुम धीराणा ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

अनु०—सम्भव (सम्भूति) से अन्य हो फल कहते हैं । असम्भव (असम्भूति) से अन्य कहते हैं । (१३)

व्या०—दोनों ही दल कहते हैं कि निर्गुणोपासना का फल दूसरा है और सगुणोपासना का फल दूसरा । य दोनों दल भी पार अन्धकार में प्रवेश करते हैं । [१३]

सम्भूतिञ्च विनाश च यस् तद् वेदोभय सह ।

विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

अनु०—सम्भूति और विनाश (असम्भूति) दोनों का जो साथ-साथ जानता है वह विनाश से मृत्यु को तर कर सम्भूति से अमृत को प्राप्त कर लेता है । (१४)

व्या०—बाहिए कि असम्भूति और सम्भूति [निर्गुण और सगुण] को निरपाधि और सौपाधि ब्रह्म की, एक समझ कर, चित्त को उक्त की उपासना से शुद्ध कर के, और ज्ञान प्राप्त कर के मुक्ति प्राप्त करें । [१४]

[मंत्र ९ से १४ का सारांश—]

(जो कोई शुभ कर्म करता है और फल उस की दृष्टि का विषय नहीं रहता और जो कोई उपासना करता है और कर्म-फल पर दृष्टि नहीं रखता, और जिस किसी न ज्ञान की प्राप्ति की है इन दोनों ही दल का परिणाम भुक्ति है जिसे ब्रह्म निर्वाण से अभिहित किया जाता है ।)

हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।

तत् त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

अनु०—ब्रह्मकीले पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है । हे पूषन् (जगत् के पालक) ! उसे तू सत्यधर्मा को दर्शन कराने के लिए अनावृत कर दे । (१५)

व्या०—सत्य का मुख सुवर्ण के पात्र से ढका हुआ है । हे पूषन् ! तू उसे खोल दे, ताकि हम, जिन्हें सत्य अभीष्ट है उस के दान से वृत्तार्थ हो । [१५]

पूषन्नेकर्वे । यम । सूर्य । प्राजापत्य । व्यूह रश्मीन् समूह ।  
तेजो यत् ते रूप कल्याणतम तत् ते पश्यामि । योऽसावसौ पुरुष  
सोऽहमस्मि ॥१६॥

अनु०—हे पूषन् ! हे एकाकी गतिमान् ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्रजापति नन्दन ! तू अपनी रश्मियों को हटाकर एक ओर बर ले । जो तेरा अत्यन्त कल्याणमय रूप है उस तेरे [रूप को] देखता हूँ । वह जो पुरुष है, वह मैं हूँ । (१६)

व्या०—हे पूषन् ! हे एकाकी पवित्र (एकर्वे) ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्रजापति-नन्दन ! अपनी रश्मियों मृष्टि में बिखेर और अपनी ज्योति को पुञ्जीभूत कर ले, ताकि मैं तेरी मनोहारी छटा देखूँ । जो वह पुरुष है वह मैं हूँ । [१६]

वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्त शरीरम् ।

ॐ श्रुतो स्मर, वृत्त स्मर, श्रुतो स्मर, वृत्त स्मर ॥१७॥

अनु०—वायु सूत्रात्मा को और यह भस्मान्त शरीर अमृत को [प्राप्त हो] । हे सबत्पात्मक मन ! स्मरण कर, किये हुए का स्मरण कर, हे सबत्पात्मक मन ! स्मरण कर, किये हुए का स्मरण कर । (१७)

व्या०—मेरा जीवन उस अमर वायु में लीन हो जाय ! और मेरा शरीर मम्म में विग्रह जाय ! हे मन ! अपने कर्मों का स्मरण कर । हे मन ! अपने कर्मों को अपने ही में देख । [१७]

अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव ! वयुनानि विद्वान् !  
युयोध्यस्मज् जुहुराणमेनो, भूयिष्ठा ते नम उक्ति विधेम ॥१८॥

अनु०—हे अग्नि ! हे समस्त ज्ञान-कर्म के ज्ञाता देव ! हमें अभ्युदय के लिए सन्मार्ग पर चला । हमारे कुटिल पापों को नष्ट कर । हम तुझे बारम्बार नमस्कार करते हैं । (१८)

व्या०—हे अग्नि ! हे प्रकाश-स्वरूप देव ! हम सन्मार्ग पर ते चले और मुक्ति स्वी महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करा । हे हमारे समस्त कर्मों के ज्ञाता ! हमारे पापों को क्षमा कर तुझे अनन्त नमस्कार ! [१८]

### [उपसंहार—]

जो कोई मुक्त हो जाता है उस की समस्त बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञानेन्द्रियाँ उस के सूक्ष्म शरीर के साथ मृत्यु के पश्चात् हिरण्यगर्भ में, जो सूक्ष्म तत्त्वों की समष्टि होता है लय हो जाती हैं । और उस का जीवात्मा (परम) आत्मा के साथ एकीभूत हो जाता है । और उस का स्थूल शरीर भस्म हो जाता है । और मृत्यु के समक्ष जानी अपने कर्मों और कर्म फल से कहते हैं कि हे हमारे कर्मों ! हम याद रखना, और हे हमारे कर्मों के फलों ! हमें स्मरण रखना क्योंकि हमारी दृष्टि कभी कर्म और कर्म फल पर नहीं रहती है, और ब्रह्म की ज्योति से कहते हैं कि हे ज्योतिस्वरूप ! अर्थात् हे प्रकाश-स्वरूप देव ! हम सन्मार्ग पर चला और मुक्ति के महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करा क्योंकि तू हमारे सभी कर्मों का ज्ञाता है, और हमारे पापों को क्षमा कर । तुझे बहुत-बहुत नमस्कार, अर्थात् तेरी बारम्बार वन्दना ।

जानी उस पुरुष को जानता है जो सूर्य में है और वह सत्ता है जो साक्षात् ज्योति है । वह मैं हूँ । और निदाकाश जो निरपेक्ष तत्त्व है मैं हूँ, और ब्रह्म जो सबस्रष्टा है मैं हूँ ।

समाप्त हुई ईशावास्योपनिषद् जो महान् ब्रह्मविद्या है, अर्थात् महान् स्रष्टा की विद्या ।

[पूर्णमद, पूर्णमिद, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते,  
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।]

[ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ]

[ ॐ ]

## केनोपनिषद्

[सामवेदीय तत्त्ववारोपनिषद्]

[ ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—वाक् प्राणश्चक्षुः, श्रोत्रमयो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम् । मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्त्वं निराकरणमस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु । ]

[ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ]

[मेरे अग पुष्ट हो—वाणी, प्राण चक्षुः श्रोत्र, बल, और सभी इन्द्रियाँ । यह सब ओपनिषद् ब्रह्म है । मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ, ब्रह्म मेरा निराकरण न करे, कदापि न करे । निराकरण न हो, मेरा निराकरण न हो । उपनिषदों में जो धर्म हैं वे आत्मा में निरत भुक्त में हों, वे मुक्त में हों ।]

ॐ केनेपित पतति प्रैपित मन ?

केन प्राण प्रथम प्रैति युक्त ?

केनेपिता वाचमिमा वदन्ति ?

चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ? ॥१॥

अनु०—प्रति मन किस के द्वारा प्रेरित होकर [विषयो पर] पड़ता है ? प्रथम प्राण किस की प्रेरणा से चलता है ? किसे से प्रेरित होकर [वाणी] यह वाणी बोलते हैं ? आँख और श्रोत्र की कौन देव प्रेरणा देता है ? (१)

व्या०—प्रजापति ने विष्णुको ने प्रजापति से पूछा कि मन किम की भाषा और प्रेरणा से किया करता और चलता है और प्राण जो सब का मूल है किम की भाषा और

१ निराकरण करना अर्थात् विमुख होना ।

प्रेरणा से क्रिया करता और चलता है, वाणी बिग की आज्ञा और प्रेरणा से चार्ग करती है, चक्षु और श्रोत्र किस देव के आदेश से अपना-अपना काम करते हैं । [१]

श्रोत्रस्य श्रोत्र, मनसो मनो, यद्

वाचो ह वाच, स उ प्राणस्य प्राण ,

चक्षुषश् चक्षुरतिमुच्य धीरा

प्रेत्यास्माल् लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

अनु०—जो श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, निश्चय ही वाणी की वाणी है, वही प्राण वा प्राण है, चक्षु का चक्षु है । [ऐसा जानकर] धीर पुरुष सत्तार से छूटकर अमर हो जाते हैं । (२)

व्या०—प्रजापति ने कहा—वाच यवनों के यवण की आज्ञा से, मन मनो के मन से, वाणी वाणियों की वाणी से, प्राण प्राणा के प्राण से, चक्षु दृष्टिओं की दृष्टि से । जो कोई इस देवों के देव बने, जो ज्योतिष्मा की भी ज्योति है, जान लेता है, हे धीर और दृढ़ जानियो । वह इस अरीर को छाड़ने के पश्चात् अमर तथा मुक्त हो जाता है । [२]

न तत्र चक्षुर् गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् । अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां, ये नस् तद् व्याचक्षिरे ॥३॥

अनु०—वहाँ न चक्षु जाता है, न वाणी जाती है, न मन । हम नहीं जानते, हम नहीं समझते, कि उस का अनुशासन किस प्रकार करें । वह विदित और अविदित [अथवा निद्या और अविद्या] से ऊपर है । पूर्वजाचार्यों से हमने ऐसा ही सुना है, जिन्होंने हमारे लिए उस का व्याख्यान किया था । (३)

व्या०—वह ऐसी गता है जिस तक दृष्टि नहीं पहुँचती, बिग तक वाणी नहीं पहुँचती और जिस तक मन नहीं पहुँचता । जो मन से नहीं जाना जा सकता और जो निद्या न नहीं जाना जा सकता उसे किस प्रकार समझाया जा सकता है ? वह ज्ञात तथा अज्ञात दोनों के ऊपर है हम ने पूर्वजाचार्यों से ऐसा ही सुना है । [३]

१ इस मंत्र के अंतिम वाक्य की 'गिरें अकर' से स्वतंत्र, चौथे मंत्र के रूप में परिगणित किया गया है, जिस के फलस्वरूप उपनिषद् के प्रथम खण्ड के मंत्रों की संख्या ८ के स्थान पर १ हो जाती है । अनुवाद में सूत्र क्रम को ही मान्यता दी गयी है ।

यद् वाचाऽनभ्युदित, येन वागभ्युद्यते,  
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि, नेद यदिदमुपासते ॥४॥

अनु०—जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, जिस से वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि इसे जिस की [लोक] उपासना करता है । (४)

व्या०—जिम सत्ता तक वाणी नहीं पहुँचती और जो वाणी तक पहुँचती है उसी को तू ब्रह्म जान । और जो वाणी में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है । वह असीम है, और जो वाणी में आ जाता है वह समीम है, और जो समीम होता है वह ब्रह्म नहीं है । [४]

यन् मनसा न भनुते, येनाहूर् मनो मतम्,  
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि, नेद यदिदमुपासते ॥५॥

अनु०—जो मन से मनन नहीं करता जिस से मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [लोक] उपासना करता है । (५)

व्या०—जिम सत्ता तक मन नहीं पहुँचता और जो मन तक पहुँचती है उसी को तू ब्रह्म जान । जो मन में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है । वह असीम है और जो मन में आ जाता है वह समीम होता है और जो समीम होता है वह ब्रह्म नहीं है । [५]

यच् चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूषि पश्यति,  
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि, नेद यदिदमुपासते ॥६॥

अनु०—जो चक्षु से नहीं देखता जिस से [लोक] चक्षुओं को देखता है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [लोक] उपासना करता है । (६)

व्या०—जिस सत्ता तक दृष्टि नहीं पहुँचती और जो दृष्टि तक पहुँचती है उसी को तू ब्रह्म जान । जो दृष्टि में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है । वह असीम है और जो दृष्टि में आ जाता है वह समीम होता है और जो समीम होता है वह ब्रह्म नहीं है । [६]



यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्,  
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

अनु०—जो श्रोत्र से नहीं सुनता, जिस से यह श्रोत्र सुना जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [श्रोत्र] उपासना करता है । (७)

व्या०—जिस सत्ता तक श्रोत्र नहीं पहुँचता और जो श्रोत्र तक पहुँचती है, उसी को तू ब्रह्म जान । जो श्रोत्र में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है । वह असीम है और जो श्रोत्र में आ जाता है वह सीमित होता है, और जो सीमित होता है वह ब्रह्म नहीं है । [७]

यत् प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणं प्रणीयते,  
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

अनु०—जो प्राण से प्राणवान् नहीं है, जिस से प्राण प्राणवान् है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [प्राण] उपासना करता है । (८)

व्या०—जिस सत्ता तक प्राण की क्रिया नहीं पहुँचती, और जो प्राण तक पहुँचता है और जिस में प्राण क्रिया करता है उसी को तू ब्रह्म जान । जिस तक प्राण की क्रिया पहुँचती है वह ब्रह्म नहीं है । वह असीम है जिस तक प्राण की क्रिया पहुँचती है वह सीमित है और जो सीमित है वह ब्रह्म नहीं है । [८]

॥ इति प्रथमं खण्डं ॥

यदि मन्यसे सुवेदेति, दध्रमेवापि नूनं त्वं वेत्स्य ब्रह्मणो रूपम् ।  
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वयं नु मीमांस्यमेव ते । मन्ये विदितम् ॥१॥

अनु०—यदि तू मानता है कि अच्छी तरह जानता हूँ, तो तू ब्रह्म के रूप को निश्चय ही थोड़ा ही जानता है । इस का जो [रूप] तू है और इस का जो रूप देवताओं में है वह निश्चय ही तेरे जानने योग्य है । मैं जान गया । (१)

व्या०—हे शिष्य ! यदि तू समझता है कि तेरा कुछ बहुत अच्छी तरह समझ गया है, तो तेरी यह समझ कुछ नहीं है क्योंकि तूने अपने को अपने कुछ को और अपने गुरु

की समझ को अलग-अलग पहचाना । उत्तम समझ यह है कि तू स्वयं को ब्रह्म जाने । हे शिष्य ! चाहिए कि तू ज्ञान ज्ञात, तथा ज्ञात को बस एक समझे । यदि तू ब्रह्म को साकार तथा देवताआ में से किसी पर आधृत जानता है, तो यह भी भ्रम है क्योंकि वह सब म है । यदि तू ने समझ लिया है कि वही मैं हूँ, तो यही सत्य है वही ब्रह्म है । समझा ? [१]

नाह मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च ।

यो नस् तद् वेद तद् वेद, नो न वेदेति वेद च ॥२॥

अनु०—मैं न तो यह मानता हूँ कि भली भाँति जानता हूँ और न यही समझता हूँ कि नहीं जानता । हम में से जो उसे जानता है उसे [इस प्रकार] जानता है—‘न तो नहीं जानता हूँ और [न] जानता हूँ’ । (२)

व्या०—शिष्य ने कहा, मैं नहीं समझा । गुरु ने कहा, यदि तू नहीं समझा तो तू ने कैसे कहा था कि मैं नहीं समझा ? क्योंकि तेरे ऐसा कहने से ही विदित होता है कि तू ने अपने को जान लिया है, और अगथा कहा कि मैं ने नहीं जाना है । अस्तु तुझे दो पल्लुआ का ज्ञान हुआ—एक अपना दूसरे अपने को न जानने का । इस प्रकार तुझ में दोनों ज्ञान सिद्ध हुए । और ज्ञान ही साक्षात् ब्रह्म है । अतः तू जब ब्रह्म है कि मैं ने ब्रह्म को नहीं जाना, तब तू ने ब्रह्म को जान लिया । [२]

यस्यामत तस्य मत, मत यस्य न वेद स ।

अविज्ञात विज्ञानता, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥३॥

अनु०—जिस को अज्ञात है उसी को ज्ञात है, जिस को ज्ञात है वह उसे नहीं जानता । ‘विज्ञानियो के लिए अज्ञात है ‘अज्ञानियो के लिए विज्ञात । (३)

व्या०—दो गोठों के बीच जिस में हम बैठे हैं, जो अपने को कहता है कि मैं ने नहीं जाना है उस न जानने वाले ने उनका ही [अधिक] जाना है और जो कहता है कि मैं ने जान लिया है उस ने नहीं जाना है, क्योंकि बुद्धि की उस तक पहुँच नहीं है । जिस ने नहीं जाना उसने जाना और जिस ने जाना उस ने नहीं जाना । और जिस ने जाना उस ने वचन नहीं किया और

जिम ने बर्षन किया उम ने नहीं जाना । उम बा न जानना ही ज्ञान है और जानना ही ज्ञान । [३]

प्रतिबोधविदित मतममृतत्व हि विन्दते ।

आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

अनु०—[ओ उसे] प्रत्येक बोध में जानता है वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है । आत्मा से बल प्राप्त होता है, विद्या से अमरत्व प्राप्त होता है । (४)

ध्या०—जिस ने इस प्रकार समझा वह अमर हो गया, वह मुक्त हो गया, और अपने ऐश्वर्य और बल की पूर्णता को प्राप्त हो गया । और यह बो कहा गया है कि ज्ञान मुक्ति का कारण है वह यही है । ज्ञान है अपने-आप को पहचानना, और मुक्ति है अपने-आप को प्राप्त करना । [४]

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन् महती विनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विचित्त्य धीराः प्रेत्यास्माल् लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

अनु०—यदि इस जन्म में जान लिया तो ठीक, यदि इस जन्म में न जाना तो भारी विनाश । धीर पुरुष [उसे] समस्त प्राणिनों में उपलब्ध कर के संसार से छूट कर अमर हो जाते हैं । (५)

ध्या०—यदि तू ने इस प्रकार जाना तो तू सत् और सत्य है, और यदि तू ने इस प्रकार नहीं जाना तो तू असत् और मिथ्या है । जिस ने उसे सब में जाना, वह इस जगत् को त्याग कर मुक्त और अमर हो गया । [५]

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये । तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा  
अमहीयन्त ॥१॥

अनु०—ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की । उस ब्रह्म की  
विजय में देवताओं ने गौरव प्राप्त किया । (१)<sup>१</sup>

व्या०—जब देवों और अमुरों में बचड़ा और युद्ध हुआ और देवा की विजय हुई  
तो देवताओं ने जाना कि विजय उहा ने की है यद्यपि इन विजय को ब्रह्म ने उन्हें  
प्रदान किया था । [१]<sup>२</sup>

त ऐक्षन्त-अस्माकमेवाय विजयो, जस्माकमेवाय महिमेति ।  
तद्धंषा विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्वभूव । तन् न व्यजानन्त  
किमिद यक्षमिति ॥२॥

अनु०—उन्हा ने सोचा—हमारी ही यह विजय है, हमारी ही  
यह महिमा है । [वह ब्रह्म] उन के इस [अभिप्राय] को जान गया,  
उन के प्रति प्रादुर्भूत हुआ । [वे] न जान सके कि यह यक्ष (पूज्य) कौन  
है । (२)

व्या०—स्रष्टा ने जाना कि इन (देवों) के मन में अभिमान उत्पन्न हो गया है ।  
प्रत्येक देवता एक दूसरे में समझने बूझने में लग गया और उन में शयडा-बचड़ा बड़ा  
हो गया । प्रत्येक यही कहता था कि यह विजय उहा ने ही की है । स्रष्टा उन के  
पराय को समाप्त करने के निमित्त एक अदभुत पुरुष के रूप में जो पूज्य (यक्ष) था  
प्रकट हुआ । देवों ने उसे नहीं पहचाना । [२]

तेऽग्निमब्रुवन्-‘जातवेद । एतद् विजानीहि किमिद यक्षम्’  
इति । तथा’ इति ॥३॥

अनु०—उन्हो ने अग्नि से कहा—हे सवज्ञ ! पता लगाओ कि यह  
यक्ष कौन है ? [उस न कहा—] बहुत अच्छा । (३)

१ देवताओं की शक्तियों पर विजय की आत्ययिका बृहदारण्यकोपनिषद् (१३।१।१)  
में द्रष्टव्य है ।

२ मूल ग्रन्थ (सिद्धे अक्षर) में इस वाक्य का उच्चारण द्वितीय मंत्र का पूर्वार्ध है ।

श्लो०—अग्निदेव न, जिस का प्रकाश उन वा तथा समस्त प्राणियों का मार्ग-दर्शन है, देवा ने जा कर कहा कि हे मार्ग-दर्शन अग्ने ! जा कर जात कर कि यह जो नया-नया प्रसट हुआ है, कौन है ? अग्नि ने स्वीकार कर लिया । [३]

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत्—‘कोऽसि’ इति ? ‘अग्निर् वा अहमस्मि’ इत्यब्रवीज्, ‘जातवेदा वा अहमस्मि’ इति ॥४॥

अनु०—[अग्नि] उस के पास गया, उस [ब्रह्मा] ने उस [अग्नि] से पूछा—‘तू कौन है ?’ ‘मैं अग्नि हूँ’, उस ने कहा, ‘मैं निश्चय ही सर्वज्ञ हूँ’ । (४)

श्लो०—[अग्नि] गया । परन्तु उस पूज्य (यदा) के कुछ न पूछ मरा । तब यश ने अग्नि से पूछा—तू कौन है ? [अग्नि ने] उत्तर दिया—मैं अग्नि हूँ, प्रकाश करने वाला । [४]

‘तस्मिन्नु त्वयि किं वीर्यम् ?’ इति । ‘अपीदं सर्वं दहेय यदिद पृथिव्याम्’ इति ॥५॥

अनु०—[तब ब्रह्मा ने पूछा—] ‘उस तुझ में सामर्थ्य क्या है ?’ [अग्नि ने कहा—] ‘पृथिवी में यह जो कुछ है उस को जला सकता हूँ’ । (५)

श्लो०—यश ने पूछा कि तुझ में क्या शक्ति और सामर्थ्य है । अग्नि ने कहा कि मुझ में यह सामर्थ्य है कि मैं सब कुछ भस्म कर सकता हूँ । [५]

तस्मै तृण निदधौ—‘एतद् दह’ इति । तदुपप्रेयाय । सर्व-जवेन तन्न न शशाक दग्धम् । स तत एव निववृत्ते—‘नैतदशक विजातु यदेतद् यक्षम्’ इति ॥६॥

अनु०—[ब्रह्मा ने] उस [अग्नि] के लिए एक तिनका रख दिया [और कहा—] ‘इसे जला’ । [अग्नि] उस [तृण] के समीप गया । [परन्तु] अपन सारे वेग से भी उसे जलाने में समर्थ नहीं हुआ । वह तत्काल लौट आया [और बोला—] ‘यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है । (६)

व्या०—यक्ष ने घाम का एक तिनका उछाड़ कर उम के समक्ष रख दिया और कहा—इसे जला । अग्नि ने समस्त शक्ति और सामर्थ्य जो उम में थी, उस तिनके के जलाने के लिए लगा दी, [परन्तु] उस एक तिनके को न जला सका, लज्जित हो गया । [यह] देवों के पास आ कर बोला—मैं इस विचित्र प्राणी को नहीं जान सकता । [६]

अथ वायुमब्रुवन्—‘वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षम् ?’  
इति । ‘तथा’ इति ॥७॥

अनु०—सदनन्तर, [उन देवताओं ने] वायु से कहा—‘हे वायो ! पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है ?’ [उस ने कहा—] ‘बहुत अच्छा’ । (७)

व्या०—देवता वायु के पास जा कर बोले, ‘हे वायो ! तू जा कर इस अद्भुत पुष्प (यक्ष) का पता लगा कि वह कौन है ।’ [७]

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत्—‘कोऽसीति’ ? ‘वायुर् वा अहम-  
स्मि’ इत्यब्रवीन्, ‘मातरिश्वा वा अहमस्मि’ इति ॥८॥

अनु०—[वायु] उस के पास गया । उस ने वायु से पूछा—‘तू कौन है ?’ ‘मैं वायु हूँ’ उस ने कहा, ‘मैं निश्चय ही मातरिश्वा (अन्तरिक्षगामी) हूँ’ । (८)

व्या०—वायु स्वीकार कर यक्ष के सम्मुख गया और उस से कुछ पूछ न सका । तब यक्ष ने वायु से पूछा तू कौन है ? [वायु ने] उत्तर दिया कि मैं वायु हूँ और मैं आकाश और पृथ्वी के बीच भ्रमण करने वाला हूँ । [८]

‘तस्मिंश्च त्वयि किं धीर्यम् ?’ इति । ‘अपीदं सर्वमाददीय  
यदिदं पृथिव्याम्’ इति ॥९॥

अनु०—[तब ब्रह्म ने पूछा—] ‘उस तुझ में क्या सामर्थ्य है ?’ [वायु ने कहा—] ‘पृथिवी में यह ओ कुछ है उस को ग्रहण कर सकता हूँ’ । (९)

व्या०—यक्ष ने पूछा कि तुम में क्या शक्ति और सामर्थ्य है । वायु बोला कि मैं सब को उठाने और उड़ा देने वाला हूँ । [९]

तस्मै तृण निदधौ—‘एतदादत्स्व’ इति । तदुपप्रेयाय । सर्वजवेन  
तन् न शशाकादातुम् । स तत एव निववृत्ते—‘नैतदशवं  
विज्ञातु यदेतद् यक्षम्’ इति ॥१०॥

अनु०—[ग्रह ने] उस [वायु] के लिए एक तिनका रखवा [और  
कहा—] ‘इसे ग्रहण कर ।’ [वायु] उस [तृण] के समीप गया । [परन्तु]  
अपने सारे वेग से भी वह उसे ग्रहण करने में समर्थ न हुआ । वह तत्काल  
लौट आया [और बोला—] ‘यै यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन  
है’ । (१०)

व्या०—यक्ष ने पूर्व की भाँति घास वा एक तिनका उछाड़ कर उस के सामने  
रख दिया [और कहा] कि इसको उठा । प्रवहमान वायु में जितनी भी शक्ति और  
मामर्ध्य थी उसे उस ने उस तिनके के उठाने में और उठाने में बसा दिया, परन्तु घास  
की उस एक पत्ती को उठाने में न सका । [वह] लज्जित हो कर देवताओं के पास आ कर  
बोला कि मैं इस प्राणी को नहीं जान सकता । [१०]

अथेन्द्रमब्रुवन्—‘मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षम्’ इति ।  
‘तथा’ इति । तदभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ॥११॥

अनु०—तदनन्तर [देवताओं ने] इन्द्र से कहा—‘मघवन् (बलशालि) !  
पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है ।’ [उस ने कहा—] ‘बहुत अच्छा’ [वह]  
उस के पास गया । [किन्तु वह] उस [इन्द्र] के सामने से तिरोहित हो  
गया । (११)

व्या०—देवता इन्द्र के पास जा कर बोले—‘हे महाराज ! आप जा कर इस  
प्राणी का पता लगायें कि यह बहुभुज यक्ष क्या है । इन्द्र स्वीकार कर यक्ष के  
निकट गया और इन्द्र ने वहाँ पहुँचते ही इस से पूछा कि इन्द्र कुछ पूछे वह यक्ष भयस्मात्  
मन्त्रार्थन हो गया । [११]

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाधैमवतीम् ।  
ताधहोवाच—‘किमेतद् यक्षम् ।’ इति ? ॥१२॥

अनु०—वह [इन्द्र] उसी आकाश में [जिस में यक्ष अन्तर्धान हुआ था] एक अत्यन्त शोभामयी, सुवर्णाभूषणभूषिता (अथवा हिमालय की पुत्री) स्त्री उमा (पार्वतीरूपिणी ब्रह्मविद्या) के पास आया । वह उस [स्त्री] से बोला—‘यह यक्ष कौन है ?’ (१२)

व्या०—इन्द्र ने उस के स्थान पर एक सुन्दर स्त्री को देखा, जिस का नाम उमा था और जो महादेव की स्त्री और जक्ति पार्वती के समान थी । इन्द्र ने उस स्त्री से पूछा कि यह अद्भुत पुरुष जो अभी इसी स्थान पर था और अन्तर्हित हो गया कौन था । [१२]

॥ इति तृतीय खण्ड ॥

सा ‘ब्रह्म’ इति होवाच, ‘ब्रह्मणो या एतद् विजये महीयध्यम्’  
इति । ततो हैव विदाञ् चकार—ब्रह्मेति ॥१॥

अनु०—उस [विद्यादेवी] ने कहा—‘ब्रह्म, तुम ब्रह्म के ही विजय में महिमान्वित हुए हो ।’ तभी से [इन्द्र ने] जाना कि यह ब्रह्म है । (१)

व्या०—उम स्त्री ने जिस का नाम उमा था कहा कि वह ब्रह्म अर्थात् सृष्टिकर्ता था । और असुरों पर जिस विजय का श्रेय तुम सब अपने लिए समझे थे और जिस विजय से प्रसन्न हुए थे उम विजय का देने वाला यही था । इन्द्र ने जान लिया कि यह यक्ष ब्रह्म था । [१]

तस्माद् वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्  
वायुरिन्द्रस्, ते ह्येनन् नेदिष्ट पस्पृशुस्, ते ह्येनत् प्रयमो  
विदाञ् चकार—ब्रह्मेति ॥२॥

अनु०—इसी लिए ये देवता—अग्नि, वायु, और इन्द्र—अन्य देवताओं से बड़ कर हुए, क्योंकि उन्होंने ते दस समीपस्वतम [ब्रह्म] का स्पर्श किया था, उन्होंने ने ही उसे पहले जाना था—यह ब्रह्म है । (२)



व्या०—इसी कारण यह तीनों देवता—अग्नि, वायु, और इन्द्र, ब्रह्म को प्राप्त हुए और महान् देवता बन गये। इन तीनों देवों में भी इन्द्र सबसे अधिक प्रिय हुआ क्योंकि उसी ने सर्वप्रथम यक्षरूपी ब्रह्म को समझा। [२]

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान्, स होनन् नेदिष्ठ पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ् चकार—ब्रह्मेति ॥३॥

अनु०—इसी लिए इन्द्र अन्य देवताओं से बढ़ कर हुआ; क्योंकि उसी ने इस समीपस्थतम [ब्रह्म] का स्पर्श किया था, उसी ने पहले जाना था—यह ब्रह्म है। (३)

व्या०—इन तिथियों में इन्द्र सर्वप्रिय हुआ, क्योंकि सर्वप्रथम उसी ने यह ज्ञान प्राप्त किया कि यह क्या ब्रह्म है। [३]

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन् न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४॥

अनु०—उस [ब्रह्म] का यह आदेश (उपमोपदेश)<sup>१</sup> है कि यह बिजली बौंधी—ओह !!! [उस से] पलक झपक गयी—ओह !!! यह [उस ब्रह्म का] अधिदैवत रूप है। (४)<sup>२</sup>

व्या०—और वह वेद उसी यक्ष की वाणी है जो विद्युत् के समान इन्द्र की दृष्टि से तिरोहित हो गया। समस्त इन्द्रियों में यही जीवार्त्मा ब्रह्मरूपी विद्युत् के समान है जो पुरुष के रूप में प्रकट हुई थी। [४]

१ आदेश का शब्दार्थ है उपदेश अथवा वर्णन। उपनिषद् में वह शब्द उपमान का आश्रय लेकर किये गये उपदेश अथवा वर्णन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य के अनुसार, 'निरूपय ब्रह्म का जिस उपमान से उपदेश दिया गया वह आदेश कहा जाता है' (निरूपयस्य ब्रह्मणो वेगोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते)।

२ यह एक रहस्यमय मंत्र है जिस का अनुवाद कठिन है। शंकराचार्य के आधार पर इस का अनुवाद यों किया जा सकता है—'उस [ब्रह्म] का यह आदेश (उपमोपदेश) है कि जो बिजली की धमक के समान तथा पलक झपक के समान आदिभूत हुआ, यह अधिदैवत रूप है।' ब्रह्म की उपमा विद्युत् से बृहदारण्यकोपनिषद् २.३.६, ८ तथा मैत्रायण्युपनिषद् ७.११ में भी दृश्य है।

अथाध्यात्म यदेतद् गच्छतीव च मनो ज्ञेन चैतदुप  
स्मरत्यभीक्ष्ण्य सङ्कल्प ॥५॥

अनु०—अब अध्यात्म [ विषयक आदेश ] है कि यह मन म जाता—सा  
है और इसी से यह (मन) निरन्तर स्मरण करता रहता है। [यह]  
संकल्प है।

तद्व तद्वन नाम । तद्वनमित्युपासितव्यम् । स य एतदेव  
वेदाभि हैन्य सर्वाणि भूतानि सवाञ्छन्ति ॥६॥

अनु०—उसी [ब्रह्म] का तद्वन<sup>१</sup> नाम है। उस की तद्वन [नाम] से  
उपासना करनी चाहिए। जो इसे इस प्रकार जानता है उसे सभी भूत  
भली भाँति चाहने लगते हैं। (६)

ध्या०—मनुष्य के शरीर में वही मन जो गतिमान प्रकाशक तथा इच्छावान है  
वही ब्रह्म है जो अदभुत पुरुष के रूप में प्रकट हुआ और जिस की इच्छा से उमा उपन्न  
हुई थी। वही मन जो जीवामा से एक (अनन्य) है उस को ब्रह्म समझ कर उस की  
साधना करता है। जो इस शिक्षा को जिस का वचन किया गया है जानता है मन  
तथा जीवामा को ब्रह्म जान कर साधना करता है वह समस्त प्राणियों का मित्र हो  
जाता है। [५६]<sup>२</sup>

उपनिषद भो । ब्रूहि इति । उक्ता त उपनिषद ब्राह्मी  
वाव त उपनिषदमब्रूम इति ॥७॥

अनु०—हे [गुरु] ! उपनिषद कहिए। [गुरु ने कहा] हम ने तुझ  
से उपनिषद कह दी निश्चय ही हम ने तुझ से ब्राह्मी उपनिषद कही  
है। (७)

१ तद्वन एक रहस्यमय पद है जिस का अनुवाद कठिन है। शंकर इस का  
अर्थ यह करते हैं—तस्य वन तद्वनम्; वननीय समजनीयम्। अतः तद्वन नाम।  
अर्थात् ब्रह्म का वननीय भजनीय होना।

२ मूल ग्रन्थ (सि० अ०) में मंत्र ५ और ६ की व्याख्या एक साथ की गयी है।

व्या०—सब देवता इन्द्र से जो सभी का राजा है बोलें कि उपनिषद् का, जिस वेद द्वारा हम हम साधना को जानें और समझें उस का, हम उपदेश कीजिए । [७]

तस्यै तपो, दम, कर्मैति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वाङ्गानि;  
सत्यमायतनम् ॥८॥

उस (ब्राह्मी उपनिषद्) की तप, दम, कर्म प्रतिष्ठा (आधार) है, वेद सारे अंग हैं, और सत्य आयतन (निवास-स्थान) है । (८)

व्या०—इन्द्र ने कहा, तप करो, इन्द्रिय-निग्रह करो, सर्वत्र निरन्तर वेदानुसार चरते रहो, वेदाध्ययन करो, और जो वेद विहित है उसे करते रहो, और सत्य का, जो सब का मूल है, सर्वत्र आचरण करते रहो । यही उपनिषद् है, अर्थात् सम्पूर्ण-दर्शन । [८]

यो वा एतामेव वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गं लोके ज्येये  
प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥

अनु०—निश्चय ही जो इस [उपनिषद्] को इस प्रकार जानता है [वह] पाप का नाश करके अनन्त और महान् स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है, प्रतिष्ठित होता है । (९)

व्या०—जो कोई इस उपनिषद् को जानता है, वह अपने मनस्त पापों को दूर कर के परम गद को प्राप्त कर लेता है और परम गद में प्रतिष्ठित हो जाता है । [९]

अथववेदीय वेनोपनिषद् समाप्त हुई ।

॥ इति चतुर्थं खण्ड ॥

[ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्, प्राणश्च, चक्षु, श्रोत्रमयो  
बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । माऽह ब्रह्म  
निराकुर्याम् । मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्त्व-  
निराकरणमस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास् ते मयि  
सन्तु, ते मयि सन्तु ।]

ॐ ज्ञानि । ज्ञानि ॥ ज्ञानि ॥

[ॐ]

# कठोपनिषद्

[ कृष्णयजुर्वेदीय-कठशाखीय ]

## प्रथमोऽध्यायः

प्रथमा वल्ली

[ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहे ।  
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहे ।]

ॐ शान्ति । शान्ति । शान्ति ।

[वह परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-साथ  
रक्षा करे । हम दोनों का साथ-साथ पानन करे । हम साथ-साथ [विद्या  
सम्यग्धी] सामर्थ्य प्राप्त कर । हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो । हम  
दण्ड न कर । त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

ॐ उशनः ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसः ददौ । तस्य ह नचिवेता  
नाम पुत्र आस ॥१॥

अनु०—प्रसिद्ध है कि यज्ञ पत्न के इच्छुक वाजश्रवा के पुत्र न  
[विरवजित् यज्ञ भ] अपना सारा धन दान कर दिया । उस का नचिवेता  
नामक एक पुत्र था । (१)

नि०अ०\*—वाजश्रवस नाम एक ऋषीश्वर का है । एक यज्ञ होता है त्रिग य  
जो कुछ भी पागल होता है उस दान कर दिया जाता है । ऐसा यज्ञ का अनुष्ठान  
कर के उस ने अपनी सारी सम्पत्ति दण्ड कर और गायें भय कर व सब की सब ब्राह्मणों  
को दे डाली । यह गायें जिन्हें उस ने ब्राह्मणों को दी सब की सब बड़ी और बरदार  
थी । इस ऋषीश्वर के नचिवेता नामक एक पुत्र था । [१]

१ यहाँ की ॥१॥ आख्यायिका विभिन्न वेद के साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.११.८  
१.१) से ली गयी है ।

२ ति० अ० = 'सिद्धे आचर', शाहजगद् दत्तशिक्षेदपत्र २१ उशनसों की  
प्रार्थना का ।

तथ ह कुमारं सन्त दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश ।  
सोऽमन्यत-॥२॥

अनु०—जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणास्वरूप गाय) ले जायी जा रही थी, उस में कुमार होते हुए भी श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धि) का आवेश हुआ । वह सोचने लगा—(२)

सि०अ०—यद्यपि वह छोटा और अल्पवयस्क था, तथापि जब उस ने देखा कि उस के पिता ने ऐसी गायें ब्राह्मणों को दान करने के लिए मगायी हैं जो अब बच्चा भी नहीं दे सकती तब उस के मन में आया कि मेरा पिता ऐसी गायें लोग को दान देगा तो अच्छा नहीं होगा । [२]

पीतोदका, जग्धतृणा, दुग्धदोहा, निरिन्द्रिया,—  
अनन्दा नाम ते लोकास् तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

अनु०—जो जल पी चुकी हैं, जिन का घास खाना समाप्त हो चुका है, जिन का दूध दुह लिया गया है, और जिन में प्रजनन-शक्ति का भी अभाव हो गया है उन गायों का दान करने से वह दाता, जो अनन्द (आनन्दशून्य) लोक है, उन को जाता है । (३)

सि०अ०—वह (पिता) अच्छे फल की इच्छा करता है किन्तु इस प्रकार की गायों का दान करने से ऐसे लोक को प्राप्त होगा वहाँ अच्छा फल और आनन्द नहीं प्राप्त करेगा । [३]

स होवाच पितर—‘तत । कस्मै मा दास्यसि ?’ इति ।  
द्वितीय, तृतीयम् । तथ होवाच—‘मृत्यवे त्वा ददामि’ इति ॥४॥

अनु०—तब वह अपने पिता से बोला—‘हे तात ! आप मुझे किस को दोगे ?’ [इसी प्रकार उस ने] दूसरी-तीसरी बार [भी कहा] । तब [पिता ने] उस से कहा—‘मैं तुझे मृत्यु को दूंगा’ । (४)

सि०अ०—फिर उस के हृदय में यह बात आयी कि उस (पिता) के पास जो कुछ था उस ने दान कर दिया यदि मुझे भी भगवान् की राह में दान कर दे तो सम्भव है

कि अच्छा फल प्राप्त करे। इस भावना ने वह पिता ने पास जा कर बोला—हे पित !  
बाप मुझे किसे दान करेगे ? जब पिता ने उत्तर नहीं दिया, तो पुत्र ने यह बात  
तीन बार दुहरायी। पिता रुष्ट हो कर बोला—तुझे यमराज को दूंगा। [४]

बहूनामेमि प्रथमो, बहूनामेमि मध्यमः।

किञ्च स्विद् यमस्य कर्तव्यं यन् मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥

अनु०—[नचिकेता का अनुताप—] मैं बहुत से [शिष्य या पुत्रों]  
में तो प्रथम (मुख्य वृत्ति से) चलता हूँ और बहुतों में मध्यम (मध्यम  
वृत्ति से) जाता हूँ। यम का ऐसा क्या कार्य है जिसे [पिता] आज मेरे  
द्वारा सिद्ध करेगे ? (५)

नि०अ०—पिता से यह सुन कर नचिकेता हृदय में विचारने लगा कि मैं अपने पिता  
के सभी शिष्यों और पुत्रों में श्रेष्ठतर हूँ, मेरा क्या अपराध है कि पिता ऐसा बोले।  
और मुझे यमराज को दे डालने से उन्हें कौन सा लाभ पहुँचेगा ? [५]

‘अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे—

सस्यमिव मर्त्यं पच्यते, सस्यमिवाजायते पुनः’ ॥६॥’

अनु०—[नचिकेता ने पिता से कहा—] जिस प्रकार पूर्व पुरुष  
व्यवहार करते थे उस का विचार कीजिए तथा जैसे वर्तमानकालिक अन्य  
लोग प्रवृत्त होते हैं उसे भी देखिए। मनुष्य खेती की भाँति पकता (वृद्ध  
हो कर मर जाता) है और खेती की भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है।’ (६)

नि०अ०—पिता ने रोष में आकर ऐसी बात भूँह से निबानी अवश्य थी किन्तु वह  
उम से चिन्तित भी हो गया था। नचिकेता ने उसे चिन्तित या हर कहा—हे पित !  
बाप अपने पूर्वजों की ओर दृष्टि से जावें, जिन्होंने जो कुछ बड़ा उम से फिरे नहीं।  
आज भी सत्पुरुषों की यही परम्परा है। जो कुछ उत्पन्न हुआ है अन्ततः नश्वर है।  
अनएव उत्पन्न अनाज एकता है, उस के पश्चात् सूख जाना है। [६]

१. मोक्षानां रूम् के इस पद्य से मिलान कीजिए—

‘हृष्यत सद् हृष्यताद् वाज्रिव दीदः श्रम हन्तु सणाः वारहा रोहदः श्रम’  
श्रयोद् ‘मिने ००० मोनिर्वाँ देली हैं और वनशानि के समान पुनः पुनः उत्पन्न  
हुमा हैं।’

‘वैश्वानर प्रविशत्यतिथिर् ब्राह्मणो गृहान् ।

तस्यैताऽशान्ति कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम्’ ॥७॥

अनु०—[यमराज के घर जा कर नचिकेता उपेक्षित रहा । तब लोगो ने यम से कहा—] ब्राह्मण-अतिथि हो कर अग्नि ही घरों में प्रवेश करता है । [साधु पुरुष] उस अतिथि को यह [अर्घ्य-भाद-दानरूपा] शान्ति किया करते हैं । [अतः] हे वैवस्वत (विवस्वान् की सन्तान) ! [इस ब्राह्मण अतिथि नचिकेता की शान्ति के लिए] जर ले जाइए । (७)

सि०ज०—इस अनाधार जगत का यही व्यवहार है । अतः आप ने यह जो कहा है कि तुम यमराज को दान कर दूँगा मुझ उस दान कीजिए और असत्यभाषी न बनें । पिता ने कहा—मैं न तुम यमराज के पास भोजन दिया । नचिकेता यमराज के पास गया । जब वह यमराज के घर पहुँचा तो यमराज घर में नहीं था कहीं गया हुआ था । नचिकेता तीन दिन उस के घर पर रहा और कुछ भी नहीं खाया पिया । जब यमराज अपने घर लौटा तो उस के परवानो ने उस से कहा—जो ब्राह्मण किसी के घर अतिथि हाता है वह अग्नि के समान होना है जिसे गुथूपा के जल से शांत करना चाहिए । आप उस से कुशल-धन प्रार्थना उस की गुथूपा कीजिए और पाँच पल्लारने के लिए जल लीजिए । (७)

‘आशाप्रतीक्ष, सगतऽसूनृता च,

इष्टापूर्वे, पुत्रपशूऽश् च सर्वान्—

एतद् वृद्धते पुरुषस्याल्पमेघसो

यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे’ ॥८॥

अनु०—जिस के घर में ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस में वह दुष्टि पुरुष की आशा प्रतीक्षा सम्पन्न, प्रिय वाणी, [यामादि] दृष्ट वम [उद्यानादि] पुत्र कर्म पुत्र, और पशु सभी को वह नष्ट कर देता है । (८)

सि०ज०—जिस मूख के घर ब्राह्मण अतिथि होता है और भूखा रहता है और वह ब्राह्मण की सेवा सुनपा नहीं करता उस से आशा दूर हो जाती है जो वस्तु प्राप्ता

होने वाली होती है वह हाव नहीं आती, और वह सत्य के पुष्प से वंचित हो जाता है। और यदि वह स्वयं भी अच्छी बात कहता है तो हृदयो में उस का प्रभाव नहीं होता, वह गज और दान के फल से भी वंचित रह जाता है। उम की महान और सम्पत्ति भी कम हो जाती है और वह इस प्रकार की विपत्तियों में फँस जाता है। [८]

‘तिलो रात्रौ यदवात्सीद् गृहे मे  
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर् नमस्य ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् । स्वस्ति मेऽस्तु,  
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व’ ॥९॥

अनु०—[तब यम नचिकेता से बोला—] हे ब्रह्मन् । तुम्हें नमस्कार हो, मेरा कल्याण हो। तुम नमस्कार-योग्य अतिथि हो कर भी मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना भोजन किये रहे, अब उस [तीन रात्रियाँ] के लिए [मुझ से] तीन वर माँग लो। (९)

सि०अ०—यमराज यह मुन कर नचिकेता के पास गया और बोला—हे पूज्य ब्राह्मण! हे प्रिय अतिथि! तुम जो हमारे घर पर तीन दिन भूखे-ब्याने रहे मेरा यह पाप क्षमा करो, तुम्हें मेरा नमस्कार तुम्हारे प्रताप से मेरे पाप दूर हो और मुझ सुख-समृद्धि प्राप्त हो। यत तुम मेरे घर पर तीन रात भूखे रहे जो वर चाहो वह पाँवो। [९]

‘शान्तसकल्प मुमता यथा स्याद्  
वीतमन्युर् गौतमो माऽभि मृत्यो ।

स्वरप्रसृष्ट माऽभिवदेत् प्रतीत—

एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे’ ॥१०॥

अनु०—[नचिकेता बोला—] हे मृत्यो! जिस से मेरे पिता वाजश्रवस मेरे प्रति शान्तसकल्प, प्रसन्नचित्त, और क्रोधरहित हो जायें तथा आप के भेजने पर मुझे पहचान कर बातचीत करें—यह [मैं] तीन वरों में से पहला वर माँगता हूँ। (१०)

सि०अ०—नचिकेता ने कहा—मेरे पिता का मेरे आप के पास आ जाने से जो यह तोष कर दुःख हुआ है कि मेरा हाव क्या होगा उस दुःख को आप उन में दूर कर दें



उन्हें प्रसन्नचित्त कर दें, मेरे पिता को मेरे प्रति जो रोष उत्पन्न हुआ था उस से भी मेरे पिता को मुक्त कर दें, और मुझे पिता के पास वापस भेज दें। इस प्रकार भेजें कि मेरे पिता यह न समझें कि मैं आप के पास न आ कर रास्ते से ही लौट गया हूँ, और वे जानें कि आप ने मुझे पिता के पास वापस भेजा है। हे यमराज ! यह मेरा एव वर है। [१०]

‘यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत

औद्दालकिरारुणिर् मत्प्रसृष्ट ।

मुख्य रात्री शयिता वीतमन्युस्

त्वा ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥

अनु०—[मृत्यु ने उत्तर दिया—] ‘मुझ से प्रेरित होकर अरणपुत्र उद्दालक-मुख बाजथवस तुझे पूर्ववत् पहचान लेगा और कोधरहित हो कर रात्रिओं में मुखपूर्वक सोयेगा, [यह सोच कर कि उस ने] तुझे मृत्यु के मुख से छूट कर आया हुआ देखा।’ (११)

नि०अ०—यमराज ने कहा—मेरा पिता मेरे वचन से पुनः प्रसन्न हो जायगा जैसा कि वह तुझ से पहले प्रसन्न था और उम का क्रोध दूर हो जायगा और मृत्यु के मुख से छूट हुए तुझ को देख कर प्रसन्नचित्त हो जायगा। तेरा यह वर पूर्ण हुआ। [११]

‘स्वर्गे लोके न भय किञ्चनास्ति,

न तप्त रव, न जरया विभेति ।

उभे तीर्त्वाऽश्नायापिपासे

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

अनु०—[प्रथम वर मांगते हुए नचिरेता बोला—] ‘स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है, यहाँ आप भी नहीं होते, और न यहाँ [कोई] वृद्धावस्था में ही डरता है। स्वर्गलोक में [पुष्प] भूय-म्यास दोनों को पार कर के, शोक से ऊपर उठ कर, आनन्दित होता है।’ (१२)

नि०अ०—नचिरेता बाला—स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है क्योंकि आप यमराज का उम में प्रवेश नहीं हैं। उम स्वर्ग में जराबढ़ता को भी चिन्ता नहीं है। यहाँ गुण शूषा और शृणा तथा शोक से मुक्त हो कर सदा आनन्द में रमण करने हैं। [१२]

स त्वमग्निं स्वर्गमध्वेऽपि मृत्यो ।

प्रब्रूहि त्वं श्रद्धाघानाय मह्यम्,

स्वर्गलोका अमृतत्व भजन्त-

एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

अनु०—[द्वितीय वर-] हे मृत्यो ! आप स्वयं के साधनभूत अग्नि को जानते हैं सा मुझ श्रद्धालु के प्रति उस का वर्णन कीजिए [जिस के द्वारा] स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष अमृतत्व प्राप्त करते हैं । दूसरे वर द्वारा मैं यही माँगता हूँ । (१३)

नि०अ०—जिस यज्ञ के अनुष्ठान से इस प्रकार के स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और जिस यज्ञ को आप जानते हैं मुझ भी उस का उपदेश कीजिए ताकि मैं आप से पूरा श्रद्धावान बनूँ । जो लोग उस स्वयं में पहुँचते हैं वे अमर देवता बन आते हैं । यह मेरा द्वितीय वर है । [१३]

प्र ते ब्रवीमि, तद् मे निबोध,

स्वर्गमग्निं नचिकेत । प्रजानन् ।

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठा

विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

अनु०—[यम ने उत्तर दिया-] हे नचिकेत ! उस स्वर्गप्रद अग्नि को अच्छी तरह जानन वाला मैं तेरे प्रति उस का उपदेश करता हूँ । तू उसे मुझ से अच्छी तरह समझ ले । इसे तू अनन्तलोक की प्राप्ति कराने वाला, उस का आधार और गुहा में निहित (अर्थात् रहस्यमय तथा दुरुह) जान । (१४)

नि०अ०—यमराज बोलें—मैं तुझ उस का उपदेश करता हूँ । तू उस यज्ञ को जान जिस के द्वारा अनन्तलोक की प्राप्ति होती है । यमराज जबतू उस यज्ञ के देवता का स्वरूप है और वह देव बुद्धिमाना के हृदय में निवास करता है । [१४]

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मे

या इष्टका, यावतीर् वा, यथा वा ।

स चापि तत्प्रत्यवदद् यथोक्त-

मथास्य मृत्यु पुनरेवाह तुष्ट ॥१५॥

अनु०—तब यमराज ने लोको के आदिकारणभूत उम अग्नि का तथा [उस के चयन करने में] जो, जितनी, और जैसी दृष्टे होती है, [उन का] उस [नचिकेता] के प्रति वर्णन कर दिया । और उस [नचिकेता] ने भी जैसा उस से कहा गया या वह सब सुना दिया । इस से प्रसन्न होकर मृत्यु फिर बोला । (१५)

सि०अ०—यह देव गव के पूर्व विद्यमान था । उग यज्ञ की पद्धति जैसी कि वेद म दी हुई है [नचिकेता ने] उन (यमराज) से मीखा । नचिकेता ने सब कुछ माद कर के यम को सुना दिया । महान् यमराज प्रसन्न हुए कि मैं न जो उपदेश किया था उसे तू खूब समझा । (१५)

तमप्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा—

वर तवेहाद्य ददामि भूय ।

तवैव नाम्ना भविता ज्यमग्नि,

सृङ्का<sup>१</sup> चेमामनेकरूपा गृहाण ॥१६॥

अनु०—महात्मा [यम] न प्रसन्न हो कर उस से कहा—अब मैं तुझे एक वर और भी देता हूँ । यह अग्नि तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगा, तू यह अनेक हपो वाली माला ले । (१६)

सि०अ०—वे बोले—इस कारण कि मैं तुझ से प्रसन्न हुआ हूँ, तुझे एक वर और देता हूँ, कि यह नर्म, जगत् मे तेरे नाम से प्रसिद्ध होगा । उन्होंने ने उसे एक माला भी दी जिस के अनेक पत्र थे और जिस व शक्ति शक्ति के साथ पहुँचते थे । (१६)

१ 'सृङ्का' का अर्थ शकर ने 'माला' अथवा 'गति' किया है । वास्तविक अर्थ निश्चित नहीं होता । यहाँ 'माला' से काम चल जाता है । पृष्ठ १२३ में 'गति' अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है । सस्कृत साहित्य में यह शब्द संभवतः अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

त्रिणाचिकेतस् त्रिभिरेत्य सन्धि

तिवर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।

ब्रह्मजज्ञ<sup>१</sup> देवमीड्य विदित्वा

निचाय्येमा<sup>२</sup> शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

अनु०—नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला (अर्थात् त्रिणाचिकेत) [तथा इज्या, अध्ययन, और दान इन] तीन कर्मों को करने वाला मनुष्य [माता, पिता, और आचार्य इन] तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त हो कर जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। तथा ब्रह्म से उत्पन्न अथवा ज्ञानवान् और स्तुतियोग्य देव को जान कर और उसे अनुभव कर इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है। (१७)

सि०अ०—[यम ने] इस यज्ञ का नाम नाचिकेत के नाम के अनुसार नाचिकेत रखा और कहा—जो कोई तीन बार इस यज्ञ का अनुष्ठान करता है, समझता है, पिता और माता और गुरु को प्रसन्न रखता है, और तीन प्रकार के मत्वर्गों—दान, इज्या और व्रतार्घ्ययन—का अनुष्ठान करता है वह निम्न लोगों से ऊपर उठ कर मरने के बाद मुक्त हो जाता है। समस्त जगत् का रूपभूत देव, जो ही इस यज्ञ का अग्नि है ब्रह्मा अर्थात् साक्षात् हिरण्यमर्ष से उत्पन्न हुआ है। यह देव सर्वज्ञ तथा स्तुति योग्य है। उसे वेद से जान कर और उस का निश्चय कर के [गुरु] उस आनन्द को प्राप्त होता है जो वचनानीक है। [१७]

त्रिणाचिकेतस् त्रयमेतद् विदित्वा

य एव विद्वाधश्च चिनुते नाचिकेतम् ।

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

अनु०—जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्नि के इस त्रय को [अर्थात् तीन हैं] हो, कितनी सख्या में हो, और किस प्रकार अग्निचयन किया जाय— इस को] जान कर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह देहपात से पूर्वं

१ यह यज्ञ 'जगतवेदस्' का सर्वोच्च प्रतीक होता है, जो अग्नि के त्रिरोपण के रूप में वेदों उपनिषदों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

ही मृत्यु के दग्धनों को तोड़ कर शोक से पार हो स्वर्गलोक में आनन्दित होता है । (१८)

नि०अ०—इम नाचिवत यज्ञ को जो कहता है गमनाता है, और जो इम का अनुष्ठान करता है और उम के पुण्या का ध्यान करता है, वह दुःखम, अज्ञान, काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या द्वेष आदि के दग्धनों से इसी लोक में मुक्त होकर, शोक में पड़े हो कर, और स्वर्गलोक को प्राप्त हो कर शाश्वत आनन्द का उपभोग करता है । [१८]

एष तेऽग्निर् नचिवेत । स्वर्ग्यो

यमवृणीया द्वितीयेन वरेण ।

एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्,

तृतीयं वरं नचिवेतो । वृणीष्व ॥१९॥

अनु०—हे नचिवेत । तू ने द्वितीय वर से जिस का वरण किया था वह स्वर्ग का साधनभूत अग्नि यह है [अर्थात् उसे तुझे बतला दिया] । लोग इस अग्नि को तेरा ही कहेंगे । हे नचिवेत । [अब] तू तीसरा वर माँग ले । (१९)

नि०अ०—यह यज्ञ जिसे तू ने द्वितीय वर के रूप में भुप से माँगा था, स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है । उम यज्ञ को लोग तेरे नाम से जानेंगे । अब भुप से तीसरा वर माँग । [१९]

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-

ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

एतद् विद्यामनुशिष्टस् त्वयाऽह

वराणामेव वरस् तृतीय ॥२०॥

अनु०—[नचिवेता ने कहा—] मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता', आप से शिक्षित हुआ मैं इसे जान सकूँ । [मेरे] वरों में यह तीसरा वर है । (२०)

नि०अ०—नचिवेता बोला—मेरा नीमरा वर यह है—मृत प्राणियों के विषय

मे मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि जो कुछ था यह शरीर ही था। जब इस का नाश हो गया तो कोई और वस्तु शेष नहीं रही। [इस मत को मानने वाले लोग] जीवात्मा को शरीर से पृथक् नहीं जानते और उसे शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाने वाला मानते हैं। अन्य लोग का कहना है कि जीवात्मा शरीर, बुद्धि, मन, और इन्द्रियो से पृथक् है। शरीर के नाश के पश्चात् जीवात्मा अपने बर्णों के अनुसार लोकान्तर को प्राप्त होता है। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे उपदेश करें जिस से कि इन दोनों मतों को मैं समझ सकूँ, कि कौन सत्य है और कौन मिथ्या। [२०]

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा,  
न हि मुञ्जेयमणुरेव धर्मः ।  
अन्यं वरं नचिकेतो ! वृणीष्व,  
मा मोषरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

अनु०—[यम ने उत्तर दिया—] पूर्वकाल में इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था, क्योंकि यह सूक्ष्म तत्त्व सुगमता से जाने जाने योग्य नहीं है। हे नचिकेत ! तू दूसरा वर माँग ले, मुझे न रोक (अर्थात् मुझ पर दबाव न डाल)। तू मेरे लिए यह वर छोड़ दे। (२१)

नि०अ०—यम बोल कि इस विषय में देवताओं को भी मशय है। यह विषय अत्यन्त दुर्लभ है और बुद्धि में नहीं आता। हे नचिकेता ! कोई अन्य वर माँग और मुझे इस प्रश्न के उत्तर में क्षमा कर। [२१]

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल,  
त्यं च मृत्यो ! यन् न मुञ्जेयमात्मन् ।  
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो,  
नान्यो वरस् तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

अनु०—[नचिकेता बोला—] हे मृत्यो ! इस विषय में निश्चय ही देवताओं को भी सन्देह हुआ था, तथा इसे आप भी सुगमता से जानने योग्य नहीं बतलाते। और इस का वक्ता भी आप के समान अन्य कोई नहीं मिल सकता। [अतः] इस के समान कोई दूसरा वर नहीं है। (२२)

सि०अ०—नचिनेता बोला—ह यमराज ! आप ही ने कहा कि यह विषय दुरुह है, कि देवता भी इस सगंध में पड़े हुए हैं, और कि यह सरलता से रामदास में नहीं आता । अतः मैं आप के समान गुरु नहीं पाऊँगा कि मुझे उपदेश करे और मैं सगंध में मुक्त होऊँ ? यह बरा का बर है, जिस के समान मैं और कोई बर नहीं समझता । [२२]

शतायुष पुत्रपौत्रान् वृणीष्व,  
वहून् पशून्, हस्तिहिरण्यमश्वान्;  
भूमेर् महदायतनं वृणीष्व,  
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

अनु०—[यम ने उत्तर दिया—हे नचिनेत ! ] तू सौ वर्ष की आयु-वाले बेटे-भोते, बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण, और घोड़े माँग ले, विशाल भूमण्डल भी माँग ले, तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रह । (२३)

सि०अ०—यमराज ने उस को जिज्ञासा की दृष्टि की जाँच के लिए कहा—तुम में तू बहुत सारी सन्तान और उम्र की सम्मी आयु का बर माँग, कि अत्येक सौ साल जीवित रहे । और भूमि से दुनिया, घन, हाथी, घोड़ा, स्वर्ण, और सम्पूर्ण जगत् का स्वामित्व माँग ले, और स्वयं जितनी सम्मी आयु चाहे माँग ले । [२३]

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वर,  
वृणीष्व वित्तं चिरजीविका च ।  
महाभूमौ नचिकेतस् । त्वमेधि,  
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

अनु०—इसी के समान यदि तू कोई और बर समझता हो तो उसे, तथा घन और चिरस्थायिनी जीविका माँग ले । हे नचिनेत ! इस विस्तृत भूमि में तू वृद्धि को प्राप्त हो । मैं तुझे कामनाओं को इच्छानुसार भोगने वाला किये देता हूँ । (२४)

सि०अ०—इन के समान तू और जो कुछ चाहे माँग ले । यह जो तू ने तीसरा बर माँगा है उसे छोड़ कर तू जो चाहेगा मैं तुझे दूँगा । [२४]

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके  
 सर्वान् कामाऽश्नु छन्दत प्रार्थयस्व ।  
 इमा रामा सरथा सत्पुत्र्या—  
 न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः ।  
 आभिर् मत्प्रसाभि परिचारयस्व,  
 नचिकेतो ! मरण माऽनुप्राप्सी ॥२५॥

अनु०—मनुष्यलोक में जो-जो भोग दुर्लभ हैं उन सब भोगों को तू स्वच्छन्दतापूर्वक माँग ले । यहाँ रथ और बाजों के सहित ये रमणियाँ हैं—ऐसी [स्त्रियाँ] मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य नहीं होती । मेरे द्वारा दी हुई इन कामिनियों से तू अपनी सेवा करा । परन्तु हे नचिकेत ! तू मरण [सम्बन्धी प्रश्न] मत पूछ । (२५)

नि०अ०—जो-जो भोग इस लोक में दुर्लभ हैं उन को मुझ से माँग । तू यह समझ न कर कि तू जो चाहेगा मैं उसे दे नहीं सकूँगा । वे अप्सराएँ, सवारियाँ, बाजे गाजे जो किसी व्यक्ति को उपलब्ध नहीं हैं, मुझे सब प्राप्त हैं । वह सब मुझ से ले और अपनी सेवा करा । किन्तु मुझ से यह बात न पूछ कि मृत्यु के अनन्तर क्या होता है । मृतों के विषय में किसी ने प्रश्न नहीं किया है । [२५]

श्रोभावा मर्त्यस्य यदन्तर्कतत्  
 सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज ।  
 अपि सर्वं जीवितमल्पमेव,  
 तवैव वाहास् तव नृत्यमीते ॥२६॥

अनु०—[नचिकेता बोला—] हे यमराज ! ये भोग 'कल रहेगें भी पा नहीं'—इस प्रकार के हैं और मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं । यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है । आप के वाहन और नाच-गान आप के ही पास रहे । (२६)

नि०अ०—नचिकेता बोला—हे यमराज ! जिन वस्तुओं के विषय में आप ने कहा कि मुझ से माँग वे सब बख़र कोटि की हैं और पता नहीं कि ये कब तक रहेगी भी अपना नहीं रहेगी । जो कोई इस की कामना करता है वह अपने सुख के लिए इन की कामना करता है, और यह स्वयं इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करने वाला है । इन में क्या सुख ? और आप जो कहते हैं कि दीर्घ आयु की कामना कर तो जब कि



अन्तत मरना ही है, दीर्घ आयु से क्या लाभ ? इस कारण यह दुनिया, धन,, हापी, घोडा, स्वर्ण, दीर्घ आयु, जाने-झाने और जो अन्य भोग आप ने कहे हैं वे आप ही ने पाये हैं । [२६]

न विस्तेन तपंणीयो मनुष्यो,

लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा ।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्व,

वरस् तु मे वरणीय. स एव ॥२७॥

अनु०—मनुष्य धन से तृप्त नहीं किया जा सकता । [अब] यदि आप को देख लिया है तो धन तो हम पा ही सेंगे । जबतक आप शासन करेंगे हम जीवित रहेंगे, किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है । (२७)

सि०अ०—आप मुझे इन्हे मोक्ष भोग के लिए दे रहे हैं, [परन्तु] धन-दीप्त त कोई बचापि तृप्त नहीं हो सकता । मैं जो आप से मांग रहा हूँ वह क्या है ? जब मैं ने आप को प्राप्त कर लिया तो मानो सब कुछ प्राप्त कर लिया । आप ही सब के प्रेरक हैं । यदि आप मुझ पर कृपालु हैं, तो हम सदा जीवित रहेंगे ही । मेरा वस वही वर है, आप उली का उपदेश करें । मैं दूसरा कुछ नहीं चाहता ।<sup>१</sup>  
[२७]

अजीर्यताममृतानामुपेत्य

जीर्यन् मर्त्यं क्वध स्थ प्रजानन्

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा-

नतिदीर्घे जीविते को रमेत ? ॥२८॥

अनु०—कभी जीर्ण न होने वाले अमरों के समीप पहुंच कर नीचे पृथिवी पर रहने वाला कौन जराग्रस्त बिवेकी [मनुष्य] होगा जो [नेवल शारीरिक] वर्ण के राग से प्राप्त होने वाले [रत्नी-सम्भोग आदि] सुखों

१ 'जब' से लेकर 'चाहता' तक, तिरें अक्बर में, अपने मन्त्र, सहा २५, के अन्तर्गत रखा गया है । अनुवाद ध मूल संस्कृत के क्रम का अनुसरण किया गया है ।

को [अस्थिर रूप में] देखता हुआ भी अति दीर्घ जीवन में सुख मानेगा ? (२८)

सि०अ०—प्रसिद्ध है कि देवताओं को जरा नहीं व्यापती, मृत्यु नहीं व्यापती ! वे महान् होते हैं। इन बड़ों के पाम जा कर कोई इन सुखमय वस्तुओं की कामना नहीं करता। मैं भूमण्डल का निवासी हूँ और जरा तथा मृत्यु से भय खाता हूँ। मेरी कामना है कि मुझे वह उपदेश करें जिस से मैं भी जरा और मृत्यु से मुक्त हो जाऊँ। [२८]

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो !

यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस् तत् ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो

नान्यं तस्मान् नचिकेता वृणीते ॥२९॥

अनु०—हे मृत्यो ! जिस [विद्या] में लोग ऐसा [‘है या नहीं है’] सन्देह करते हैं तथा जो महान् परलोक के विषय में है वह हम से कहिए। यह जो गहराई में अनुप्रविष्ट वर है इस से अन्य और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता। (२९)

सि०अ०—हे यमराज ! मुझे यही उपदेश करें कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है। बड़े-बड़े लोग उस के विषय में सन्तानु हैं। उस का परिचय मृत्यु के पश्चात् परमपद की प्राप्ति कराता है। आप को छोड़ कर कोई ऐसा नहीं है जो मेरा यह वर पूर्ण कर सके। यह विषय अत्यन्त कठिन है। मैं नचिकेता इस वर के अतिरिक्त आप से कोई अन्य वर नहीं माँगता। [२९]

॥ इति प्रथमेऽध्याये प्रथमा वल्ली ॥

## द्वितीया बल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्;

ते उभे नानार्थे पुरुषध सिनीतः ।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु

भवति; हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

अनु०—[यमराज ने कहा—] श्रेय (नि श्रेयस्, भुवित) और है तथा प्रेय (अन्युदय, भुवित) और ही है । भिन्न प्रयोजन वाले वे दोनों पुरुष को बाँधते हैं । उन दोनों में श्रेय ग्रहण करने वाले का बल्याण होता है और जो प्रेय का वरण करता है वह परमार्थ से च्युत हो जाता है । (१)

सि०अ०—यमराज ने कहा—सम्भार में दो वस्तुएँ हैं, एक प्रेय और दूसरा श्रेय । यह दोनों मनुष्य को अपने अधीन रखते हैं । जो श्रेय का अभिलाषी है वह धन्य है और जो प्रेय का अभिलाषी है वह परलोक के बल्याण से वंचित रहता है, जो ही मूल वस्तु है । [१]

श्रेयश् च प्रेयश् च मनुष्यमेतस्,

तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,

प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥

अनु०—श्रेय और प्रेय मनुष्य के पास आते हैं । बुद्धिमान् पुरुष भली भाँति विचार कर उन दोनों में विवेक करता है । विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ही वरण करता है, [विन्दु] मन्दबुद्धि योग-क्षेम के निमित्त से प्रेय का वरण करता है । (२)

सि०अ०—जो धीर और धीमान् है वह इन दो मूल्या (पुरुषार्थों) में से श्रेय को ग्रहण करता है और जो मन्दबुद्धि और मूर्ख है वह प्रेय को ग्रहण करता है और चाहता है कि प्राप्त पदार्थों का सग्रह [क्षेम] करे और अप्राप्त को प्राप्त [योग] करे । और यह वेद्यम भ्रम है, क्योंकि कोई भी वस्तु रहने वाली नहीं है । [२]

स त्व प्रियान् प्रियरूपाध्श्च च कामा

नभिध्यायन नचिकेतो । ऽत्यसाक्षी

नेताश्च सृङ्का वित्तमयीमवाप्तो

यस्या मज्जन्ति वहवो मनुष्या ॥३॥

अनु०—हे नचिकेत ! उस तू ने [पुत्र वित्तादि] प्रिय और [अप्सरा आदि] प्रियरूप भोगों को विचार कर के अस्वीकार कर दिया है तू उस धनप्राया गति को प्राप्त नहीं हुआ जिस में बहुत से मनुष्य डूब जाते हैं । (३)

सि०अ०—हे नचिकेता ! मैं जानता हू कि तू ने मुझ से अपने लिए नश्वर ससार की कोई भी वस्तु नहीं मागी और तू अपनी इच्छा को वाणी में नहीं लाया । जिस की आसक्ति में समस्त ससार डूबा हुआ है तू उस में नहीं फसा । तू ने जाना कि लोक और परलोक परस्पर विरोधी है । [३]

दूरमेते विपरीते विपूची

अविद्या या च विद्यति ज्ञाता ।

विद्याभीप्सिन नचिकेतस मये

न त्वा कामा वहवोऽलोलुपत ॥४॥

अनु०—जो विद्या और अविद्या नाम से ज्ञात है वे दोनों अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली और विपरीत फल वाली है । मैं नचिकेता को विद्याभीलापी मानता हूँ [क्योंकि] तुम विविध भोगों में नहीं जुभाया । (४)

सि०अ०—इन दोनों में भारी भेद है और इन के फल भी परस्पर विरोधी है । शानिया ने जाना है कि इन के बीच दिन और रात्रि का अंतर है । हे नचिकेता ! मैं जानता हू कि तू ब्रह्मज्ञान का ही प्रार्थी है क्योंकि मैं ने तब बहुत सारी वस्तुएं बतायी किन्तु तू ने उन्हें स्वीकार नहीं किया । [४]

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना ,

स्वयधीरा , पण्डितमन्यमाना

दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथाञ्घ्रा ॥५॥

अनु०—वे अविद्या के भीतर रहने वाले, अपने-आप बुद्धिमान् बने हुए, और अपने को पण्डित मानने वाले मूढ, अन्धे द्वारा ही ले जाये जाते हुए अन्ध के समान, भाग दौड़ करते हुए भटकते रहते हैं । (५)

नि०अ०—अनध पण्डित और बुद्धिमान् हैं जिन्हो ने मूर्खता और अज्ञान के कारण अपने वा पण्डित और बुद्धिमान समझ रखा है । उह ससार की कामना है और वे कुभाग पर आरुढ़ हैं । वे दुस भोगेन, जैसे वि अघा अघे के पीछे चल कर दुष पाता है । [५]

न साम्पराय प्रतिभाति बाल,

प्रमाद्यन्त, वित्तमोहेन मूढम् ।

अय लोको, नास्ति पर,—इति मानी

पुन पुनर् वशमापद्यते मे ॥६॥

अनु०—अज्ञानी, धन के मोह से अध, और प्रमाद करने वाले को परलोक-तत्त्व नहीं सूझता । यह लाक है, परलोक नहीं है,—ऐसा मानने वाला बारम्बार मेरे वश (अर्थात् मृत्यु) को प्राप्त होता है । (६)

नि०अ०—परलोक वा तत्त्व से बानबुद्धि अज्ञानी अपनी बुद्धि से नहीं समझते । धन की ममज्ञ यह है कि जो कुछ है यही सौम है और परलोक वा अस्तित्व नहीं । वे जो ऐसा समझते हैं मुझ बन्धर के वश न आ पडग हैं । [६]

श्रवणायापि बहुभिर् यो न लभ्य ,

शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विदुः ।

आश्रयो वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धा,

ऽश्रयो जाता कुशलानुशिष्ट ॥७॥

अनु०—जो बहुतो को तो सुनने के लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुत से सुन कर भी नहीं समझते । उस का प्रवचन करने वाला आश्चर्यरूप है, उस को प्राप्त करने वाला [कोई] निपुण पुरुष ही होता है, तथा कुशल [आचार्य] द्वारा शिक्षित ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है । [७]

सि०अ०—ब्रह्मज्ञान वह वस्तु है जिस के श्रोता भी कम मिलते हैं, और जो सुनते हैं वे समझते नहीं । और इस तत्त्व का जानकार और प्रवक्ता भी दुर्लभ है और इस तत्त्व का प्राप्त करने वाला भी अनम्य है । जिस की बुद्धि बहुत तीव्र है उसे इस तत्त्व की उपवृद्धि होती है और जिस का गुण मित्र गुण है वह इस तत्त्व को समझता है । [७]

न नरेणावरेण प्रोक्त एव

सुविज्ञेयो, बहुधा चिन्त्यमान ।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति,

अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

अनु०—विविध प्रकार से विचार जाने वाला यह [आत्मा] साधारण पुरुष द्वारा कहे जाने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता । [और] किसी अन्य [कुशल आचार्य] के उपदेश के बिना इस आत्मा में गति नहीं [हो सकती], क्योंकि यह अणु परिमाण वाला (अर्थात् सूक्ष्म) से भी अणुतर (अर्थात् सूक्ष्मतर) और दुर्बिज्ञ है । (८)

सि०अ०—यदि कुछ सदोष है और विषय कुशल, तब भी, विषय के पास चाहे जितनी भी बुद्धि हो, उसे ज्ञान नहीं हो सकता । जो शारीर आत्मा के साथ एकीभूत हो चुका हो वही इस तत्त्व का ज्ञान करा सकता है, क्योंकि वह तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है और प्रत्येक सूक्ष्म में सूक्ष्मतर । तर्क उस तक नहीं पहुँच सकता । [८]

नैवा तर्केण मतिरापनेया,

प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।—

या त्वमाप , सत्यधृतिर् वतासि ।

त्वादृष्टं नो भूयान् नचिकेत । प्रष्टा ॥९॥

अनु०—हे प्रियतम ! यह ज्ञान तर्क से प्राप्य नहीं, सम्यक् ज्ञान के लिए इस का प्रवचन [बोर्डे] और ही करता है—यह जो तुझ प्राप्त हुआ है। अहा ! तू निश्चय ही वास्तविक धैर्य वाला है। हे नचिकेत ! हम तेरे ही समान प्रश्न करनेवाला प्राप्त हो। (९)

सि०अ०—वह इन्द्रियानुभव म नहीं आता।<sup>१</sup> गुरु के उपदेश को तब वित्त द्वारा खण्डित नहीं करना चाहिए। हे नचिकेता ! ह मेरे मित्र ! जिस ने वेद का अवगाहन किया है उस न उस तत्त्व का साक्षात्कार किया है वही व्यक्ति भय को भलीभाँति जान करा करता है। तुम इस का ज्ञान हो गया है। वह व्यक्ति भी मनपना है कि तू जान गया है कि समार नश्वर है और दित्त लगावे के योग्य नहीं। तुने सच्ची श्रद्धा है और तेरे समान जिनासु नहीं। मुझे बड़ी इच्छा है कि तू त्वा जिनासु मिने और मुच से पावें पूछे। [९]

जानाम्यहं शैवधिरित्यनित्य,

न ह्यध्रुवं प्राप्यते हि ध्रुव तत् ।

ततो मया नाचिकेतश् चितोऽग्नि-

रनित्यैर्द्रव्यं प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

अनु०—मैं जानता हूँ कि निधि अनित्य है, क्योंकि अनित्य साधनों द्वारा वह नित्य [आत्मा] प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया। [इस प्रकार] अनित्य पदार्थों से मैं नित्य को प्राप्त हुआ हूँ। (१०)

सि०अ०—मैं कर्मों की निधि जीर उसके फल का अनित्य समझता हूँ। जब यह स्वयं अनित्य है तो इस के द्वारा नित्य तत्त्व को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? हे नचिकेता ! मैं ने भी बूझा कि अनुष्ठान किया है इसी कारण स्वयं के बध्नन में इस प्रकार पड़ा हुआ हूँ। यदि मैं बन्धन की इच्छा न करता और केवल तत्त्व का अभ्यास होता तो ब्रह्मभाव को प्राप्त कर मुक्त हो जाता। तेरा साहस इतना बढ़ा हुआ है कि तेरी दृष्टि हिरण्यवज्र पर भी नहीं है। [१०]

१ मूल के अनुसार 'इन्द्रिय' बखवा 'इन्द्रियानुभव' ॥ स्थान पर 'तत्त्व' होना चाहिए था।

कामस्याप्ति, जगत् प्रतिष्ठा,  
 अतोरनन्त्यमभयस्य पारम्,  
 स्तोमं महदुरुगाय, प्रतिष्ठा दृष्ट्वा  
 धृत्या धीरो नचिकेतो । अयस्त्राक्षी ॥११॥

अनु०—हे धीर नचिकेत । तू ने बुद्धिमान् हो कर भोगों की प्राप्ति, जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञफल के अनन्तत्व, अभय की सीमा, महती प्रशंसा, विस्तीर्ण गति, तथा प्रतिष्ठा को देख कर [भी] धैर्यपूर्वक अस्वीकार कर दिया । (११)

सि०अ०—वह ऐसी अवस्था है जिस में सारी कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं । वह सभी लोकों का ठौर, सभी लोकों का फल सभी यज्ञों और कर्मों का फल, और परम गति है । वह उच्चतम अमय-स्थान है । वह प्रज्ञा है । उस में परम ज्ञानियों के सभी स्थान और सिद्धि हैं । उस का मार्ग युक्त हुआ और विस्तीर्ण है । यद्यपि तू जानता है कि तू वहाँ नहीं पहुँच सकता, तथापि तू ने सदबुद्धि और धैर्य के साथ उसे अस्वीकार कर दिया और उस की ओर ध्यान नहीं दिया । [११]

त दुर्दर्श, गूढमनुप्रविष्ट,  
 गुहाहित, गह्वरेष्ठ, पुराणम्  
 अध्यात्मयोगाधिगमेन देव  
 मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

अनु०—उस कठिनता में दीख पड़ने वाले, गूढ [स्थान] में अनुप्रविष्ट, गुहा (रहस्य अथवा बुद्धि) में स्थित, गहन स्थान में रहने वाले, पुरातन देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा जान कर धीर [पुरुष] हर्ष शोक को त्याग देता है । (१२)

मि०अ०—जिस तत्त्व के लिए तूने वह सब अस्वीकार किया है उस तत्त्व की प्राप्ति कठिन है । यह अत्यन्त मुष्ट और अव्यक्त है । उस का वास हृदय गुहा में है । ज्ञान द्वारा उस की प्राप्ति हो सकती है । उस की प्राप्ति में सहस्रों बाधाएँ हैं । वह स्वतः सिद्ध है । ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों को बाहर से भीतर घीब कर, हृदय में ध्यान करते हुए मन को जीवात्मा के साथ एकीभूत कर के और जीवात्मा को आत्मा में



अभिन्न जागते हृण, उम परम ज्योति का ज्ञान प्राप्त कर के सुख और दुःख को त्याग देने हैं । [१२]

एतच्छ्रुत्वा सपरिगृह्य मर्त्यं,  
प्रवृत्त्या धर्म्यमणुमेतमाप्य,  
स मोक्षते मोदनीयं हि लब्ध्वा ।  
विवृतं सद्य नचिकेतस मन्ये ॥१३॥

अनु०—मनुष्य इस [आत्मतत्त्व] को भुन कर और उसे भली भाँति ग्रहण कर, धर्म-ब्रह्म से ऊपर उठ कर इस सूक्ष्म [आत्मा] को पाने से वृद्धि को प्राप्त हो कर, तथा इस मोदनीय की उपलब्धि कर मुदित हो जाता है । मैं [तुझ] नचिकेता को खुला ब्रह्मभवन समझता हूँ । (१३)

मि०अ०—जित्नासु उस आत्मा को मिट्ट मुक्त से श्रवण कर इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि वह आत्मा हम हैं, और शरीर को जो कि नश्वर है आत्मा नहीं मानते । शरीर, इन्द्रिय, और मन से आत्मा को, जो अत्यन्त सूक्ष्म है और जिस से समस्त आनन्द प्राप्त होने हैं, पृथक् जान कर और प्राप्त कर के सदा प्रभुदिन और आनन्द में परिपूर्ण हो जाते हैं । हे नचिकेता ! मैं समझता हूँ कि उस घर का द्वार तैर लिए खुल गया है । [१४]

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्तास्मात् कृताकृतात्,  
अन्यत्र भूताच् च भव्याच् च यत् तत् पश्यसि तद् वद ॥१४॥

अनु०—[नचिकेता बोला—] जिसे आप धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक्, इस कृत और अकृत [वायंवारणरूप प्रपञ्च] से पृथक् और भूत एवं भविष्यत् से अन्य देखते हैं उसे मुझ से कहिए । (१४)

मि०अ०—नचिकेता बोला—बहु आत्मा जो पाप और पुण्य तथा पाप और पुण्य के वन में पृथक् है, स्रष्टा तथा सृष्टि के गुणों से भी परे है, और भूत, वर्तमान, और भविष्य में पृथक् है, उभी आत्मा का जिसे आप जानते हैं मुझे प्रवचन कीजिए । [१५]

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति,  
तपाधसि सर्वाणि च यद् वदन्ति,  
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,  
तत् ते पदञ्च संप्रहेण ब्रवीमि—‘ओम्’ इत्येतत् ॥१५॥

अनु०—सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तप जिस का बखान करते हैं, जिस की इच्छा करने वाले [ध्रुमुशु जन] ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुझ से संक्षेप में कहता हूँ—यह ‘ॐ’ है । (१५)

मि०अ०—यमराज बोले—हे नचिकेत ! सारे वेदों का सार जिस आत्मा के ज्ञान के लिए है और सारी तपस्याएँ और योगों से वीरग्य जिस की प्राप्ति के लिए हैं उसे मैं तुझे संक्षेप में बताता हूँ । वह क्या है ? ॐ है । [१५]

एतद्व्येवाक्षर ब्रह्म, एतद्व्येवाक्षर परम् ।  
एतद्व्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

अनु०—यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है । इसी अक्षर को जान कर जो जिस की इच्छा करता है वह उस का हो जाता है । (१६)

मि०अ०—यही अक्षर प्रणव ब्रह्म है, सब से महान है । इसी शब्द को समझ कर यदि ब्रह्मपद की अभिलाषा होगी तो तू ब्रह्मपद प्राप्त करेगा । और यदि तू सतीम की अभिलाषा करेगा तो सतीम को प्राप्त करेगा, क्योंकि यह महान् शब्द असौम भी है और सतीम भी । [१६]

एतदालम्बनञ्च श्रेष्ठमेतदालम्बन परम् ।  
एतदालम्बन ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

अनु०—यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही परम आलम्बन है । इस आलम्बन को जान कर पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है । (१७)

मि०अ०—यही तत्त्व परम आलम्बन है, जिस के समान दूसरा आलम्बन नहीं । जो कोई इस आलम्बन को जानता है वह साक्षात् ब्रह्मलोक को प्राप्त कर परमानन्द हो जाता है । [१७]

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्,

नाथ कुतश्चिन्, न बभूव कश्चित् ।

अजो, नित्य, शाश्वतोऽयं, पुराणो,

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥<sup>१</sup>

अनु०—यह विपश्चित् (ज्ञानवान् आत्मा) न उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न तो किसी कारण से उत्पन्न हुआ है और न [स्वतः ही] कृच्छ्र बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुरातन है, तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। (१८)

सि०अ०—वह आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है। वह सर्वज्ञ है। वह न किसी वस्तु से उत्पन्न हुआ है और न उस से कोई वस्तु उत्पन्न हुई है। उस को उत्पत्ति वा कोई कारण नहीं। वह स्वतः विद्य, शाश्वत अविनाशक, और स्थायी है। वह शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। [१८]

हन्ता चेन् मन्यते हन्तुध, हतश् चेन् मन्यते हतम्,

उभौ तौ न विजानीतो, नायध हन्ति न हन्यते ॥१९॥<sup>२</sup>

अनु०—यदि मारने वाला आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते, क्योंकि वह न तो मारता है और न मारा जाता है। (१९)

सि०अ०—जो समझता है कि मैं हन्ता हूँ और जो समझता है कि मैं हत हूँ, उन दोनों ने शून्य समझा है। आत्मा को न कोई मार सकता है और न आत्मा मारा जाता है। हनन और नाथ शरीर का होता है न कि जीव वा जो आत्मा है। [१९]

१ यह अक्षर सिद्धि पाठभेद के साथ गीता (२.२०) में भी आता है।

२ यह अक्षर सिद्धि पाठभेद के साथ गीता (२.१६) में भी आता है।

अणोरणीयान् महतो महीया-

नात्माऽस्य जन्तोर् निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतु पश्यति वीतशोको

धातु प्रसादान् महिमानमात्मन ॥२०॥

अनु०—जीव की [हृदयरूपी] गुहा में निहित आत्मा अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर है। निष्काम पुरुष विधाता के प्रसाद से, शोकरहित हो कर, आत्मा की उस महिमा को देखता है। (२०)

सि०अ०—आत्मा सूक्ष्मो मे सूक्ष्मतम है और महानो मे महत्तम। वह आत्मा सभी प्राणियों के हृदय में है। यद्यपि वह सब में है तथापि जो विष्काम है, जो कर्म का फल दृष्टि में नहीं रखता, जो शोकरहित हो चुका है, और जिस ने चित्त को शुद्ध कर लिया है उस में अतिरिक्त दूसरे को उस का साक्षात्कार नहीं होता। जो ऐसा है वही अपने आत्मा की महिमा को देखता है। [२०]

आसीनो दूर व्रजति, शयानो याति सर्वत ।

कस् त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ? ॥२१॥

अनु०—वह स्थित हुआ [भी] दूर तक जाता है, शयन करता हुआ [भी] सब ओर पहुँचता है। मद (हर्ष) से युक्त और मद से रहित उस देव को [भला] मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? (२१)

सि०अ०—वह आत्मा यद्यपि गति-रहित है, तथापि सारी गतिजों उस की गतिजों हैं। वह शयन में भी सर्वत्र पहुँचता है। यद्यपि वह साक्षात् आनन्द है तथापि

१ भारतीय जीवन-दृष्टि में कर्म का प्राधान्य है। यहाँ तक कहा गया है कि ईश्वर-रूपि भोक्तृत्व वृत्त कर्म शुभाशुभम् अर्थात् शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वरों की भी मोक्षदा पदता है। ॥१॥ के निघ्नित सप्ती (बहुरी, ईश्वर, और इत्यादि) पर्वों में ईश्वरानुग्रह का आप्रह देखने की मिलता है। अर्थात् कर्म के निवा भी ईश्वर का अनुग्रह कयदा प्रसाद जीव को कुछ से कुछ बना देता है। वैष्णवों में भी इस ईश्वरानुग्रहवाद का पर्याप्त महत्त्व है। इस ॥ मूल प्रस्तुत मध्य तथा आवासीय मध्य २२ में निघ्नमन्त है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.२०, मुण्डकोपनिषद् ३.२.३, तैत्तिरीयारण्यक १० १० १ (अथवा महानारायणीवैष्णविक ८ ३), और अम्येद १० १२५ १ में भी इस के जीव मिल जाते हैं।

यह आनन्द से भी परे है। आत्मा चूँकि साक्षात् अहम् है उसे मेरे सिवा कौन जान सकता है ? अर्थात् आत्मा अपने को स्वयं समझता है। [२१]

अशरीरश्च शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्

महान्त, विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

अधु०—शरीरो न शरीररहित, अस्यायियो न स्वायी, महान और सर्वव्यापक आत्मा को जान कर धीर [पुरुष] शोक नहीं करता। (२२)

सि०अ०—आत्मा प्रकाशस्वरूप अशरीर मूर्ति भवति के शरीर न विद्यमान महान् और विभु है। जो कोई आत्मा को ऐसा जानता है वह शोक रहित हो जाता है। [२२]

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,

न मेधया, न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष धृणुते तेन लभ्यस्,

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनून् स्वाम् ॥२३॥'

अनु०—यह आत्मा न [शास्त्र के] प्रवचन, न मेधा, न अधिव्यापणित्य से प्राप्त हो सकता है। यह जिस वा वरण करता है उसी द्वारा यह प्राप्त किया जा सकता है। उस के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। (२३)

सि०अ०—उस सब लोग नहीं प्राप्त कर पाते क्योंकि वह अभिधान (निष्पन्न) मोर उपन्यास (इति) न नहीं आता। वेद-वाक्यों के पाठ मेधा और बहुत सारे श्रमों के अनुष्ठान मात्र से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो आत्मा को अभिधाया करता है वह आत्मा को प्राप्त करता है। आत्मा स्वयं अपना स्वरूप उस पर प्रकट कर देता है। [२३]

नाश्रितो दुश्श्रितान्, नाशान्तो, नासमाहित,

नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेन न माप्नुयात् ॥२४॥

अनु०—जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं जो अशान्त है, जो असमाहित

है, और जिस का चित्त अशान्त है वह इसे ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता । (२४)

सि०अ०—जो कोई दुष्कर्मों से निवृत्त नहीं होता जिस का हृदय शांत नहीं है, और जिस की इन्द्रियाँ वश में नहीं है वह आत्मा को प्राप्त नहीं करता । जो कोई इन्द्रियों को वश में कर लेता है और जिस का मन शान्ति प्राप्त कर लेता है वह ज्ञान और प्रज्ञा के कारण आत्मा को प्राप्त कर लेता है । [२४]

यस्य ब्रह्म च क्षत्त च उभे भवत ओदन,  
मृत्युर्दस्योपसेचन, क इत्या वेद यत्त स ? ॥२५॥

अनु०—जिस के साह्यण और क्षत्रिय दोनों ओदन (भात) है तथा मृत्यु जिस का उपसेचन (खावादि, मिर्च-मसाला) है उसे वस्तुतः कौन जान सकता है कि कहाँ है ? (२५)

सि०अ०—समस्त ससार उस आत्मा के भोजन के लिए भात के सदृश है और मृत्यु उस मिर्च मसाले के सदृश जिसे भात के साथ खाते हैं । ऐसे आत्मा को जिस के लिए मृत्यु सम्पूर्ण ससार के साथ भोजन है कौन जान सकता है कि कहाँ है ? [२५]

॥ इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली ॥

### तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके  
गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे ।  
छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति  
पञ्चाग्नयो मे च त्रिणाचिकेता ॥१॥

१ ऋतं शब्द एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यापक और सारगम वैदिक शब्द है । यह प्रायः सत्य के साथ प्रयुक्त पाया जाता है । धर्म शब्द संस्कृत वाङ्मय में जिन व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है उन अर्थों में यह समस्त ऋत का ही उद्भव हुआ है । इस का अनुवाद तो कठिन ही नहीं असम्भव है किन्तु सामान्यतः इसे उन नियमों की समष्टि समझना चाहिये जिन से विश्व संचालित है । इन नियमों में अन्तर्दृष्टि का नाम तात्त्विक अर्थ में सत्य है । परमेश्वर का नाम कहीं-कहीं ऋतम्बर आया है (जैसे श्रीमद्भागवत ६.१३.१७ में) जिस का

अनु०—ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि बुद्धिरूप गुहा के भीतर परम परार्ध में प्रविष्ट कर्मफल को भोगने वाले छाया और धूप के समान दो [तत्त्व] हैं। जिन्हो ने तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन किया है वे पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले भी यही बात कहते हैं। (१)

सि० अ०—शरीर में हृदयरश्मि में, जहाँ बुद्धि का निवास है, दो आत्मा हैं—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। बर्षों के फल के भोक्ता दोनों हैं और परमात्मा कौतुक प्रष्टा भाव। किन्तु दोनों ही परस्पर एक हैं। मतएव कहा गया कि दोनों भोक्ता हैं। ब्रह्मज्ञो, ज्ञानियो, साधको, कर्मयोगियो ने इन दो आत्माओं में प्रकाश और छाया का सम्बन्ध माना है। परमात्मा प्रकाश-स्थानी है और जीवात्मा छाया-स्थानी। [१]

अर्थ हुआ सृष्टि का विनाशक। भोगमूर्त में जिस प्रकाश को 'अक्षतमत्ता' (अक्षतमरा तय प्रकाश ५-१.४८) कहा दी गयी है वह इसी अक्ष में अन्तर्दृष्टि को धारण करने वाली होती है। अक्षवेद में यह भी कहा गया है कि 'अक्षत् च सत्त्वत् चाभीष्टात् तपसीऽध्यव्ययत्' (१०. १६०.१), अर्थात् अक्ष और सत्त्व प्रवृत्ति तप से उत्पन्न हुए। इस में समस्त सृष्टि की आद्य परिकल्पना की और इहित है।

'अक्ष' शब्द का निकटतम सन्देहतर पर्याय लुटी शताब्दी ईसा-पूर्व के ग्रीसी दार्शनिक हेराक्लिटस का सात्त्विक शब्द 'लोगस' है, जिसे ही नाइबिल में भी, अर्थात्तर से, ले लिया गया है।

प्रस्तुत उपनिषद् के विचाराधीन मंत्र में प्रयुक्त 'अक्ष' शब्द का अर्थ बर्ष अथवा कर्मफल प्रतीत होता है।

इस मंत्र में बुद्धि में दो तत्त्व बताये गये हैं। शंकराचार्य के अनुसार ये दोनों तत्त्व जीवात्मा और परमात्मा हैं। उन का संकेत अक्षवेद के प्रसिद्ध मंत्र (१२६४२०)—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।

तयोर्न्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनघ्नं न्यो अभि चाकशीति ॥

की आर है, जिस में प्राय दो आत्माओं—भाका और सादी—का वर्णन समझा जाता है। परन्तु उपनिषद् के आलोच्य मंत्र में तो दोनों का भाका कहा गया है, जिस का क्यावत् समानान शंकर की व्याख्या से नहीं हो पाता। अनुवादक का सुचिन्तित मत है कि यहाँ उन दो आत्माओं की ओर संकेत है जिन्हें महामाध्यकार पदञ्जलि ने शरीरात्मा और अन्तरात्मा की कहा दी है। अन्तरात्मा के कर्म का फल शरीरात्मा और शरीरात्मा के कर्म का फल अन्तरात्मा भोगता है। (द्वावात्मानौ—शरीरात्मा अन्तरात्मा च। अन्तरात्मा तद् कर्म करति येन शरीरात्मा सुखं से अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखं से अनुभवति। महामाध्य ३ १८७ १०, १३.६७६)

य सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यत् परम्  
अभय तिलीपंता पार नाचिकेतं शकेमहि ॥२॥

अनु०—जो यजन करने वालों के लिए सेतु है उस नाचिकेत अग्नि को तथा जो भयशून्य है और ससार को पार करने की इच्छा वालों का परम आश्रय है उस अक्षर ब्रह्म को जानने में हम समर्थ हो । (२)

सि० अ०—हे नाचिकेत ! नाचिकेत अग्नि वह सेतु है जो यजमान को इस लोक के पार पटुषा देती है और परब्रह्म जो ब्रह्मलब्ध है और अप्रमूय और अव्यय है उस पुरुष को ससार से पार कर देता है जो इस लोक से मुक्ति की कामना करता है । इस महान् शब्दा और इस महान् कर्म को मैं जानता हूँ । [२]

आत्मानं रश्मिं विद्धि, शरीरं रश्मिमेव तु,  
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

अनु०—तू आत्मा को रश्मी जान [और] शरीर को रश्मि, बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम । [३]

सि० अ०—परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त शरीर रश्मि है इन्द्रियो रश्मि के बाहुक घोड़े मन घोड़ों के खींचने के लिए लगाम बुद्धि सारथि और जीवात्मा रश्मि का स्वामी है जो उस पर आरुढ़ है । [३]

इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्, विषयाधस्तेषु गोचरान्,  
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर् मनीषिणः ॥४॥

अनु०—मनीषी इन्द्रियो को घोड़े बतनाते हैं उन की ऐसी स्थिति में विषयो को माग और इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं । (४)

सि० अ०—इन्द्रियो ने विषय रश्मि हाँकने के माग हैं । यही कारण है कि जीवात्मा को जो दस रश्मि का स्वामी और सवार है कर्मों के फल का भोक्ता कहा जाता है । [४]

यस् त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा  
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्चा इव सारथे ॥५॥



अनु०—जो सदा अविवेकी एव असयत चित्त से युक्त होता है उस की इन्द्रियाँ उसी प्रकार उस के वश के बाहर होती हैं जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के [वश के बाहर होते हैं] । (५)

सि० अ०—चित्त की बुद्धि, जो रथ के सारथि के समान है, रथ हँकने में निपुण है और [जिस वा] घोड़े को वश में रखने वाले तगम के सदृश मन [उस रथ को] सम्यक् रूप से ले चलता है अथवा उसी के वश में होंगे । [५]

यस् तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा  
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदम्भा इव सारथे ॥६॥

अनु०—परन्तु जो विवेकवान् और सदा समाहित चित्त से युक्त होता है उस की इन्द्रियाँ उसी प्रकार वश में होती हैं जैसे सारथि के अधीन अच्छे घोड़े । (६)

सि० अ०—[वह] रथ के स्वामी और सवार अर्थात् जीवात्मा को ऐसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित करेगा जहाँ से नीटना नहीं होता । यह साक्षात् ब्रह्मपद और परमपद है । [६]<sup>१</sup>

यस् त्विज्ञानवान् भवत्यमनस्क सदाऽशुचि  
न स तत् पदमाप्नोति सधसार चाधिगच्छति ॥७॥

अनु०—जो अविवेकी, असयतचित्त, और सदा अपवित्र होता है वह उस पद को नहीं प्राप्त कर सकता, और ससार को प्राप्त होता है । (७)

यस् तु विज्ञानवान् भवति, समनस्क, सदा शुचि  
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

अनु०—विन्तु जो विवेकवान्, समतचित्त, और सदा पवित्र होता है वह तो उस पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से वह फिर जन्म नहीं लेता । (८)

१ सिद्धे अक्षर में मंत्र ७ और ८ पर स्वतंत्र टीका नहीं प्राप्य होती । इन का मारग्य मंत्र ६ और १ वी टीका में आ गया है ।

विज्ञानसारथिर् यस् तु मन प्रग्रहवान् नर  
सोऽध्वनः पारमान्नोति तद्विष्णो परम पदम् ॥९॥

अनु०—जिस पुरुष का विवेक सारथि है और मन लगाम, वह (समृति) मार्ग के पार उस विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेता है। (९)

सि० अ०—यदि बुद्धि जो रथ के सारथि के समान है, अज्ञानी है, तो अश्व उस के पार में नहीं होंगे और उस परमपद को प्राप्त नहीं करायेंगे। वे अधम भूमि पर बाल दौरे को नरक का द्वार है। [९]

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश्च पर मन,  
मनसस् तु परा बुद्धिर्, बुद्धेरारमा महान् पर' ॥१०॥

अनु०—इन्द्रियो से विषय उत्कृष्ट है और विषयो से मन, मन से बुद्धि उत्कृष्ट है और बुद्धि से महान् आत्मा (महत्तत्त्व)। (१०)

सि० अ०—परब्रह्म पद की प्राप्ति अति कठिन और सूक्ष्म है, जिस का प्रथम आवरण इन्द्रियाँ हैं और द्वितीय आवरण महाभूत हैं जिन से इन्द्रियो की उत्पत्ति

१ इस मंत्र में बुद्धि से श्रेष्ठ महावाक्मा कथित है। महावात्मा का अर्थ शक्राचार्य ने महत्तत्त्व अथवा हिरण्यमर्म किया है। इस अर्थ की पुष्टि किसी न किसी रूप में महाभारत से भी होती है। महाभारत में वह शब्द कई स्थानों पर आया है (अनुशामन पर्व १४.४१६-४१७, आश्रमवैश्वि पर्व ३४.४७, ४०.१-६; ४२.६१-६२, ४०. १३-१६, ४४-४५)। कहीं-कहीं तो प्रस्तुत तथा अगला मंत्र भी बहुत मोड़े पाठ-भेद के साथ आया है। यह मंत्र किञ्चित् पाठ-भेद के साथ गीता (२.४२) में भी आता है, जिस के अन्तिम शब्द 'स' ('यो बुद्धे परतस् तु स') का अर्थ भी वस्तुतः उपविशन्मन्त्र को ध्यान में रखे बिना नहीं सुन सकता। अस्तु गीतार्थ के विवेचन का यह स्थल वहीं है।

एक दूसरी दृष्टि से, उपनिषद् में प्रयुक्त महावात्मा शब्द का अर्थ 'अहंकार', 'काम', अथवा 'मूल वासना' भी हो सकता है। वस्तुतः महाभारत (शान्तिपर्व १७७.४२) के एक श्लोक—

‘अप्रतप्ता सप्तम काम हत्वा शुभ्रचित्तमयं  
प्राप्यानघ्य ब्रह्मपुर रज्जिन स्यामह सुमी ॥’

के अनुसार ७ वें चक्र पर काम का ही स्थान है। गीता के श्लोक में प्रयुक्त 'स' शब्द से भी काम का ही अन्वेषण होता है, ब्रह्म अथवा आत्मा का नहीं, क्योंकि उस के पूर्वगामी श्लोक ४१ में काम का ही कर्ण हुआ है।

हुई है। इन से उच्चतर आवरण मन है, उस से उच्चतर आवरण बुद्धि, और उस से उच्चतर आवरण हिरण्यगर्भ है जो महाभूतो का अधिष्ठान है। [१०]

महत्तः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।

पुरुषान् न परं किञ्चित्, सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

अनु०—महत्तरे से अव्यक्त (मूलप्रकृति) उत्कृष्ट है और अव्यक्त से पुरुष उत्कृष्ट है। पुरुष से उत्कृष्ट कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा है, वही परागति है। (११)

सि० अ०—उस से भी उच्चतर आवरण प्रकृति है जो गुणतय की साम्यावस्था है। उस से भी ऊँचा आत्मा है जो सर्वत्र व्यापक है। वही परागति और पराकाष्ठा है। उस से उच्चतर और कोई पद नहीं है। [११]

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्रथया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

अनु०—सम्पूर्ण भूतो में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित (व्यक्त) नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है। (१२)

सि० अ०—यही आत्मा हिरण्यगर्भ से से कर वृष तब सभी महाभूतो और प्राणियों में निगूढ है। इसी कारण उस का स्वल्प प्रकट नहीं है। जो पुरुष सूक्ष्मदर्शी और कुणाग्रबुद्धि हैं वे उस अद्वैत तत्त्व को देखते हैं। [१२]

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्, तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि,

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

अनु०—विवेकी पुरुष वाणी और मन का नियमन करे, उस (मन) को ज्ञानस्वरूप आत्मा में नियुक्त करे, ज्ञान को महत्तत्त्व में नियुक्त करे, और महत्तत्त्व को शान्त आत्मा में नियुक्त करे। (१३)

सि० अ०—यह तो अपनी इन्द्रियों को एकाग्र कर के मन में सीन कर देते हैं, उस के पश्चात् मन को बुद्धि में सीन कर देते हैं, बुद्धि को जीवात्मा में सीन कर देते हैं, जीवात्मा को महान् आत्मा में सीन कर देते हैं, और महान् आत्मा को अन्तः [आत्म-तत्त्व अथवा परमात्मा] में सीन कर देते हैं। [१३]

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्गं पथस् तत् क्वयो वदन्ति ॥१४॥

अनु०—उठो, जागो, सत्पुरुषों के समीप जा कर ज्ञान प्राप्त करो । सत्त्वज्ञानी लोग उस दुर्गम पथ को सीढ़ण और दुस्तर छुरे की धार बतलाते हैं । (१४)

सि० अ०—इस के पश्चात् यमराज बोले—प्रमाद निद्रा, अज्ञान, और मूर्खता में फँसे हुए और सोए हुए लोगों । जाग जाओ और प्रयत्न कर के आत्मज्ञानी सिद्ध पुरुषों के पास जा कर आत्मज्ञान प्राप्त करो, क्योंकि उस आत्मा तक पहुँचना कठिन है और छुरे की धार से भी तेज । उस के तेज होने के कारण उस पर पांव नहीं रखा जा सकता । प्राणी और जानियों ने इस मार्ग को ऐसा ही बतलाया है । [१५]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय,

तथाऽरस, नित्यमगन्धवच् च यत्,

अनाद्यनन्त, महत् पर, ध्रुव,

निचाय्य तन् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥१५॥

अनु०—जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, तथा रसरूप, नित्य, गन्धरहित, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी महान्, और ध्रुव है उसे जान कर [पुण्य] मृत्यु के मुख से छूट जाता है । (१५)

सि० अ०—यह मार्ग उस सत्ता तक पहुँचने का है जो अशब्द है और वर्ण, ध्वनि, स्पर्श, और रस से परे । वह अव्यय है, अरस है नित्य है । उस में गद्य नहीं है । उस का आदि और अन्त नहीं है । वह बुद्धि से अप्रकृत है और ध्रुव है । जो समार्ग पर चल कर उस की विज्ञप्ति करता है वह उसे जान लेता है और मृत्यु के मुख से छूट जाता है । [१६]

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

अनु०—मृत्यु की कही हुई नाचिकेता की सनातन कथा को कह और सुन कर मेधावी [पुरुष] ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है । (१६)

सि० अ०—यह बातलाप जो यमराज और नचिकेता के बीच हुआ है सदा रहने वाला है। जो जानो पुरुष इस का प्रवचन करता है और सुनता है वह परब्रह्म को प्राप्त करने शाश्वत आनन्द में मग्न रहता है। [१६]

य इम परम गुह्य श्रावयेद् ब्रह्मससदि

प्रयत श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते,

तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

अनु०—जो पुरुष इस परम रहस्य को सत्य हो कर ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में सुनाता है [उस का] वह [कर्म] अनन्त फल वाला होता है, अनन्त फल वाला होता है। (१७)

सि० अ०—जो अपने गुह्य और अभ्यन्तर को पवित्र घर के ब्रह्म के निजातुओं का इस गुह्य रहस्य को सुनाता है और श्राद्धकाल में जपिज्ञातुओं को भी सुनाता है वह अनन्त फल को प्राप्त करता है। [१७]

॥ इति प्रथमेऽध्याये तृतीया वल्ली ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

## द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमा वल्ली

पराश्वि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्,

तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

यश्चिद् धीर प्रत्यगात्मानमैक्ष-

दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

अनु०—स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रिया को वेष्ट कर वे यहिर्मुख कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयो को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। अमरत्व की इच्छा करते हुए चक्षु [आदि इन्द्रियो] को रोक् लेने वाला कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है। (१)

सि० अ०—आत्मा को कोई नहीं देखता। इस का कारण यह है कि आत्मा ने उस को इन्द्रिया का अपनी ओर खींच कर बहिर्मुख कर दिया है। इस कारण

वह बाह्य विषयो को देखता है और आत्मा को नहीं देखता जो कि भीतर है, क्योंकि वह स्वामी है, जो चाहता है करता है, सिवाय उस के जो परमात्मा नहीं चाहता। ज्ञानियो और धीर पुरुषों में कोई ही मोघ की इच्छा से अपनी इन्द्रियों को बाहर से भीतर ले जा कर आत्मा को देखता है। [१]

पराच कामाननुयन्ति वालास्

ते मृत्योर् यन्ति विततस्य पाशम् ।

अय धीरा अमृतत्व विदित्वा

ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रारयन्ते ॥२॥

अनु०—अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे लगे रहते हैं। वे सर्वत्र व्याप्त मृत्यु के पाश में पड़ते हैं। किन्तु धीर पुरुष अमरत्व को ध्रुव (निश्चल) जान कर ससार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते। (२)

सि० अ०—बालबुद्धि अज्ञानी बाह्य विषयों में फँस जाते हैं। इस कारण वे महामृत्यु के पाश में फँस जाते हैं जो उन्हें सर्वत्र आबद्ध करता है और वे उस से बाहर नहीं निकल पाते। यही कारण है कि अज्ञानी पुरुष अमर और ध्रुव तत्त्व को जान कर मश्वर वस्तुओं की आकांक्षा नहीं करते। [२]

येन रूप, रस, गन्ध, शब्दान्, स्पर्शान् च, मैथुनान्

एतेनैव विजानाति, किमत्र परिशिष्यते ? एतद् वै तत् ॥३॥

अनु०—जिस इस [आत्मा] के द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, और मैथुनजन्य सुखों का अनुभव करता है उस [आत्मा] से इस लोक में और क्या बचता है ? [तुम तत्त्विकता का पूछा हुआ] वह [तत्त्व] निश्चय यही है। (३)

सि० अ०—वह जो इस शरीर में इन्द्रियों का प्रेरक है रूप, रस, और गन्ध का अनुसाहक है शब्द का धोता स्पर्श और मैथुन के आनन्द का भोक्ता है जीवात्मा है। प्रत्येक इन्द्रिय अपना नियत कार्य करती है, वह दूसरा कार्य नहीं कर सकती। यह इसी से जाना जाता है कि आत्मा शरीर से पृथक् है और सब का प्रेरक है। यह जीवात्मा आत्मा है। [३]

स्वप्नान्त जागरितान्तं चोभौ धेनानुपश्यति,  
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

अनु०—जिस के द्वारा मनुष्य स्वप्न के विषयभूत और जाग्रत् के विषयभूत, दोनों प्रकार के पदार्थों को देखता है उस महान् और विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक नहीं करता । (४)

सि० अ०—वह जो स्वप्न में देखता है, जागरण में देखता है, वह महान् और विभु है । धीर पुरुष उस की खोज कर के दुःख से छूट जाते हैं । [४]

य इमं मध्वद<sup>१</sup> वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्  
ईशानं भूतभव्यस्य, न ततो विजुगुप्सते । एतद् वै तत् ॥५॥

अनु०—जो पुरुष इस कर्मफलभोक्ता, भूत-भविष्य के शासक, आत्मा को निवट से जानता है निश्चय यही वह [आत्मतत्त्व] है । (५)

सि० अ०—जो कोई इस जीवात्मा को, जो सि निवटतर है और कर्म के फलों का भोक्ता है, भूत, वर्तमान, और भविष्य के शासक के रूप में जानता है, उस क्षण में मनुष्यों का भय तथा सभी भय छूट जाते हैं । क्या जाना ? कि यह जीवात्मा यही आत्मा है । [५]

य. पूर्व तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत  
गुहा प्रविश्य तिष्ठन्त यो भूतेभिर् व्यपश्यत । एतद् वै तत्<sup>२</sup> ॥६॥

अनु०—जो पूर्वकाल में तप से उत्पन्न हुआ वह जस [आदि भूतों] से पूर्व उत्पन्न हुआ था । जो प्राणियों की [बुद्धिरूप] गुहा में स्थित हो कर देखता है, निश्चय यही वह है । (६)

सि० अ०—छाया, जिस की प्रथम मृष्टि दृश्यमान है और जो सभी प्राणियों के हृदय की गुहा में विराजमान है, महाभूतों से आच्छाद्य होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता । यह वट पुष्प वही आत्मा है, यह प्रथम पुरुष वही आत्मा है । [६]

१ 'मध्वद' शब्द श्रामेद (१.१६४.२२) में भी प्रयुक्त हुआ है । यहाँ इस का अर्थ है 'मनु + यद' = जल का शोषण करने वाला । यह 'सुषुप्ता' (अर्थात् निद्रा) के शोषण के रूप में आया है । उपनिषद् में उस के अर्थ का किंचित् विस्तार हो कर उस का तात्पर्य 'मेधा' हो गया है ।

२ इमं मत्र का पाठ किंचिन् सप्त प्रतीत होता है ।

या प्राणेन सभक्त्यदितिर् देवतामयी

गुहा प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर् व्यजायत । एतद् वै तत् ॥७॥

अनु०—जो देवतामयी अदिति प्राण से प्रकट होती है तथा जो [बुद्धिरूप] गुहा में प्रविष्ट हो कर रहने वाली और भूतों के साथ ही उत्पन्न हुई है, निश्चय यही वह है । (७)

सि० अ०—ब्रह्म जो साक्षात् हिरण्यगर्भ बन कर सम्पूर्ण सृष्टि के रूप में प्रकट हुआ है जिस में सभी देवता और इन्द्रियों के देव विद्यमान हैं, जो सभी ऐन्द्रिय विषयों का भोक्ता है और जो हृदय की गुहा में निवास करता है वह सभी प्रकार के महामृत हो कर स्थित है । वह वही आत्मा है । [७]

अरण्योर् निहितो जातवेदा गर्भे इव सुभृतो गर्भिणीभि,  
दिवे दिव ईडधो जामृवद्भिर् हविष्मद्भिर् मनुष्येभिरग्नि ।

एतद् वै तत् ॥८॥

अनु०—गर्भिणी स्त्रियो द्वारा भली प्रकार पोषित गर्भ के समान जातवेदा (अग्नि) दोनों अरणियों के बीच में स्थित है और प्रमाद शून्य तथा होमसामग्री-युक्त पुरुषों द्वारा नित्यप्रति स्तुति किये जाने योग्य है । यही वह है । (८)

सि० अ०—जो काष्ठ में निहित है और जिस पर देवता सावधान दृष्टि रखते हैं वह गर्भ के समान है जो पेट में छिपा होता है और जिस पर गर्भिणी सावधान दृष्टि रखती है । विद्वान् ब्राह्मण प्रतिदिन हवनकाल में अग्नि की स्तुति करते हैं । यह अग्नि वही आत्मा है । [८]

यतश् चोदेति सूर्योऽस्त यत्र च गच्छति

त देवा सर्वे अपितास् तदु नात्येति कश्चन । एतद् वै तत् ॥९॥

अनु०—जहाँ से सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त हो जाता है उस में सम्पूर्ण देवता अपित हैं । उस का कोई भी उत्सर्जन नहीं कर सकता । यही वह है । (९)

१ इस मंत्र का पाठ किञ्चित् अष्ट प्रतीत होता है ।

२ यह मंत्र किञ्चित् पाठ-भेद के साथ ऋग्वेद (३.२४.२) में भी आता है ।



मि० अ०—मूर्ख, जिस से देवता सम्बद्ध हैं, उन अरों के समान है जो रथ की नाभि में सुदृढ़ हैं। जिस स्थान से वह उदित होता है और जिस स्थान में वह अस्त होता है उस स्थान से आगे कोई नहीं जा सकता। वह स्थान यही आत्मा है। [९]

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

अनु०—जो [तत्त्व] यहाँ है वही वहाँ है और जो वहाँ है वही यहाँ है। जो विश्व को नाना रूप में देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को [अर्थात् जन्म-मरण को] प्राप्त होता है। (१०)

सि० अ०—जीवात्मा जो अन्तःकरण में प्रतिष्ठित है, यही आत्मा है जो सत् है, चिद्रूप है, और आनन्दस्वरूप है। और आत्मा जो सत् है, चिद्रूप है, और आनन्द-स्वरूप है, यही जीवात्मा है जो अन्तःकरण में विद्यमान है। जो कोई इस आत्मा को पृथक् देखेगा, वह जिस लोक में भी जायगा वहाँ मृत्यु के हाथ से छुटकारा नहीं प्राप्त करेगा। [१०]

मनसैवेदमाप्तव्य, नेह नानाऽस्ति किंचन ।

मृत्यो स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

अनु०—मन से ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस में नाना है ही नहीं। जो इसे नाना रूप में देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है। (११)

मि० अ०—होना यह चाहिए कि सदा अपन मन में वह चिन्तन करता रहे कि मैं वह हूँ, कि जीवात्मा आत्मा है, कि भेद कुछ नहीं है, और कि जो कोई मुझे और उस भिन्न जानेगा वह जिस लोक में भी जाय उसे मृत्यु के हाथ से छुटकारा नहीं। [११]

अगुष्ठमात्रं पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद् वै तत् ॥१२॥

अनु०—अगुष्ठपरिमाण, भूत और भविष्य का शासक पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है। निश्चय यही वह है। (१२)

सि० अ०—जो कोई उस ज्योति को, जो हृदय के मध्य पुरुष के अगुष्ठ के बराबर निहित है, मूल, वर्तमान, और भविष्य का स्वामी जानता है, वह सभी भगों से मुक्त हो जाता है और उसे प्राण का भी घब नहीं होना। वह यही आत्मा है। [१२]

अगुण्ठमात्र पुरुषो, ज्योतिरिवाधूमक,  
ईशानो भूतभव्यस्य, स एवाद्य स उ श्व । एतद् वै तत् ॥१३॥

अनु०—पुरुष अगुण्ठमात्र, भूत भविष्य का शासक, और धूमरहित ज्योति के समान है। वही आज है और वही कल रहेगा। निश्चय यही वह है। (१३)

मि० ४०—वह पुरुष जो मनुष्य के अगुडे के बराबर है, और जिस की ज्योति निर्धूम अग्नि के समान है और जो भूत वर्तमान और भविष्य का स्वामी है और जिस के लिए आज और कल बराबर है वही आत्मा है। [१३]

यथोदक दुर्गे वृष्ट पर्वतेषु विधावति,  
एव धर्मान् पृथक् पश्यस् तानेवानुविधावति ॥१४॥

अनु०—जिस प्रकार दुर्गम (ऊँचे) स्थान में बरसा हुआ जल पर्वतो में वह निकलता है उसी प्रकार गुण धर्मों (अथवा पदार्थों) को पृथक्-पृथक् देख कर जीव उन्हीं को प्राप्त होता है। (१४)

मि० ४०—जिस प्रकार बषा पर्वत के ऊपर होती है और उस पर्वत के चारों ओर से पानी नीचे बहता है उसी प्रकार समस्त गुण धर्मों की सृष्टि वह एक आत्मा है। [१४]

यथोदक शुद्धे शुद्धमासिक्त तादृगेव भवति,  
एव मुनेर् विज्ञानत आत्मा भवति गीतम । ॥१५॥

अनु०—जिस प्रकार शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार, हे गीतम ! ज्ञानी मुनि का आत्मा भी हो जाता है। (१५)

---

१ यहाँ 'धर्म' शब्द उही अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है जिस में इस का प्रयोग बौद्ध वाट् सम समय का किसी सीमा तक न्याय-वैशेषिक शास्त्र में हुआ है। उपनिषद् कायदा वैदिक साहित्य में सम्भवतः यह प्रयोग केवल यही मिलता है। मोटे तौर पर, यहाँ इस का अर्थ 'गुण धर्म' अथवा 'पदार्थों' समझना चाहिये।

सि० अ०—जो गुण धर्म का अभिज्ञापी है वह गुण धर्मों में घेमा रहता है। जिस प्रकार शुद्ध जल स्वच्छ पात्र में स्फटिक के समान स्पष्ट दिखायी देता है उसी प्रकार वह आत्मा शुद्ध अंतःकरण में स्पष्ट दिखायी देता है और अशुद्ध अंतःकरण में अस्पष्ट दिखायी देता है। [१५]

॥ इति द्वितीयेऽध्याय प्रथमा बल्ली ॥

### द्वितीया बल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावकचेतस ।<sup>१</sup>

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद् वै तत् ॥१॥

अनु०—उस अजन्मा यथावत ज्ञान वाले [आत्मा] का पुर ग्यारह द्वार वाला है। [उस का] अनुष्ठान करने पर [मनुष्य] शोक नहीं करता, और वह जीव मुक्त होता हुआ मुक्त हो जाता है। निश्चय यही वह है। (१)

सि० अ०—जीव आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है। उस की ग्याति सबल एकरण है। उस का निवासा उस भवन में है जिस का ग्यारह द्वार हैं। जो बाद उस आत्मा की माधना करता है वह मोघ रहित और निस्पृह हो कर मास प्राप्त कर लेता है। यह वही आत्मा है। [१]

हृधस शुचिपद्, वसुरन्तरिक्षसद्गोता वदिपदतिथिर् दुरोणसत् ।  
नृपद्, वरसदृतसद्, व्योमसदब्जा, गोजा, नृतजा, अद्रिजा,  
ऋत बृहत् ॥२॥<sup>२</sup>

१ म्मारह द्वार ये हैं—दो भस्त्रु दो कान दो नयने, मुख दो अन्त्यन्त्रियाँ नाभि और निरिनि। अन्तिम दा की उष्मा कर देने पर शरीर के ६ द्वार बन्द होने हैं, जैसा कि अमरवेद (१० २.३९, = ४३) गीता (५.१३) और इत्यादिग्रन्थोपनिषद् (११८) में उल्लिखित है।

२ यह मय किञ्चित् पाठभेद के साथ अमरवेद (४.४० ४) गुणतमनुवेद (१० ७४ १३ १४) तैत्तिरीयसंहिता (३ २ १० २), और शतपथब्राह्मण (६ ७ ३ १०) में आया है।

अनु०—[वह] आकाशचारी हस (सूर्य) है, अन्तरिक्ष में विचरने वाला वायु है, वेदी में स्थित होता (अग्नि) है, घर में स्थित अतिथि है। [वह] मनुष्यों में स्थित है, श्रेष्ठों में स्थित है, ऋत में स्थित है, आकाश में स्थित है। [वह] जल में उत्पन्न हुआ, गायों अथवा किरणों में उत्पन्न हुआ, ऋत में उत्पन्न हुआ, उदयाचल में उत्पन्न हुआ, [वह] महान् ऋत है। (२)

मि०अ०—आत्मा सर्वसंहारक है। वह सूर्य के मध्य में स्थित है, सब को बसाने वाला है, वायु के समान सब को बति देने वाला है आवाज में जोतप्रोत है, अग्नि के रूप में पृथ्वी में स्थित है, अमृत बन कर सोमवल्ली में स्थित है। वह मनुष्यों में, देवताओं में, यज्ञों में, सत्य में, और भूतनाश में स्थित है। सभी पदार्थ जो जल से उत्पन्न हैं जल में स्थित होते हैं। जो कुछ पृथ्वी से उत्पन्न हुआ है, जो कुछ यज्ञफल-स्वरूप है, और जो कुछ पर्वतों में उत्पन्न हुआ है वह सब आत्मा है। आत्मा सत्य है, अनन्त है, और दृढ़ है। [२]

ऊर्ध्व प्राणमुन्नयत्यपान प्रत्यगस्यति ।

मध्ये दामनमासीन विष्वे देवा उपासते ॥३॥

अनु०—वह प्राण को ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर डबेलता है। हृदय में रहने वाले यामन की सब देव उपासना करते हैं। (३)

मि०अ०—वह प्राण-वायु को ऊपर की ओर ले जाने वाला है और वह अपान-वायु को नीचे की ओर प्रवाहित करने वाला है। वह हृदय के मध्य में स्थित है, और सभी मानेन्द्रिय-स्वरूप देवता उस की उपासना करते हैं। [३]

१ कारत्ती में 'आग्नेकुत्तिह-ए हस'। कारत्तिहोह ने यह सब इसी अर्थ में समझ भी प्रयुक्त किया है, जैसे ब्रह्मसंहिता २९ की व्याख्या में, चन्द्र देवता ॥ विरोधन के रूप में। यदि 'पानी' (अनित्य, नश्वर) के स्थान पर 'आग्ने' होता तो अर्थ अधिक सुबोध होता। यस्तु, यहाँ कारत्तिहोह ने इसे 'हस' के पर्याय के रूप में रखा है, जो सर्वथा असंगत है।

अस्य विस्रसमानस्य, शरीरस्यस्य देहिन ,  
देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ? । एतद् वै तत् ॥४॥

अनु०—इस शरीरस्य देही के [देह से] च्युत हो चलने, देह से मुक्त हो चलने की दशा में भला इस [शरीर] में क्या रह जाता है ? निश्चय यही वह है । (४)

नि०अ०—बहु उपायना वं योग्य है । शरीर त्यागने और ज्ञानेन्द्रिया के बिछर जान के पश्चात् जो वेप रहता है वही आत्मा है । [४]

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।  
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितो ॥५॥

अनु०—मनुष्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से ।  
वे तो किसी अन्य से जीवित रहते हैं, जिस में ये दोनों आश्रित हैं । (५)

सि०अ०—मनुष्य जब तब जीवित है, प्राण और अपान से जीवित नहीं रहता,  
प्रसृत उस का जीवन उस क्षता त है जिस में प्राण और अपान भी जीवित हैं । [५]

हन्त ! त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।  
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ! ॥६॥

अनु०—हे गौतम ! अब मैं तुझे उस गुह्य और सनातन ब्रह्म का  
प्रवचन करूँगा, तथा मरण को प्राप्त होने पर आत्मा जैसा हो जाता है  
[वह भी बतलाऊँगा] । (६)

सि०अ०—धर्मराज बोले—ह नचिदेव ! तुझे मैं उस ब्रह्म का प्रवचन करता हूँ  
जो शाश्वत और गुह्य है । मृत्यु के पश्चात् पुरुष जो आत्मा हो-जाना है उस का भी  
तुझे प्रवचन करता हूँ । [६]

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिन ।  
स्याणुमन्येऽनुसयन्ति यथावमं यथाश्रुतम् ॥७॥

अनु०—अपने धर्म और ज्ञान के अनुसार कितने ही देहधारों तो शरीर

धारण करने के लिए किसी योनि को प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर भाव को प्राप्त हो जाते हैं । (७)

सि०अ०—जिस किमी ने जिस प्रकार का कर्म किया है और जो कामना की है मृत्यु केला में उसी कर्म और वासना के अनुसार उस लोक को जाता है जो उस कर्म और वासना के अनुरूप होता है । कोई इसी लोक के बंधन में रह जाते हैं । [७]

य एष सुप्तेषु जागति काम काम पुरुषो निर्मिमाण तदेव शुक्र,  
तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते । तस्मिन् लोका श्रिता सर्वे, तदु  
नात्येति कश्चन । एतद् वै तत् ॥८॥

अनु०—[अवयवों के] सो जान पर जो यह पुरुष अपनी कामनाओं की रचना करता हुआ जागता रहता है वही शुक्र (शुद्ध) है वह ब्रह्म है वही अमृत कहा जाता है । उस में सम्पूर्ण सोक प्रतिष्ठित हैं, कोई भी उस का उत्सर्जन नहीं कर सकता । निश्चय यही वह है । (८)

नि०अ०—स्वप्न के समय सभी आनेन्द्रियाँ अतमुक्त होती हैं । पुरुष जो उस काल में जागता है अर्थात् जीवात्मा और अपनी इच्छानुसार उस काल में वस्तुएँ उत्पन्न कर लेता है वही शुद्ध है वही अमर है वही ब्रह्म है सारे सोन-सोनाठर इसी पर आश्रित हैं उस का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता । यह वही आत्मा है [८]

अग्निर् यथंदो भुवन प्रविष्टो  
रूप रूप प्रतिरूपो बभूव,  
एकस् तथा सर्वभूतान्तरात्मा  
रूप रूप प्रतिरूपो, बहिष च ॥९॥

अनु०—जिस प्रकार भुवन में प्रविष्ट एक ही अग्नि प्रत्येक रूप के अनुरूप हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूता का एक ही अन्तरात्मा उन के रूप के अनुरूप हो रहा है और [उन से] बाहर भी है । (९)

नि०अ०—जैसे अग्नि एक है उस में जो कुछ पड़ता है वह अग्नि भी उस पदार्थ का रूप ले लेता है और उस के बाहर आने पुनः स्वरूप में स्थित होता है उसी प्रकार यह एक आत्मा सभी में प्रविष्ट हो कर सभी के रूप में भागित होता है । [९]

वायुर् यथैको भुवन प्रविष्टो  
 रूप रूप प्रतिरूपो बभूव,  
 एकस् तथा सर्वभूतान्तरात्मा  
 रूप रूप प्रतिरूपो, वहिश् च ॥१०॥

अनु०—जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, और [उन से] बाहर भी है। (१०)

सि०अ०—जैसे एक वायु रवान भेद में पाच प्रकार का हो जाता है और उसे प्राण अपान, समान उदान, और व्यान कहने लग जाते हैं और वह भीतर इन के रूप में स्थित है और बाहर भूत स्वरूप में स्थित है उसी प्रकार वह एक आत्मा जीवात्मा हो कर और प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट हो कर विविध रूप धारण कर लेता है और बाहर निज स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। [१०]

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्  
 न लिप्यते चाक्षुर्पैर् बाह्यदोषैः,  
 एकस् तथा सर्वभूतान्तरात्मा  
 न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य ॥११॥

अनु—जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक का चक्षु होकर भी सूर्य चक्षु चम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा ससार के दुःख से लिप्त नहीं होता, [बल्कि उस से] बाहर रहता है। (११)

सि०अ०—जैसे जब सूर्य सभी के नेत्रों की ज्योति है, किन्तु नेत्रों को प्रकाश करने वाले दोष सूर्य को कोई हानि नहीं पहुँचाते और सूर्य अपवित्र और गंदे पदार्थों पर चमकते हुए भी इन अपवित्रता और गंदगी को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार एक आत्मा सब में है और इन सब के दाप बण्ट, और अपवित्र भाव उस का स्थल नहीं करते। [११]

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा  
 एक रूप बहुधा य करोति  
 तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्  
 तेषा सुख शाश्वत, नेतरेषाम् ॥१२॥

अनु०—जो एक, सब को अपने वश में रखने वाला, और सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा एक रूप को बहुत प्रकार का कर देता है, अपने में स्थित उस [देव] को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है औरों को नहीं। (१२)

सि०अ०—वह सब के परे है। वह आत्मा अद्वैत है। सभी उस के वश में हैं और वह किसी के वश में नहीं। वह सब के भीतर है। वह अपने एक रूप को अनेक कर देता है। जो धीर और ज्ञानी इस आत्मा को अपने भीतर देखते हैं शाश्वत सुख उन्हीं के लिए है दूसरे के लिए नहीं। [१२]

नित्योऽनित्यानां चेतनश् चेतनाना-  
 मेको बहूनां यो विदधाति कामान्  
 तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्  
 तेषा शान्तिः शाश्वती, नेतरेषाम् ॥१३॥

अनु०—जो अनित्य पदार्थों में नित्य स्वरूप तथा चेतनों में चेतन है और जो अकेला बहुतों की कामनाएँ पूर्ण करता है अपने में स्थित उस [आत्मा] को जो विवेकी पुरुष देखते हैं उन्हीं को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है औरों को नहीं। (१३)

सि०अ०—वह आत्मा प्रत्येक नित्य से नित्यतर है और प्रत्येक चेतन से चेतनतर है। वह अकेला सभी की कामनाएँ और अभिलाषाएँ पूरा करता है। जो धीर और ज्ञानी इस आत्मा को अपने भीतर देखते हैं शाश्वत शान्ति उन्हीं के लिए है न कि दूसरे के लिए। [१३]



तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परम सुखम् ।

कथं नु तद् विजानीया ? किमु भाति विभाति वा ? ॥१४॥

अनु०—ज्ञानवान् पुरुष अनिर्वाच्य परम सुख को 'वह यह है', ऐसा मानते हैं। उसे मैं कैसे जानूँ ? क्या [यह] प्रकाशित या अवभासित होता है ? (१४)

सि०अ०—[ज्ञानवान् पुरुष] जानते हैं कि आत्मा परम आनन्द और महान् है, और कि वह वाणी में नहीं आता। वही आत्मा है। मैं उस परमानन्द स्वरूप आत्मा का तुम कैसे प्रवचन कर सकता हूँ ? नचिबेता ने पूछा—यदि आप प्रवचन नहीं कर सकते तो मैं कैसे जान सकता हूँ ? [१४]

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारक,

नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्नि ?

तमेव भान्तमनुभाति सर्व,

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

अनु०—वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते, और न वे विजलियाँ ही चमकती हैं, इस अग्नि की तो वान ही क्या है ? उस प्रकाशमान से ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उस के प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है। (१५)

सि०अ०—यमराज बोले—उस का जानना यही है कि जो कुछ दिखायी देता है वह सब वही है। सूर्य की ज्योति, चन्द्रमा की ज्योति, नक्षत्रों की ज्योति, और विद्युत् की ज्योति उस तक नहीं पहुँचती। तो क्या अग्नि उस तक नहीं पहुँच सकती है ? इन की ज्योति से उसे नहीं देखा जा सकता। उसी की आश्रित ज्योति में ये ज्योतिष्मान् हैं, उसी की आश्रित ज्योति से ये ज्योतिष्मान् हैं। [१५]

तृतीया वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवावशाश्च एपोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिन्लु लोका श्रिता सर्वे, तदु नात्येति कश्चन ।

एतद् वै तत् ॥ १ ॥

अनु०—यह सनातन अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष ऊपर की ओर मूल तथा नीचे की ओर शाखाओं वाला है। वही विद्युद्ध ज्योतिस्वरूप है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसी में प्रतिष्ठित हैं, कोई भी उस का अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चय यही वह है। (१)

सि०अ०—जगत् एक वृक्ष है जिस का मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे। इस वृक्ष का नाम अश्वत्थ है, अर्थात् वह वृक्ष जो नश्वर नहीं है और प्रलय तक स्थित रहता है। उस के पत्ते सदा पवित्र रहते हैं। जगत् यह जगत् भी एक स्थिति में नहीं रहता और परिवर्तनशील है। यह ससार वृक्ष निकट अतीत में पैदा नहीं हुआ है, पुरातन है। इस वृक्ष का मूल ब्रह्म है, जो पवित्र है और जिसे अविनाशी कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् उस के आश्रित है। उस का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। वह आरम्भ है। [१]

यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निमृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतासु ते भवन्ति ॥२॥

अनु०—यह जो सारा जगत् है वह प्राण से निमृत होकर उसी में घेष्टा कर रहा है। वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्र के समान है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। (२)

सि०अ०—सम्पूर्ण जगत् वज्र से निमृत और ब्रह्म ही में गतिमान है। ब्रह्म अनन्य है। उस से सभी उसी प्रकार भय खाने हैं जिस प्रकार उस पुरुष से जो अपने हाथ में तानी सलवार लिये हो। जिन नरों ने उस पुरुष को समझ लिया है वे अमर हो जाते हैं। [२]

१ यह उपमान गीता १५.१-३ में भी प्रयुक्त हुआ है और इस का मूल श्रुत्येद १.१६.४.२०, १०.३१.७, ८१.४, अथर्ववेद १०.८.६, २६.६, तैत्तिरीयब्राह्मण २.८.२, शतपथब्राह्मण १४.६.८.२०-३४ (अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् ३.८.२८), ४.३.२.४ (अथवा बृ. उ. २.२.३), मुण्डकोपनिषद् ३.१.१, श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६ में पाया जाता है।

भयादस्याग्निस् तपति, भयात् तपति सूर्य ;

भयादिन्द्रश् च, वायुश् च, मृत्युर् धावति पञ्चम ॥३॥

अनु०—इस के भय से अग्नि तपता है, [इस के] भय से सूर्य तपता है, तथा [इसी के] भय से इन्द्र, वायु, और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । (३)

ति०अ०—अग्नि उसी के भय से तपता है, सूर्य उसी के भय से तपता है, और इन्द्र, वायु, और पाँचवाँ मृत्यु उसी के भय से अपने कार्य के पीछे भागते हैं । [३]

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विलस ।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

अनु०—यदि [पुरुष] इस जन्म में शरीर के पतन से पूर्व [ब्रह्म को] जान सका तो उस से इन जन्म-मरणशील लोकों में वह शरीर-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है । (४)

ति०अ०—जो कोई मृत्यु और देह त्याग के पूर्व उस पुरुष को जान लेता है वह ससार के बधन से छूट जाता है और मुक्त हो जाता है । जो मृत्यु के पूर्व उसे नहीं जान लेता वह अन्य लोकों के बधन में पड़ जाता है अर्थात् इस लोक से तो निकल जाता है किंतु हमारे लोक में पड़ जाता है । अतः मरने के पूर्व ही आत्मा को जान लेना चाहिए । [४]

यथाऽऽदर्शं, तथाऽऽत्मनि, यथा स्वप्ने, तथा पितृलोके;

यथाऽप्सु परीव ददृशे, तथा गन्धर्वलोके, छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

१ इस मंत्र में भी कुछ न कुछ पाठभ्रष्ट अवश्य हुआ है, क्योंकि इन के अनुसार आर्यशक्ती का पुनर्जन्म होता है, वह जन्म मरण के चक्र से नहीं छूटना, जो उपनिषदों की विचार मरिचिक सर्वथा विपरीत है । इस की व्याख्या में शुद्ध को अर्थात्तर सिद्ध करने के लिए अपनी आर से स्वच्छन्दतापूर्वक बहुत कुछ जोड़ना पड़ा है । अतएव इस मंत्र के प्रथम चरण के अन्त में उन्होंने 'ससारवन्धनम् विमुञ्चते' (ससार-बन्धन से छूट जाता है) और द्वितीय चरण के आरम्भ में 'न चेदशकद् बोद्धुं' (यदि न जान सका) की वृद्धि की है । मैक्समूलर ने इस के प्रथम चरण में 'न' शब्द की उद्दिष्टि मानी है । रॉयल अनेस्ट ह्यूस का मत है कि 'सर्गेषु' के स्थान पर 'स्वर्गेषु' होता या मंत्र अधिक सुग्राह्य होता । अस्तु मंत्र की उपलब्ध शब्दावली से जो अर्थ निकलता है वही यहाँ दिया गया है ।

अनु०—जैसा दण मे वैसा अपने मे जैसा स्वप्न मे वैसा पितृलोक मे जैसा जल मे कुछ कुछ दिखाया देता है वैसा गन्धर्वलोक मे ब्रह्मलोक मे छाया और प्रकाश के समान । (५)

नि०३०—जिस प्रकार कोई दण म अपना मुख देखता है उसी प्रकार अपनी शुद्ध बुद्धि के दण मे आत्मा का स्पष्ट दर्शन करना चाहिए । जो लोग अपनी बुद्धि के दण मे अपने को नहीं देख सकते वे पितृलोक में ऐसी वस्तु देखें जो स्वप्न म दिखायी देती है । यदि व न गन्धर्व लोक म जते हैं तो उन्हें ऐसा दिखायी देना मानो अपने मुख को जल में हिलता-डुलता देख रहे हों । जो लोग ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्म को प्रकाश के समान और जगत् को छाया के समान देखेंगे । प्रथम और अन्तिम दर्शन मध्य म दो बार दर्शन की अपेक्षा उत्तम है क्योंकि प्रथम दर्शन गानियों का दर्शन है जो दण में अपने आप को देखने हैं द्वितीय तथा तृतीय दर्शन कर्मियों का है और अन्तिम दर्शन ज्ञानियों का दर्शन है । [५]

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयो च यत्

पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

अनु०—पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाली इन्द्रियों के जो उदय और अस्त होने वाले विभिन्न भाव हैं उन्हें जान कर धीर [पुरुष] शोक नहा करता । (६)

सि०३०—जो जानो आत्मा से पृथग्भूत ज्ञानेन्द्रियों को ही प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का हेतु और उन के नश्वर को भी जानना है वह जानी शोक से मुक्त हो जाता है । [६]

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम्,

सत्त्वादधि महानात्मा महताऽव्यक्तमुत्तमम् <sup>१</sup>

अव्यक्तात् तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च

य ज्ञात्वा मुच्यते जतुरमृतत्वं च गच्छति ॥७॥

अनु०—इन्द्रिया से मन बढ़ कर है मन से बुद्धि उत्तम है बुद्धि से महत्तत्त्व बढ़ कर है महत्तत्त्व से अव्यक्त उत्तम है अव्यक्त से

भी पुरुष श्रेष्ठ है, और वह व्यापक तथा अलिप्त है, जिसे जान कर जीव मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है । (७ =)

मि०अ०—जो जानता है कि इन्द्रियों के ऊपर मन है, मन के ऊपर समष्टिबुद्धि है, समष्टिबुद्धि के ऊपर हिरण्यगर्भ है, हिरण्यगर्भ के ऊपर नृणात्म की साम्यावस्था [ अर्थात् अल्पकृत अवस्था प्रकृति ] है,<sup>१</sup> और उस के भी ऊपर पुरुष है जो सब में विभू है, व्यापक है और अलिप्त है वह इसी जीवन में सभी बंधना से मुक्त हो जाता है । यही जीवमुक्त है, अर्थात् जीवन में ही मुक्त । जब वह शरीर त्याग देता है तब अमर और विदेह-मुक्त हो जाता है । अर्थात् वह शरीररहित हो कर और साक्षात् ब्रह्म बन कर सदा के लिए मुक्त हो जाता है । [७ =]

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य,  
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा, मनीषा, मनसाऽभिव्यक्तो

य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥९॥

अनु०—इस आत्मा का रूप दृष्टि में नहीं उद्भूत, न इसे कोई आँख से देख सकता है । यह [आत्मा] हृदय, बुद्धि, और मन का विषय है । जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं । (९)

सि०अ०—उस पुरुष को ज्ञानेन्द्रिया द्वारा नहीं जाना जा सकता और आँख से नहीं देखा जा सकता । जो कोई अपनी बुद्धि और अन्वेषण में समय और विचित्रित्वा रूपी बाधाओं को दूर कर देता है और सदाविचार द्वारा थढ़ा लाभ कर आत्मा को जान लेता है वह मुक्त हो जाता है । [९]

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह,  
बुद्धिश्च न विचेष्टति, तामाहु परमा गतिम् ॥१०॥

अनु०—जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसे परमगति कहते हैं । (१०)

१ इस के बाद मंत्र ८ का अनुवाद आरम्भ होता है । इन दोनों मंत्रों का अनुवाद पृथक्-पृथक् देना समीचीन नहीं प्रतीत होता, यद्यपि शारदासाहेब ने दोनों को पृथक् ही रखा है ।

मि०अ०—जब [साधक] अपनी पाँचों आनेन्द्रियों को मन और बुद्धि द्वारा बाहर विषयो से निवृत्त कर के निश्चेष्ट जीवात्मा में दृष्टि लगाता है, तो इस सम्पूर्ण दृष्टि को परमगति कहते हैं । [१०]

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस् तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययो ॥११॥

अनु०—उस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं । उस समय पुरुष प्रमादरहित हो जाता है; क्योंकि योग ही सृष्टि और प्रलय है । (११)

मि०अ०—[जानने वाले] उसे योग जानते हैं । जब वह पुरुष ऐसा करता है तो वह सावधान होता है, भूल नहीं करता, और प्रमादरहित होता है, क्योंकि प्रमाद ज्ञान का शत्रु है । अतः उसे चाहिए कि खोज करे, तबि ज्ञान हाथ से न जाय और प्रमाद न उत्पन्न हो । [११]

नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति श्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ? ॥१२॥

अनु०—वह आत्मा न तो वाणी से, न मन से, न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है, वह 'है' ऐसा कहने वाले से अन्यत्र (भिन्न पुरुषों को) कैसे उपलब्ध हो सकता है ? (१२)

मि०अ०—आत्मा को ज्ञान के बिना, शास्त्राध्ययन, धन, और वस्तु से प्राप्त नहीं किया जा सकता, और इस के अतिरिक्त कि वह कि 'है' कुछ कहा नहीं जा सकता और न जाना जा सकता, और इस के अतिरिक्त कि वह कि 'है' उस की प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं । [१२]

अस्तीत्येवोपलब्धव्यसु तत्त्वभावेन चोभयोः ।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

अनु०—वह 'है' इस रूप में तथा [गम्यता और अगम्यता, अस्तित्व और नास्तित्व] दोनों के तत्त्वभाव (तात्त्विक स्वरूप) से अधिगत हो सकता है । जिसे 'है' ऐसी उपलब्धि हो गयी है, उसे तत्त्वभाव प्राप्त हो जाता है । (१३)

सि०अ०—उस की प्राप्ति का उपाय दो प्रकार का है—या तो उसे 'हे' इस प्रकार जाने या अपनी गुरुता और अज्ञान को दूर कर के साक्षात् नहीं बन जाय । जो कोई पहले 'हे' इस के द्वारा उस तक पहुँचा यह वही हो गया । [१३]

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः,  
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

अनु०—जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो इस के हृदय में बसती हैं, छूट जाती हैं, उस समय मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और यही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । (१४)

सि०अ०—पुरुष मर्त्य (मरणधर्मा) है । वह जब मन की कामनाओं से छूट जाता है, तो इसी लोभ में अमर और मुक्त हो जाता है और इसी शरीर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । [१४]

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः,  
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धधनुर्ज्ञासनम् ॥१५॥

अनु०—जिस समय यहाँ हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ पट जाती हैं, उस समय मर्त्य अमर हो जाता है । वस [सभी बंधानों का] यही उपदेश है । (१५)

सि०अ०—जब गुरुता और अज्ञान की ग्रन्थियाँ, जो उस के हृदय में बँधी हुई हैं, मूल जाती हैं, तब वह मृत्यु में छूट कर अमर हो जाता है । यही मूल अनुगमन है । [१५]

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्,  
तासां मूर्धनिमभिनिःसृतैषा ।  
तथोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति,  
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

अनु०—हृदय की एक सौ एक नाडियाँ होती हैं; उन में से एक निजल कर मूर्धनि तप पहुँचनी है । उन के द्वारा ऊर्ध्व गमन करने वाला पुरुष

अमरत्व को प्राप्त होता । शेष विविध [नाडियाँ] उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) के लिए होती हैं । (१६)

सि०अ०—हृदय में एक सौ एक नाडियाँ गयी हुई हैं । उन में से एक नाडी मुमुक्षु मूर्धा तक पहुँचती है । मरण काल में जिस का प्राण उस नाडी के मार्ग से मूर्धा से बहिर्गंत होता है वह अमर पद प्राप्त करता है और जिस का प्राण दूसरी नाणियों के मार्ग से बाहर निकलता है वह उन योगों को प्राप्त होता है जो उन नाडियों के अनुरूप हैं । [१६]

अगुण्ठमात्र. पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सनिविष्ट ।

त स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन् मुजादिवेपोका धैर्येण ।

त विद्याच्छुक्रममृत, त विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अनु०—अगुण्ठमात्र पुरुष जो अन्तरात्मा है, सदा जीवों के हृदयदेश में स्थित है । उसे मूँज से बाणाग्र के समान अपने शरीर से धैर्यपूर्वक बाहर निकाले । उसे शुद्ध और अमर समझे, उसे शुद्ध और अमर समझे । (१७)

सि०अ०—पुरुष जो सभी के हृदयों के मध्य स्थित है जिस की कबोडि अनुप्य के अगुण्ठ के धरावर है और जो सब का जीवात्मा है उसे जानी पूष बुद्धि द्वारा अपने शरीर से पृथक् जानता है । जैसे आवरण युक्त मूँज की आवरण से पृथक् कर बाहर निकालते हैं उसी प्रकार वह जीवात्मा को शरीर से पृथक् जानता है और उसी जीवात्मा को शुद्ध और अविनाशी जानता है । [१७]

मृत्युप्रोक्ता नचिकेतोऽथ लब्ध्वा

विद्यामेता योगविधिं च वृत्तमम्,

ब्रह्माप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्यु-

रन्त्योऽप्येव यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

अनु०—मृत्यु की कही हुई इस विद्या और सम्पूर्ण योग विधि को अधिगत कर नचिकेता ब्रह्माभाव को प्राप्त विमल और मृत्युरहित हो गया । दूसरा भी जो अध्यात्मविद् होगा वैसा ही [हो जायगा] । (१८)



सि०ब०—इस ज्ञान और इस साधना का प्रवचन यमराज ने नचिनेता को किया और वह इस सारे ज्ञान को उपलब्ध कर और ब्रह्म को प्राप्त हो मृत्यु शरीर की ब्रह्मा और गुण्य और पाप-पदों के भजन से छूट कर मृत्यु रहित और जनिस्वर हो कर साक्षात् आत्मा हो गया । जो कोई नचिनेता के समान इस ज्ञान और कम का उपदेश करता है और उस की साधना करता है वह भी साक्षात् आत्मा हो जाता है । [१८]

ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करेवावहे ।

तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहे ॥१९॥

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

अनु०—[परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-साथ रक्षा करे । हमारा साथ-साथ पालन करे । हम साथ साथ विद्या सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हमारा पद बुद्धि तेजस्वी हो । हम द्वेष न करें । (१९)

॥ इति द्वितीयेऽध्याय तृतीया बली ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्याय ॥

## तृतीयोऽध्यायः

सि०ब०—इस के पश्चात् यम ने यह प्रथना की कि मुझ और तुम दोनों को जो प्रवक्ता और श्रोता हैं परमात्मा अपनी रक्षा में सब हम में जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उस ज्ञान को हमारे हृदय में स्थिर करे । इस ज्ञान से जो तेज प्राप्त हुआ है उस वह धनाय रथ विद्या जिसे हम में और तू में पड़ा है हमारे हृदय में प्रकाशित रहे और हमारे बीच द्वेष का प्रवेश न हो । इस के पश्चात् यम गिरजा पर ओठम' ना कर बोले—सब की शान्ति । सब को शान्ति । ! ब्रह्मभगिन्या को नमस्कार । ब्रह्म-शान्तिमा को नमस्कार । ! अर्थात् सत्यदृष्टियों का शुभ हो ।

निष्पत्ति है कि प्रत्येक उपनिषद् के आरम्भ और समाप्त में यह प्रार्थना पड़ी जाय । [१९] [ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ]

॥ इति तृतीयोऽध्याय समाप्ता ॥

१ इस मंत्र की से कर दासकिन्कोट ने एक तीसरा अध्याय परिवर्तित किया है जिस के अन्तर्गत उस की व्याख्या दी जाती है ।

# प्रश्नोपनिषद्

(अथर्ववेदीया)

शान्तिपाठ

ॐ भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवा । भद्र पश्येमाक्षभिर यजत्रा,  
स्थिरैरङ्गैः सुष्टुवासेम तनूभिर व्यशेम देवहितं यदायुः ।

(ऋग्वेद १ ८९ ८)

अनु०—हे देवगण ! हम कानों से कल्याणी वाणी सुन यज्ञकर्म में  
समय हो कर नेत्रों से शुभ दशन कर स्थिर अंग और शरीरों से स्तुति  
करने वाले हम तोम देवताओं के लिए हितकर आयु का भोग कर ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा  
स्वस्ति नस ताक्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर दधातु ।

(ऋग्वेद १ ८९ ९)

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

अनु०—महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे सबज्ञ (अथवा  
सर्वेश्वरमवान) पूषा हमारा कल्याण करे जो अरिष्टो (आपत्तिओं) के  
लिए चक्र के समान [घातक] है वह गरुड हमारा कल्याण करे बृहस्पति  
हमारा कल्याण करे । त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

प्रथम प्रश्न

ॐ मुकेशा च भारद्वाज शैब्यश्च सत्यकाम सौर्यायणी च  
गार्ग्य कौशल्यश्च चाश्वलायनो भागवो वैदर्भी कवन्धी कात्यायनस-  
ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा पर ब्रह्मावेपमाणा एष ह वै तत् सर्वं  
वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्त पिप्पलादमुपसन्ता ॥१॥

अनु०—भरद्वाजजनदन मुकेशा शिविकुमार सत्यकाम गगगोत्र में  
उत्पन्न सौर्यायणि (मूय का पोता) अश्वनकुमार कौमत्य विदभदेशीय

भार्गव, और कश्यप के पोते का पुत्र बबन्धी—ये ब्रह्म के उपासक, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्म के अन्वेष्टण में तत्पर ऋषिगण भगवान् पिप्पलाद के पास हाथ में समिधा ले कर गये, कि ये हमें उस के विषय में सब कुछ बतला देगे । (१)

सि० अ०—भारद्वाज पुत्र मुनेशा, शैब्य सत्यकाम, सीर्यागिणि शार्ङ्ग, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, बबन्धी कात्यायन—इतने ऋषीश्वरों ने, ब्रह्म को महामहिम जानते हुए यह सवत्स्य किया कि उसे प्राप्त हो और सदा उसी में रहे । वे ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सवित्पाणि हो कर, जैसा पुत्र की सेवा में उपस्थित होने का नियम और आचार है उस प्रकार, ऋषीश्वर पिप्पलाद के पास इन आत्मा से गये कि ये महान्, ज्ञानी, और धर्मान्वित हैं, हम लोग इन से जो कुछ पूछेंगे वे बतावेंगे । [१]

तान् ह स ऋषिष्याच—‘भूय एव तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया सयत्सर सवत्स्यथ । यथाकाम प्रश्नान् पृच्छत । यदि विज्ञास्याम सर्वं ह यो वक्ष्याम’ इति ॥२॥

अनु०—कहते हैं उस ऋषि ने उन से कहा—‘तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा पूर्वक एक वर्ष और निवास करो । [फिर] अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना । यदि मैं जानता होऊंगा तो तुम्हें सब बतला दूंगा’ (२)

सि० अ०—इन ऋषि ने उन से कहा—यदि आप लोग साधना और तपस्या करें, सारे भोगों का परित्याग कर दें, घर पास श्रद्धापूर्वक एक वर्ष रहें, तो आप लोग जो पूछेंगे उन सब का उत्तर ब्रिजना जानता हूँ आप लोग को दूंगा । [२]

अथ बबन्धी कात्यायन उपेत्य प्रपच्छ—‘भगवन् ! कुतो ह वा इमा प्रजा प्रजायन्ते ?’ इति ॥३॥

अनु०—तदनन्तर (एक वर्ष गुरुकुलवास के पश्चात्) कात्यायन बबन्धी ने [ऋषि के] पास जा कर पूछा—‘भगवन् ! ये प्रजाएँ कहाँ से उत्पन्न होती हैं ?’ (३)

सि० अ०—जब प्रसिद्ध वे अनुसार एक वर्ष समाप्त हुआ तो बबन्धी नाम के ऋषीश्वर ने सब से जागे बक्कर यह प्रश्न किया, भगवन् ! यह जगत् कहाँ से उत्पन्न हुआ है ? [३]

तस्मै स होवाच—‘प्रजापतिर्यो वै प्रजापति । स तपोऽनप्यत । स तपम् तप्त्वा स म्रियुनमुत्पादयते—रयि न प्राण च—, एतौ मे बहुधा प्रजा रन्मिष्यत इति ॥४॥

अनु०—उस से उन्हो (पिण्डाद) ने कहा—‘प्रसिद्ध है कि प्रजापति को प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उस ने तप किया। उस ने तप कर के एक मिथुन (बोहा) उत्पन्न किया—रयि और प्राण—, कि ये दोनों मेरी भाँति-भाँति की प्रजा उत्पन्न करेंगे। (४)

सि० अ०—पिण्डवाद बोले—‘प्रजापति ने, जो सब का उत्पादन है, इच्छा की कि सृष्टि कर्हें। इस के पश्चात् [उस ने] तप कर के, अर्थात् चित्त को समाहित कर के और निदिध्यासन कर के, दो वस्तुएँ उत्पन्न की—एक सोम जो चन्द्रमा है और जिस में अमृत है, दूसरा प्राण जो सूर्य है और जिस में अग्नि है। उस ने इन दोनों को उत्पन्न कर के जाना कि इन दोनों से सन्पूर्ण सृष्टि हो जायगी और कि ये दो बहुत सारी सृष्टि कर डालेंगे। [४]

‘आदित्यो ह वै प्राणो, रयिरेव चन्द्रमा। रयिद् वा एतत् सर्वं यन् मूर्तं चामूर्तं च। तस्मान् मूर्तिरेव रयि ॥५॥

अनु०—‘निश्चय आदित्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा। यह जो कुछ मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) है सब रयि ही है। अतः मूर्ति ही रयि है। (५)

सि० अ०—‘प्राण की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में, सूर्य और अग्नि (खाने वाला) उत्पन्न हुआ और चन्द्रमा के प्रसङ्ग में, अमृत खाने और समस्त सूक्ष्म और स्थूल उत्पन्न हुए। अतः सब का अत्मा सूर्य है और अन्न चन्द्रमा। [५]

‘अथादित्य उदयन् यत् प्राची दिशः प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सनिधत्ते, यद् दक्षिणा, यत् प्रतीची, यदुबीची, यदधो, यदूर्ध्वं, यदन्तरा विशो यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सनिधत्ते ॥६॥

अनु०—‘जब सूर्य उदित हो कर पूर्व दिशा में प्रवेश करता है, तो उस के द्वारा वह पूर्व दिशा के प्राणों की किरणों में धारण करता है, जब दक्षिण, पश्चिम, उत्तर अथ, ऊर्ध्व, और अवान्तर दिशाओं की प्रकाशित करता है तो उस के द्वारा वह उन समस्त प्राणों की किरणों में धारण करता है। (६)

सि० अ०—यही कारण है कि सूर्य दिशाओं में से जिस दिशा में प्रवृत्त होता है उस दिशा में निवास करने वालों को अपने में धारण करता है। अर्थात् जिस पूर्व से वह निकलता है उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण

करता है। जब वह दक्षिण में जाता है, तब उस दिशा में समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। जब पश्चिम की ओर जाता है, तो उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। जब पश्चिम की ओर गमन करता है, तो उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। जब ऊपर की ओर जाता है, तब उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। चारों दिशाओं के मध्य जिस किसी कोण में जाता है और उस पर प्रकाश बिखर भी जाता है, उधर के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। [६]

‘स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—॥७॥

अनु०—‘यह यह वैश्वानर विश्वरूप प्राण अग्नि ही उदित होता है। यही बात ऋक् ने भी कही है—(७)

सि० अ०—‘अतः सभी उस का अन्त है। इसी कारण उसे वैश्वानर और विश्वरूप कहते हैं—वैश्वानर इसलिए कि उस में नैऋति उष्णता है और वह सब का भोक्ता है, और विश्वरूप इसलिए कि भारा जगत् उसी से रूप ग्रहण करता है। प्राण भी वही है और अग्नि भी वही है। [यह] अग्नि बन कर ऊपर जाता है और अग्नि बन कर नीचे जाता है, अर्थात् ऊपर भी प्रकाश है और नीचे भी प्रकाश है। इसी के अनुसार वेदमन्त्र में है कि— [७]

‘विश्वरूपः, हरिणः, जातवेदसः,

परायणः, ज्योतिरेकः तपन्तम्।

सहस्ररश्मिः, शतधा वर्तमानः,

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः” ॥८॥’

अनु०—‘सर्वरूप रश्मिवान्, ज्ञानसम्पन्न, परम आश्रय, तपती हुई एकमात्र ज्योति को। यह सहस्र किरणों वाला, सैकड़ों प्रकार से वर्तमान, और प्रजाओं का प्राण सूर्य उदित होता है।” (८)

सि० अ०—‘सूर्य विश्वरूप है अर्थात् सब का रूप है। हरिणवर्ग में भी वही है, अर्थात् अपनी किरण से सब को अपनी ओर खींचता है। यही जातवेदस है, अर्थात्

१ यद मन्त्र, ओ मैत्राग्यसुपनिषद् ६.८ में भी आता है, किसी सुप्त वेद शाखा का हो सकता है। आगे भी कई श्लोक अथवा मन्त्र उद्धृत हैं जिन के स्रोतों का पता लगाना कठिन है।

सब को जानने-समझने वाला है। वही परायण है, अर्थात् परम पद। वही एकज्योति है, अर्थात् उस के समान दूसरी ज्योति नहीं। वह प्रनामक है। वह सहस्रनिरण है, अर्थात् महस्र निरणों वाला। वह मनघा है अर्थात् विविधरूप। वह जो उदित होना है, समस्त प्राणियों का प्राण है।' [८]

‘सवत्सरो वै प्रजापति । तस्यायने दक्षिण चोत्तर च । तद् ये ह वै तदिष्टापूर्तं कृतमित्युपाभते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते । तस्मादेत ऋषय प्रजाकामा दक्षिण प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर् य पितृयाण ॥९॥

अनु०—‘सवत्सर ही प्रजापति है। उस के दक्षिण और उत्तर दो अयन (मार्ग) हैं। निश्चय जो लोग “इष्टापूर्तं [ही] यमं है” यह मान कर उपासना करते हैं वे चन्द्रलोक को ही जीत पाते हैं। उन्हीं की पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) होती है। अतः ये सन्तानेच्छु ऋषियण दक्षिण मार्ग को प्राप्त होते हैं। निश्चय यह रयि ही है जो पितृयाण है। (९)

ति० भ०—‘यह पूर्ण सवत्सर है, क्योंकि उत्ती ग दिन और रात होते हैं। वही प्रजापति है, अर्थात् वर्ष, मास, दिन, और तिथि उसी से उत्पन्न होते हैं। उस के दो अयन हैं, अर्थात् वह छह मास उत्तर दिशा में होता है और छह मास दक्षिण दिशा में। जो कोई तप और दान का अनुष्ठान करता है वह भ्रम के बाद छह मास के दक्षिणायन से चन्द्रमा को प्राप्त होता है, भुक्त नहीं होता, और चन्द्रमा को प्राप्त कर के अब पुण्य-कर्मों का फल समाप्त हो जाता है तब पुनरावृत्त हो कर पापकर्मों के फल खाते लोक को प्रयाण करता है जो भ्रमक है। इसी कारण जिसे पुनर्जन्म लोकेयणा, और विर्तयणा होती है, वह दान पुण्य करता है। इसी कारण चन्द्रमा को सब का जन कहा जाता है, क्योंकि अपने कर्मों का फल चन्द्रमा के मार्ग से प्राप्त होता है। [९]

‘अथोत्तरेण तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्ययाऽऽत्मानम-  
न्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद् वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्  
परायणमेतस्मान् न पुनरावर्तन्त इत्येय निरोधः । तदेय श्लोकः—

॥१०॥’

१ इन तीनों एवणाओं—पुनर्जन्म, लोकलब्ध्या, और विर्तयणा—का उल्लेख  
मृत्नारण्यकोपनिषद् ३.५.१ में पाया जाता है।

२ उत्तरायण और दक्षिणायन, देवमान और पितृयाण का मिश्ररीकरण अनेक  
१०.२.०, १०.१६.१, १०.८.१५ ज्ञान-दीप्तिपानिषद् ४.१५.५, ५.१०,  
बृहदारण्यकोपनिषद् ६.०.१५-१६, और गीता ८.२४-२६ में प्राप्त होता है।

अनु०—'निन्तु तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, जीर विद्या द्वारा आत्मा की खोज करते हुए वे उत्तर [मार्ग] द्वारा सूर्यलोक को जीतते हैं। यही प्राणों का आश्रय है, यह अमृत है, अवश्य, यह परा गति है, इस से फिर नहीं लोटते, अतः यही [संसार का] निरोध है। इस विषय में यह श्लोक है—(१०)

मि० अ०—'जो कोई तप करता है और समस्त भोगों का त्याग करता है, फल पर दृष्टि नहीं रखता, सच्ची श्रद्धा से ज्ञानमार्ग द्वारा आत्मा को प्राप्त करना चाहता है, आत्मा में लीन है और आत्मा ही बन गया है, वह छह मार्ग के मार्ग से, जब सूर्य उत्तर दिशा में होता है, सूर्य को प्राप्त होता है। यह सूर्य का साक्षात् आत्मा है, सभी आपत्तना (आश्रय) का आवरण है। यह सूर्य अविनश्वर है। यह सूर्य अमर है और परायण (परम पद) है। जन्म प्राप्त कर वसुधूमि पर लौटना नहीं होता। अज्ञानी उस तत्व नहीं पहुँचते। इसी के अनुसार ब्रह्मज्ञान में है कि— [१०]

'पञ्चपाद' पितर द्वादशाकृति

दिव आहु परे अर्घे पुरोषिणम् ।

अथेमे अन्म उपरे विचक्षण

सप्तचक्रे पडर आहुरपितम्" इति ॥११॥<sup>१</sup>

१ श्रग्वेद १० १३३ और अथर्ववेद १८ ३ ४० में आये 'पञ्च पादानि' से तुलनीय। शक्र, सामण और वैदूरमाधन के अनुसार 'पञ्चपाद' का अर्थ है पाँच ऋतुओं वाला। प्रसिद्ध छह ऋतुओं में से हेमन्त और शिशिर को एक मान लेने पर ऋतुओं पाँच हो रह जाती हैं।

२ 'सप्तचक्र' का उल्लेख श्रु १ १६४३, २ ६०३, अथर्ववेद १६ ५३ २ में भी पाया जाता है। 'सप्तचक्र' अर्थात् सात चक्रों वाले हैं। वैदूरमाधन के अनुसार सात चक्र सात ऋतुओं हैं। सामण भी श्रग्वेद १ १६४३ और २ ४०३ और अथर्ववेद १६ ५३ २ में आये 'सप्तचक्र' का ऋतुपरक अर्थ करता है—छह प्रसिद्ध ऋतुओं तथा एक सर्वसाधारण ऋतु (६६ ऋतु, सर्वसाधारण एक, इति सप्तचक्रम्), अथवा दो दो मासों की छह ऋतुओं और तेरहवें मास की एक ऋतु (उत्तराषा मासद्वयात्मका ऋ, अयोदशमासालम्बक सप्तम, इति सप्तचक्रम्)। वैदिकीय संहिता (६ ४ ३ ४) के अनुसार तेरहवाँ मास होता ही है (अस्ति त्रयोदशी मास)। अथर्ववेद ८ ६ १८ में भी सात ऋतुओं का उल्लेख है (शेष पृ १०३ पर)।

३ पडरे (छह चक्रों वाले हैं) का अर्थ स्पष्ट नहीं है। प्रायः छह ऋतुओं की छह चक्रे माना गया है। वैसे अथर्ववेद में अनेक चक्र उल्लिखित हैं—छह पृथिवी, छह मौलिक आदि आदि (४ १११, ८ ६ १६ १७, १२ २ ४८, १३ १४)।

४ यह मंत्र श्रग्वेद (१-१६४-१२) और अथर्ववेद (६ ६ १२) में लिखा गया है।

अनु०—“[कुछ विद्वान्] पिता (पितृरूप आदित्य) को [ऋतुरूपी] पाँच पैरो वाला, [मासरूपी] बारह आकृतिओ वाला, चुबोक के परार्द्ध (उच्चतर अर्द्ध) में [स्थित], [और] जल वाला चलाते है। किन्तु ये दूसरे [उस] दूरदर्शी को अन्य (पूर्वार्द्ध, निम्नतर अर्द्ध) में सात चक्रों और छह अंगों वाले [रथ] में अवस्थित बतलाते है।” (११)

ति० अ०—“यही सूर्य जो सदात्मर-स्वरूप है पाँच पैर वाला है। यद्यपि वर्ष में छह ऋतुएँ होती है और प्रत्येक ऋतु में दो मास होते हैं परन्तु चूँकि जाँच के चार महीनों को एक ऋतु मान लिया गया है अतः पाँच पैर हुए। [सूर्य] के बारह जग होते हैं, जो बारह महीने हैं। छह मास दक्षिण की यात्रा में [वह] पानी बरसाता है—अर्थात् तीन महीनों में [उन के] अवरोह का कारण वर्षा है और तीन महीनों में हिमकण। छह महीनों की उत्तर की यात्रा में सूर्य को विषक्षण कहते हैं, अर्थात् सब को जानने वाला। अतः जो कोई इत पन्मास (छह मास की अवधि) में बरखा है वह सर्ववित् होता है। सूर्य की दक्षिण की ओर छह मास को पूरी यात्रा देवताओं की एक राति है, और सूर्य की उत्तर बिना में छह मास की यात्रा देवताओं का एक दिन है।” [११]

‘मासो वै प्रजापति । तस्य कृष्णपक्ष एव रयि, शुक्ल प्राण ।

तस्मादेत ऋषय शुक्ल इष्ट कुर्वन्ति, इतर इतरस्मिन् ॥१२॥

अनु०—‘मास ही प्रजापति है। उस का कृष्णपक्ष ही रयि है, शुक्ल [पक्ष] प्राण। इसलिए ये ऋषियण शुक्ल [पक्ष] में यज्ञ करते हैं, दूसरे (अन्नीपासक) दूसरे [पक्ष] में [यज्ञ करते हैं]। (१२)

‘मास ही प्रजापति है, क्योंकि उसी से पितृलोक की राति और दिन प्रकट होते हैं। चन्द्रमा के प्रकाश की बढ़ोतरी के पन्द्रह दिन (शुक्ल पक्ष) पितृलोक की राति है, क्योंकि प्रकाश की बढ़ोतरी (शुक्ल पक्ष) के दिनों में चन्द्रमा की ज्योति स्वल्प जगन् की ओर होती है। और पन्द्रह दिन पितृलोक में चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण रहता है क्योंकि प्रकाश की क्षीणता के दिनों (कृष्ण पक्ष) में चन्द्रमा की ज्योति पितृलोक की ओर होती है। इसी कारण कृष्ण पक्ष में जब कि चन्द्रमा की ज्योति क्षीण रहती है और पितृलोक की ओर होती है, यह विधान है कि जो दान (अथवा श्राद्ध) वर्षे पितरों के लिए किया जाता है उन दिनों में करे। [१२]

(पृष्ठ १०२ से) (सप्त अन्नो ह सप्त) । ऋग्वेद १०.४१.३ का ‘यन्न देवीं ऋतुं सप्तसप्त’ की तुलनीय है। किन्तु प्रस्तुत अ. १.१६.८.१२ की व्याख्या में सायण के अनुसार सप्त चर का अर्थ है सप्ता प्रकार की सूर्य रश्मियाँ। अ. १.१०.४.३ में सात रश्मियों का स्पष्ट उल्लेख है (अग्नी में सप्त द्रव्यम्) । शंकर के अनुसार सप्त चर से सूर्य के सात अश्व अभिप्रेत हैं। इस अर्थ में सन्देह होने लगता है जब हम अ. १.१६.४.३ और अर्थ ६.६.३ में सप्त अन्ना का उल्लेख ‘सप्तचक्र’ से स्तररूप में पाते हैं।



‘अहोरात्रो वै प्रजापतिः । तस्याहरेव प्राणो, रात्रिरेव रयिः । प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या सयुज्यन्ते । ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या सयुज्यन्ते ॥१३॥

अनु०—‘दिन-रात ही प्रजापति है । उन में दिन ही प्राण है, रात्रि ही रयि है । ये प्राण की ही हानि करते हैं जो दिन में रति के लिए [स्त्री से] सयुक्त होते हैं । वह ब्रह्मचर्य ही है जो रात्रि में रति के लिए संयोग करते हैं । (१३)

सि० अ०—‘यही अहोरात्र प्रजापति है । दिन जो कि अन्ता है प्राण है और रात्रि अन्न । जो कोई दिन में अपनी स्त्री के साथ रति करता है वह अपने प्राण को सुखाता है और जो कोई रात्रि में अपनी स्त्री के साथ रति करता है, माने उस ने स्त्री के साथ रति नहीं की और उस का कुछ भी नहीं घटा । रात्रि की रति में बहुत लाभ है । [१३]

‘अन्नं वै प्रजापतिः । ततो ह वै तद् रेतस्, तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

अनु०—‘अन्न ही प्रजापति है । निश्चय उसी से वह वीर्य होता है, उस [वीर्य] से ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं । (१४)

सि० अ०—‘यह अन्न ही प्रजापति है । क्योंकि वीर्य उसी से पैदा होता है और वीर्य से ही संपूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है । [१४]

‘तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो, ब्रह्मचर्यं; येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अनु०—‘इस प्रकार, जो उस प्रजापति-व्रत का आचरण करते हैं वे [कन्या-पुनरूप] मिथुन को उत्पन्न करते हैं । यह ब्रह्मलोक उन्हीं का है जिन में तप है, ब्रह्मचर्य है, जिन में सत्य स्थित है । (१५)

सि० अ०—‘जो पुरुष रात्रि में ही स्त्री के साथ रति करता है, दिन में सहवास नहीं करता, वह अपने वीर्य की हानि नहीं करता, क्योंकि उस ने रात्रि में जो रति की है उसी वीर्य से पुनः और नया उत्पन्न होती है । जो गुप्त रात्रि में स्त्री के साथ रति करता है वह ब्रह्मलोक को जाता है, जो एक प्रशस्त लोक है । जब कोई रज स्राव से मुक्त होने के चार दिन बाद सोलह दिन तक, जो गर्भ में वीर्य धारण की अवधि है, माघ में एक बार स्त्री के साथ जाता है, तो यह कर्म ब्रह्मचर्य में सम्मिलित है, अर्थात् उपासना और तप में सम्मिलित है, क्योंकि यह कार्य वह भोग के लिए नहीं करता,

बल्कि ईश्वर की आज्ञा से प्रजोत्पत्ति के लिए यह कार्य करता है। यदि [वह] इन अवधि में मास में एक बार नहीं जाना तो उसे ब्रह्महत्या लगती है अर्थात् उस ने ब्राह्मण का रक्त बहाया। और न जाने से नृनि पुत्र नहीं उत्पन्न होता तो मासो उस ने मनुष्य की हत्या की। वेद में अन्यत्र उल्लिखित है कि यदि [वह] रज साय के आरम्भ की छठी रात, आठवी रात दसवी रात, बारहवी रात चौदहवी रात, और सोलहवी रात, जो युग्म रात्रियाँ हैं, स्त्री के पास जाना है तो पुत्र उत्पन्न होगा है, और पान्वी रात जो रज शुद्धि की प्रथम रात्रि है, तथा तातवी नवी, ग्यारहवी, तेरहवी, पन्द्रहवी रात्रि को यदि स्त्री के समागम करता है तो कन्या उत्पन्न होती है। विधान है कि इस अवधि में जिन रात्रिआ को पुत्र उत्पन्न होना है चाहिए कि स्त्री नियमित भोजन से कुछ कम खाये, क्योंकि अन्न कम खाने से स्त्री का रज कम होता है, और, चूंकि पुरुष का बीर्य अधिक होता है, इसलिए पुत्र उत्पन्न होता है। जो रात्रियाँ पुत्रोत्पत्ति के लिए नियत हैं और स्त्री अधिक भक्ष खा लेती है, तो, चूंकि स्त्री का रज पुरुष के बीर्य से अधिक इकट्ठा हो जाता है, अतः उस पुत्र में स्त्रीय भावृति और प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि उन रात्रिआ में जिन में कन्या की उत्पत्ति नियत है पुरुष का बीर्य स्त्री के रज से अधिक होता है, तो ऐसी कन्या उत्पन्न होती है जिस में पुरुषोचित भावृति और प्रवृत्ति पायी जाती है। यदि रज और बीर्य दोनों अगुण्य रात्रिआ में जिन में निश्चित है कि कन्या होगी अथवा उन युग्म रात्रिआ में जिन में निश्चित है कि पुत्र होगा, बराबर हो तो पुत्र नपुंसक (हिजडा) उत्पन्न होता है। यदि युग्म रात्रिआ में होता है तो हिजडा पुरुषाभा होता है और यदि अगुण्य रात्रिआ में होता है तो हिजडा स्त्रीय होता है। यदि स्त्री उस अवधि में जिस में युग्म रात्रिआ पुत्र-जन्म के लिए नियत हैं और अगुण्य रात्रिआ कन्या के जन्म के लिए नियत है, पुरुष से रति न होने की दशा में स्वप्न देवे कि उस ने अपने पति से रति की है और स्खलित हुई है, तो, यदि सयोग से स्त्री के गर्भ ठहर जाय और वह प्रसव करे, तो निर्जीव मासपिण्ड उत्पन्न होता है और, यदि प्रसव न करे और वह (मासपिण्ड) पेट में ही रह जाय और उस का पेट फूल जाय, तो जब तक कि वह मासपिण्ड उस स्त्री के पेट में बहिर्गत न हो, तब तक उसे दूसरी सतान नहीं होती। कोई पुरुष मास में एक बार नियत विधि के अनुसार अपनी स्त्री से रति करता है, तो वह तप और ब्रह्मचर्य है, और तब सभी जातों में शान्त का व्यवहार करता है।<sup>१</sup> नेचल पाँच अवसर अपनाते हैं। यदि वह उन पाँच अवसरों पर

१ इस मतय का आधार धर्मशास्त्रों में वर्तमान है, जैसे मनुस्मृति ३.४५-४० और पराशरस्मृति ४.१५ में, यद्यपि याज्ञवल्क्यस्मृति, आषाढाध्याय १.८८, में जब जो में आये तब श्रोतमन की छूट भी गयी है। इस विधान के द्वारा परिवार को किसी सीमा तक मर्यादित रखा जा सकता था। ऋग्वेद १०.८५.४५ में दस पुत्रों की प्रार्थना है, तथापि शास्त्रकारों ने (जैसे मनुस्मृति १.१०७ म) यह व्यवस्था दे कर कि प्रथम पुत्र ही धर्मज्ञ (धर्म से उत्पन्न) होता है न कि शेष पुत्र जो कामय (जान से

असत्य भाषण भी करता है तो मानो सत्य ही बोलता है—प्रथम, विवाह के निमित्त जब कि ऐसे असत्य-भाषण की अनुमति है जिस से किसी का विवाह हो जाय, द्वितीय, किसी को प्राण-हानि में बचाने के लिए, जब कि कोई न्यय मारा जाने वाला हो तो यदि असत्य-भाषण करे तो वह विहित है, तृतीय, जहाँ किसी की सम्पत्ति व्यय, लुप्त रही हो, सम्पत्ति-रक्षा के लिए वह बोल कि यह भाव मेरा है, तो इस प्रकार का असत्य-भाषण विहित है, चतुर्थ, अपनी स्त्री से सहवास काल में यदि उस की प्रमत्तता के लिए असत्य भाषण करे तो वह विहित है, पंचम, यदि ब्राह्मण या गाम की प्रशंसा अथवा मुक्ति के लिए असत्य-भाषण करे तो उस की अनुमति है।<sup>१</sup> [१५]

उत्तरम्) बताये गये हैं, परिवार को न्यायित और सुनिश्चित रखने पर परीक्ष कृप से बल दिया है। श्रुत्येव १.१६४.३२ की जो व्याख्या परिधानक-संज्ञक व्याख्याकारों ने की है उस के अनुसार तो वेदमन्त्र की स्पष्ट ध्वनि है कि जिसे अधिक सतानें होती हैं वह कष्ट में पड़ता है। इस संबंध में निबन्ध २.२.४ द्रष्टव्य है। महाभारत, वनपर्व १८८.४१, में समानता की बहुलता को पुण्यक्षय का लक्षण माना गया है। महाभारत, आदि-पर्व १२२.७७, के अनुसार तो आपत्काल में भी तीन से अधिक सतान उत्पन्न करने की आज्ञा शास्त्रों ने नहीं दी है। यही तक नहीं, चौबीस तंतान चाहने वाली स्त्री को स्वैरिणी (स्मितिचारिणी) घोषित किया गया है, और पैंचबैं पुत्र के उत्पन्न होने पर कुतटा। श्लोक इस प्रकार है—

नातश्च चतुर्विंशति प्रसवमापत्स्वपि चतसृषु ।

अतः पर स्वैरिणी स्यात्, य-धको पञ्चमे भवेत् ॥

१ उक्त मतव्य यहाँ अनुसृष्टि ८.१०४-११२ तथा महाभारत, आदिपर्व ८२.१६; कर्णपर्व ६९.३२-३४, ६०, ६२-६५; सान्तिपर्व १०९.१४-२०; याज्ञवल्क्यस्मृति २.८१ पर आधारित प्रतीत होता है। इन में से अधोलिखित तीन श्लोक विशेष रोचक हैं—

धृष्ट-विष्ट-सत्र-विप्राणा यत्रतोंकती भवेद् वधः

तत्र वरतयमनुत, तद्धि सप्तमा विनिश्चयते ।

कामिनीषु, विवाहेषु, यदा मध्ये, तदेवमेव,

ब्राह्मणभृशुपत्नी च तपथे नास्ति पातकम् । (अनुसृष्टि ८.१०४, ११२)

न नमपुक्त वधन हिनस्ति,

न स्त्रीषु, राजन् । न विवाहकाले,

प्राणादयथे, सर्वधनापहारे—

पञ्चानुतायाहृतपातकानि । (महाभारत, आदिपर्व ८२.१६)

यद्यपि हमारे शास्त्रों में सत्य और अहिंसा को धर्म का मूलधार माना गया है (ब्रह्मसंहिता, वनपर्व २०७.७४), तथापि विशेष अवसरों के लिए सत्य की व्यावहारिक परिभाषा यह की है कि 'सत्य वह है जिस से प्राणियों का अत्यन्त हित-साधन सम्भव हो' ('यद् भूतहितपर्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा') महाभारत, वनपर्व

‘तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिहामनृत न माया च’  
इति ॥१६॥

अनु०—‘वह विमृद्ध ब्रह्मलोक उन वा है जिन में न कुटिलता है, न अनृत है, और न माया (कपट) ।’ (१६)

ति० अ०—‘जो पुरुष सश मयवृत्त होता है, कुटिल और कपटी नहीं होता, और न धूर्त, मयकार और अहकारी होता है उस वह पवित्र और विमृद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है जो मोक्षपथ है, और नरवरवरूप पापताप में वह पाप का पाप भोगने के लिए बाधक नहीं आता ।’ [१६]

॥ इति प्रथम प्रश्न ॥

द्वितीय प्रश्न

अथ हैन भार्गवो वैदग्धि पप्रच्छ—‘भगवन्’ कस्येव देवा प्रजा  
विधारयन्ते ? कतर एतत् प्रकाशयन्ते ? क पुनरेषां वरिष्ठ ?’  
इति ॥१॥

अनु०—तदनन्तर विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा—‘भगवन्’ कितने  
देवता प्रजा को धारण करते हैं ? उन में से कौन-कौन इसे प्रकाशित  
करते हैं ? उन में से कौन वरिष्ठ है ?’ (१)

ति० अ०—इस के पश्चात् ऋषीश्वर भार्गव वैदग्धि ने विष्णुसद से पूछा—‘भगवन्’  
शरीर के रसक कितने देवता हैं कौन कौन से देवता शरीर को प्रकाशित करते हैं, और  
इन देवताओं में कौन वरिष्ठ है ?’ [१]

तस्मै स होवाच—‘आकाशो ह वा एष देवो, वायुरग्निराप,  
पृथिवी, वाङ्, मनश्, चक्षु, श्रोत्र च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति,  
“वयमेतद् वाणमवष्टभ्य विधारयाम” ॥२॥

अनु०—बहुते हैं कि उस से उन्हो ने कहा—‘वह देव आकाश है, वायु,

२०१.४, ‘यद् भूतहितमायतमेतत् सत्यं वक्ष्यमहम् ।’ शान्तिपर्व २८७ २०, ‘यद्  
भूतहितमायतमेतत् सत्यं मत्तं मम ।’ शान्तिपर्व ३२९ १३) । किन्तु यह ध्यान रहे कि  
उपनिषत्तम आदरां प्रत्येक प्रकार में सत्यमायका की ही मान्य गयी है (दृष्टव्य महाभारत,  
शान्तिपर्व ११० ११, अनुशासन पर्व १४४ १९) और कि उपनिषत्तमों में उपर कथनों  
पर सत्य-मायका के लिए भी अवधारित का विधान है (दृष्टव्य मनुस्मृति ८.१०५-  
१०६; द्वाप्तवर्षास्मृति, व्यवहाराध्याय ८३) ।

अग्नि, जल, पृथिवी, वायु, मन, चक्षु, और श्रोत्र । वे [अपनी महिमा को] प्रकट करते हुए कहते हैं—“हम इस शरीर को सम्भाल कर धारण करते हैं ।” (२)

सि० अ०—मिथिलाद बोले—‘आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, मन, चक्षु, श्रोत्र, श्रोत्र—ये शरीर में अपनी महिमा प्रकट करते हुए एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे और प्रत्येक कहने लगा कि शरीर का धारक और प्रकाशक मैं ही हूँ । [२]

‘तान् वरिष्ठ प्राण उवाच—“मा मोहमापद्यथ । अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् वाणमवष्टभ्य विधारयामि” इति । तेऽश्रद्धधाना बभूवुः ॥३॥

अनु०—‘उन से वरिष्ठ प्राण ने कहा—“तुम मोह में न पड़ो; मैं ही अपने को पाँच रूप में विभक्त कर इस शरीर को सम्भाल कर धारण करता हूँ ।” उन्हें विश्वास नहीं हुआ । (३)

सि० अ०—‘उन से वरिष्ठ प्राण ने कहा कि तुम लोग व्यर्थ विचार न करो, क्योंकि मैं ही पञ्च महाभूत और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ बनकर शरीर का धारक और प्रकाशक हूँ । उन्होंने प्राण की शक्त पर विश्वास नहीं किया । [३]

‘सोऽभिमानाद्बुध्वमुत्क्रमत इव । तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्वे एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते । तद् यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्त सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त, एव वाङ्, मनश्च, चक्षुः, श्रोत्र च । ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥४॥

अनु०—‘तब वह अभिमानपूर्वक मानो ऊपर उठने लगा । उस के ऊपर उठने पर और सभी उठने लगते हैं और उस के स्थित होने पर सभी स्थित हो जाते । जिस प्रकार मधुकरराज के ऊपर उठने पर सभी मक्खियाँ ऊपर चढ़ने लगती हैं और उस के बैठ जाने पर सभी बैठ जाती हैं, उसी प्रकार वायु, मन, चक्षु, और श्रोत्र । वे सन्तुष्ट हो कर प्राण की स्तुति करने लगते हैं—(४)

सि० अ०—‘प्राण ने रष्ट हो कर चाहा कि निराल जाय । प्राण ने उत्थमन से सभी निपट्ट हो गये । जब प्राण होता है तो ये भी होते हैं । अनएव ज्यों ही मधुकरराज प्रयाण करते हैं, सभी मक्खियाँ प्रस्थान करने को विवश हो जाती हैं, और

यदि वे रहते हैं तो सभी विषय हो कर रहते हैं । इसी प्रकार प्राण के रहने से वक्षु, वाक्, मन, घ्राण, और श्रोत्र अपने अपने स्थान पर रहते हुए उस (प्राण) की स्तुति और प्रशंसा करने लगे कि—[४]

‘ “एयोऽग्निस् तपत्येष सूर्य, एष पर्जन्यो, मधवानेष, वायु ।  
एष पृथिवी, रयिर, देव, सदसच्, चामृत च यत् ॥५॥

अनु०—‘ “यह [प्राण] अग्नि हो कर तपता है, यह सूर्य है, यह मेघ है, यह इन्द्र है, [और] वायु । यह देव पृथिवी है, रयि है, और जो सत्, असत्, एवं अमृत है [वह सब] । (५)

ति० अ०—‘ “अग्नि प्राण का प्रकाशक है, सूर्य प्राण का प्रकाश है, मेघ प्राण की वर्षा करता है, देवराज इन्द्र प्राण है, महान् वायु प्राण है, पृथिवी प्राण है, वनस्पति और अन्न प्राण है, जो कुछ है प्राण है, जो नहीं है प्राण है, सब का प्रकाशक प्राण है, और अमृत प्राण है । [५]

‘ “अरा इव रथनाभौ प्राणे सयं प्रतिष्ठितम्—

ऋक्षो, यजूर्ध्वपि, सामानि, यज्ञ, क्षत्र, ब्रह्म च ॥६॥

अनु०—‘ “रथ की नाभि में अरों के समान प्राण में सभी स्थित है—  
ऋक्, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र, और ब्रह्म । (६)

ति० अ०—‘ “जैसा रथ के अंदर उस की नाभि के मध्य प्रतिष्ठित होते हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ प्राण में स्थित हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञ, क्षत्रिय, राजन्य, और ब्राह्मण प्राण हैं । [६]

‘ “प्रजापतिश्, चरसि गर्भे, त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्य, प्राण !

प्रजास् त्विमा बलि हरन्ति<sup>१</sup> य प्राणं प्रतितिष्ठसि ॥७॥

अनु०—‘ “[तू] प्रजापति है, [तू] गर्भ में सञ्चार करता है, तू ही जन्म ग्रहण करता है । तुझे ही, हे प्राण ! जो प्राणियों के साथ स्थित रहता है, ये प्रजाएँ बलि अर्पित करती हैं । (७)

ति० अ०—‘ “हे प्राण ! तू ही प्रजापति है और तू ही गर्भ में वीर्य को माता और पिता का रूप देने वाला है पुत्र रूप में तू ही है और वाक्, चक्षु और श्रोत्र सभी तुझे योग उपस्थित करते हैं । हे प्राण ! सभी इन्द्रियों के साथ समन करने वाला तू ही है । [७]

१ तुलनीय यजुर्वेद ३१.१६ अथर्ववेद १०.८.१३

२ तुलनीय अथर्ववेद ११.८.१६

‘ “देवानामसि वह्नितम्, पितृणा प्रथमा स्वधा ।

ऋषीणा चरित सत्यमयर्वाङ्मिरसामसि ॥८॥

अनु०—‘तू देवताओं के लिए वह्नितम् (हवि पहुँचाने वालों में प्रधान) है, पितृगण के लिए प्रथम स्वधा है। तू अयर्वाङ्मिरस ऋषियों के लिए सत्य आचरण है। (८)

ति० अ०—‘इन सब को परिचालित करने वाला तू ही है, सभी देवताओं को हवि पहुँचाने वाला तू ही है। पितृलोक को अन्नमयी स्वधा पहुँचाने वाला तू ही है, सब का अन्न भी तू ही है, शरीर में सभी इन्द्रियों का पालक तू ही है, और समस्त शरीर का सार तू ही है। [८]

‘ “इन्द्रस् त्व, प्राण । तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।

त्वमन्तरिक्षे चरसि, सूर्यस् त्व ज्योतिषा पति ॥९॥

अनु०—‘“हे प्राण ! तू तेज के कारण इन्द्र है, तू रक्षक रुद्र है। तू अन्तरिक्ष में सञ्चरण करता है, तू ज्योतिर्गण का अधिपति सूर्य है। (९)

ति० अ०—‘इन्द्र भी तू ही है, क्योंकि सब का सम्राट तू ही है। त्रेय की दशा में तू ही इन्द्र है, क्योंकि सब का सहारण तू ही है। तू ही विष्णु बन कर सभी ज्यों में सब का परिपालक है। अन्तरिक्ष में सूर्य का रूप धारण कर तू ही भ्रमण करता है। तू ही प्रकाशों का प्रवाह है। राजाओं का राजा तू ही है। [९]

‘ “यदा त्वमभिवर्षसि, अथेमा, प्राण । ते प्रजा

आनन्दरूपास् तिष्ठन्ति—कामायान् भविष्यतीति ॥१०॥

अनु०—‘“हे प्राण ! जब तू [मेघरूप में] बरसता है तब तेरी प्रजाएँ यह समझ कर कि यथेच्छ अन्न होगा आनन्दरूप से स्थित होती हैं। (१०)

ति० अ०—‘जब तू मेघ बन कर बरसता है तो सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं और मानद्विन हो कर जाना करने लगते हैं कि अब हमारे लिए अन्न उलझ होगा। [१०]

‘ “प्रात्यम्, त्व प्राणैवपिरत्ता, विश्वस्य सत्पति ।

वयमाद्यस्य दातार, पिता त्व, मातरिश्च । न ॥११॥

अनु०—‘“हे प्राण ! तू प्रात्य (स्वभावतः शुद्ध होने से गम्भार-निरपेक्ष) है, एवमात्र ऋषि (अर्थात् अग्नि) है, माता है, विश्व या सच्चा स्वामी है। हम [तेरा] भक्ष्य देने वाले हैं। हे वामो ! तू हमारा पिता है। (११)

सि० अ०—'तू ही पिता और माता, और तू ही सम्पूर्ण पुण्य कर्म है। तू ही महान् अग्नि है, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की नैसर्गिक उष्णता है। तू ही सब का मोक्ष है। तू ही सत्पति है। सारे भक्ष्य तेरे भक्ष्य हैं, पिता और माता तू ही है। [११]

' "या ते तनूर् वाचि प्रतिष्ठिता, या थोले, या च चक्षुषि,  
या च मनसि सन्तता, शिवा ता कुरु, मोक्षमी ॥१२॥

अनु०—'तेरा जो स्वरूप वाणी में स्थित है, जो श्रोत्र में, जो नेत्र में, और जो मन में व्याप्त है उसे तू मग्नमग्न कर, तू उत्कमण न कर। [१२]

वि० अ०—'तेरी ही शक्ति वाक् बलु श्रोत्र, और मन में है। चूंकि तेरी ही शक्ति इन में है, वत तू शवा इन का पालन कर, इन से उत्कमण न कर। [१२]

' "प्राणस्येद वशे सर्वं, त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम् ।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व, श्रीश् च प्रजा च विधेहि न " इति ॥१३॥

अनु०—'यह सभ प्राण के अधीन है, जो स्वर्गलोक में स्थित है [ब्रह्मा] । जैसे माता पुत्र की रक्षा [करती है वैसे] तू [हमारी] रक्षा कर, हमें श्री और बुद्धि प्रदान कर ।' (१३)

सि० अ०—'प्रकृति के हाथ में जो भी स्थित है वह प्राण है। जो कुछ स्वर्ग में है वह सब प्रकृति के हाथ में प्राण ही है। हे प्राण ! जैसे कृपालु माता पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर और हमें बुद्धि की सम्पदा दे ।' इस प्राण को, जिस की इतनी स्तुति हुई है विद्वान् और महात्मा कहते हैं—उम प्राण को गमस्ववार, अर्थात् उम प्राण को प्रणाम । [१३]

॥ इति द्वितीय प्रश्न ॥

### तृतीय प्रश्न

अथ हैन कौसल्यश्च चाश्वलायन पप्रच्छ—'भगवन् ! कुत एष प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिन् शरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिघत्ते? कथमध्यात्मम्?' इति ॥१॥

अनु०—तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि) से अश्वल के पुत्र कौसल्य ने पूछा—'भगवन् ! यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है? किस प्रकार इस शरीर में आता है? अपना विभाग कर के किस प्रकार स्थित होता है?



किस कारण उत्क्रमण करता है ? किस प्रकार वाह्य [शरीर] को धारण करता है ? कैसे अघ्रात्म (आभ्यन्तर शरीर) को ?' (१)

सि० अ०—इस के पश्चात् ऋषीश्वर कौसल्य ने पिप्पलाद से पूछा—भगवन् ! जिस प्राण की इतनी स्तुति हुई है वह कहाँ उत्पन्न होता है, इस शरीर में कैसे प्रवेश करता है पाँच रूपाय विभक्त हो कर इस शरीर में किस प्रकार रहता है किस प्रकार उत्क्रमण करता है बाहर कैसे है और भीतर कैसे है ? अर्थात् [वह] देवताओं और महापूता आदि में किस प्रकार रहता है और उस का शरीर में जानेदिगो से क्या संबंध है ? [१]

तस्मै स होवाच—‘अतिप्रश्नान् पृच्छसि । ब्रह्मिणोऽसीति, तस्मात् तेऽहं ब्रवीमि ॥२॥

अनु०—उस से उहा ने कहा—‘तू अतिप्रश्न (आत्यन्तिक, चरम प्रश्न) पूछता है । तू बड़ा ब्रह्मवादी लगता है, अतः मैं तुझे बतलाता हूँ । (२)

सि० अ०—पिप्पलाद बोले—‘तू न बड़ी बात पूछी । यह बात सब से कहने योग्य नहीं : ‘चूनि मैं जानता हूँ कि तू ब्रह्म का विज्ञान है अतः तुझ से कहता हूँ । [२]

‘आत्मन एव प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे धार्यतस्मिन्नौत-  
दाततम् । मनोकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे ॥३॥

अनु०—यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है । जिस प्रकार पुरुष में यह छाया है उसी प्रकार इस (आत्मा) में यह (प्राण) व्याप्त है । [यह] मनोदृत (मानसी क्रिया सकल्पादि) से इस शरीर में आता है । (३)

सि० अ०—यह प्राण आत्मा से प्रवट होता है जैसे पुरुष की छाया पुरुष से प्रवट होती है । यह प्राण आत्मा में व्याप्त ही रहता है जैसे छाया पुरुष में व्याप्त हो कर रहती है । [वह] मन के सकल में शरीर में आता है । [३]

यथा सम्राट्वाधिष्ठितान् विनियुङ्क्ते—एतान् ग्रामानेतान्  
ग्रामानधिनिष्ठस्व—इति एवमनैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक्  
पृथगेव मनिधत्ते ॥४॥

अनु०—जिस प्रकार सम्राट् ही ‘तुम इन इन ग्रामों का प्रशासन करो’ इस प्रकार अधिवाग्विद्या वा नियुक्त करता है, उसी प्रकार यह [मुख्य] प्राण अन्य प्राणों का पृथक् पृथक् अनुशासन करता है । (४)

सि० अ०—‘जैसे सम्राट्, सामंत (शूरेदार) को आदेश देता है कि इस नगर का प्रशासक तू रह और उस नगर का प्रशासक तू रह, इसी प्रकार मुख्य प्राण तमस्त गानेन्द्रियो को यत्न-तत्न आदेश देता है कि वे सर्वत्र अपना-अपना कार्य करें । [४]

‘पायूपस्थेऽपानं; चक्षुःश्रोत्रे, मुखनासिकाभ्या प्राणं स्वयं प्रातिष्ठते; मध्ये तु समानं । एष ह्येतद्धृतमन्नं सम नयति । तस्मादेताः सप्ताचिपो<sup>१</sup> भवन्ति ॥५॥

अनु०—‘पायु और उपस्थ में अपान है; मुख और नासिका के साथ नेत्र और श्रोत्र में प्राण स्वयं स्थित होता है; मध्य में तो समान रहता है । यह (समानपायु) ही खाये हुए अन्न को [पचा कर] सम कर देता है । उस से [दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासारन्ध्र, और एक रसना] ये सात पचालाएँ फूटती हैं । (५)

सि० अ०—‘[यह] अपान ही कर उन दोनों अवयवों (उपस्थ और पायु) में रहता है जो भूज और धुरीण के भाग हैं । चक्षुः, श्रोत्र, नासिका, और मुख में प्राण स्वयं रहता है । [यह] अग्नाशय में समान होकर रहता है और भोजन को पचा कर तमस्त शरीर में समान रूप से पहुँचा देता है । यही कारण है कि इस का नाम समान है । जब यह भोजन पच कर शरीर के अवयवों को पहुँचता है, तब सात स्थानों की शक्ति प्रदान करता और प्रभावित करता है—दोनों चक्षुः, दोनों श्रोत्र, दोनों नासिका-रन्ध्र, और मुख ।<sup>२</sup> [६]

‘हृदि ह्येष आत्मा । अतैतदेकशतं<sup>३</sup> नाडीनाम् । तासां शतं शतमेकैकस्या, द्वासप्ततिद् द्वासप्तति प्रतिशाखानाडीसहस्राणि<sup>४</sup> भवन्ति । आमु व्यानश् चरति ॥६॥

अनु०—‘हृदय में ही यह आत्मा है । इस (हृदयदेश) में वे एक-सी एक नाड़ियाँ हैं । उन में से एक-एक की सौ-सौ शाखाएँ हैं, [उन में भी प्रत्येक की] बहतर-बहतर सहस्र प्रतिशाखा-नाड़ियाँ हैं । इन में व्यान सञ्चरण करता है । (६)

१ मुच्यन्तेपनिषद् २.१.८ में उल्लिखित

२ ‘तिरं प्रचर’ के सम्पादक द्वारा यहाँ विराम-चिह्नों के प्रयोग में विरोध असाध्यानी हो गयी प्रतीत होती है, जिस से वाक्यार्थ मरतस्थित हो जाता है । हिन्दी अनुवादक ने यह गड़बड़ी दूर करने की कोशिश की है ।

३ कठोपनिषद् २.३. १६. तान्दाम्य पनिषद् ८ ६.५ में उल्लिखित

४ बृहदारण्यकपनिषद् २.१ १६ में उल्लिखित

सि० अ०—‘[वह] सूक्ष्म शरीर हो कर हृदय-कमल में [रहता है] जिस में एक ही एक नाडियाँ निहित हैं, उन एक ही एक नाडियों में से प्रत्येक नाडी में सौ-सौ अन्य (नाडियाँ) निहित हैं, और उन नाडियों में से प्रत्येक नाडी में अन्य नाडियाँ निहित हैं, जिन नाडियों की समुक्त संख्या बहत्तर सहस्र नाडी तक पहुँचती है। व्यान वायु इन बहत्तर सहस्र नाडियों में संचार करता है। [६]

‘अथैकयोध्वं उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

अनु०—‘अस्तु, एक [नाडी सुषुम्ना] द्वारा ऊपर की ओर उन्मुख उदान [वायु जोध को] पुण्य-कर्म के द्वारा पुण्यलोक को ले जाता है, पापकर्म के द्वारा पाप [लोक] को, [और पुण्य-पाप] दोनों [अर्थात् मिश्रित] कर्मों के द्वारा मनुष्यलोक को। (७)

सि० अ०—‘उन एक ही एक नाडियों में जो हृदय में निहित हैं एक महानाडी कण्ठ से पत कर मूर्धा तक पहुँचती है। प्राण उदान बन कर सब मार्ग से मूर्धा तक पहुँच कर मृत्यु के समय उसी मार्ग से उत्क्रमण कर जाता है। यदि [पुरष में] पुण्य कर्म किया है, तो पुण्य के भोग के लिए पुण्य लोकों को प्राप्त होता है; और यदि पाप किया है, तो प्राण पाप-पक्ष भोगने के लिए उधर न पहुँच कर अन्य मार्गों से उत्क्रमण करता है, और वर्मानुसार अन्य लोकों को प्राप्त होता है। यदि उम पुरुष का पुण्य और पाप बराबर होता है, तो उस की वासना उस की सत्ता में जाती है; ताकि उस की सत्ता से जो पुण्य-कर्म अनुष्ठित हो उन के द्वारा [वह] मोक्ष प्राप्त करे। अतः ऐसा पुरुष इसी लोक में पड़ रहता है और वही लोक उस का लोक होता है। [७]

‘आदित्यो ह वै वाह्यः प्राणः। उदयत्येव ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनु-  
गृह्णानः। पृथिव्या या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य, अन्तरा  
यदाकाशः स समानो, वायुर् व्यानः ॥८॥

अनु०—‘निश्चय आदित्य ही वाह्य प्राण है। यही इस पादपु (नेत्रेन्द्रियस्थित) प्राण पर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। पृथिवी में जो यह देवता है वह पुरुष के अपान [वायु] को धारण लिये हुए है। इन के मध्य में जो आकाश है वह समान है, वायु व्यान है। (८)

सि० अ०—‘वाह्य प्राण जो सूर्य है, आन्तर प्राण पर, जो पशु में निवास करता है, अनुग्रह करता हुआ उदित होता है, क्योंकि पशु का देवता सूर्य है। वाह्य

अपान जो पृथ्वी का देवता है आभ्यन्तर अपान को जो दो विविधित अवयवों (उपस्थ और पायु) में स्थित है अनुग्रहीत करता हुआ उस के अधिष्ठान पर दृष्टि रखता है। वाकाश का देवता जो वाह्य समान है आभ्यन्तर समान पर जो भोजन को पचा कर सम्पूर्ण शरीर में पहुँचा देता है अनुग्रह करता हुआ उस के अधिष्ठान पर दृष्टि रखता है। वायु का देवता जो वाह्य व्यान है आभ्यन्तर भ्यान पर अनुग्रह करता है। [८]

‘तेजो ह वा उदान । तस्मादुपशान्ततेजा पुनर्भवमिन्द्रियैर्  
मनसि सम्पद्यमानै ॥९॥

अनु०—‘निश्चय तेज ही उदान है। अतः जिस का तेज शान्त हो जाता है वह मन में तीन हुई इन्द्रियो-सहित पुनर्जन्म को [प्राप्त होता है]। (९)

ति० अ०—अग्नि का देवता जो वाह्य उदान है आभ्यन्तर उदान पर अनुग्रह करता है। यही कारण है कि मृत्यु के समय उदान वायु जब उत्क्रमण करता है तो शरीर की भौतिक छप्पना भूय हो जाती है और मरण काल में सभी इन्द्रियों की शक्तिश्रौ अपने-अपने अधिष्ठानों का त्याग कर हृदय में जमा हो जाती है। [९]

‘यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति। प्राणस्तेजसा युक्त सहात्मना  
यथासकल्पित लोक नयति ॥१०॥’

अनु०—इस का जैसा चित्त (सकल्प अथवा वासना) होता है उस से यह प्राण को प्राप्त होता है। प्राण तेज से युक्त हो [जीव्य हो] आत्मा के सहित सकल्प किसे हुए लोक को ले जाता है। (१०)

ति० अ०—[प्राण] हृदय से एकीभूत हो कर हृदय की वासना से बाहे भरी हो बाहे गुरी उन लोकों में शरीर धारण करता है जो उस वासना के अनुरूप है। वही प्राण पुण्य और पाप कर्मों का फल भोगने के लिए उदान बन कर भोगलोक (परलोक) को प्राप्त करता है। [१०]

‘य एव विद्वान् प्राण वेद न हास्य प्रजा हीयते, ऽमृतो भवति ।  
तदेव श्लोक —॥११॥

अनु०—‘जो विद्वान् प्राण को इस प्रकार जानता है निश्चय उस की सन्तान नष्ट नहीं होती, [वह] अमर हो जाता है। अतएव यह श्लोक है—(११)

ति० अ०—जो कोई प्राण को जैसा वर्णित किया गया है जान लेता है उस की सन्तान का वधापि क्षय नहीं होता और वह स्वयं अमर हो जाता है। इस विषय में वेद मात्र भी साक्षी है जो यह है—[११]

‘उत्पत्तिमायति, स्थानं, विभूत्वं चैव पञ्चधा,  
अध्यात्म चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते,  
विज्ञायामृतमश्नुते’ इति ॥१२॥

अनु०—‘प्राण की उत्पत्ति, आगमन, स्थिति, [वृत्ति-भेद से] पाँच प्रकार की व्यापकता, और अध्यात्म जान कर [मनुष्य] अमरत्व प्राप्त कर लेता है, जान कर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।’ (१२)

सि० अ०—‘जो कोई प्राण की पाँच वृत्तियों को जान लेता है—जो हैं प्राण की उत्पत्ति, शरीर में प्राण का आगमन, शरीर में प्राण की अवस्थिति, [उस का] सभी इन्द्रियों में व्यापन, और [उस का] आत्मा की छाया होना—वह अमर हो जाता है।’ [१२]

॥ इति तृतीय प्रश्नः ॥

चतुर्थ प्रश्नः

अथ हैन सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ—‘भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति ? कान्यस्मिन् जाग्रति ? कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति ? कस्यैतत् सुख भवति ? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्ति ?’ इति ॥१॥

अनु०—तदनन्तर उन (पिप्पलाद मुनि) से सूर्य के पोत्र गार्ग्य ने पूछा—‘भगवन् ! इस पुरुष में कौन [इन्द्रियों] सोते हैं ? कौन इस में जागती हैं ? कौन देव स्वप्नों को देखता है ? किसे यह सुख होता है ? किस में सब प्रतिष्ठित हैं ?’ (१)

सि० अ०—इस ने पश्चात् सौर्यायणि ऋषीश्वर ने पिप्पलाद से पूछा—‘हे भगवन् ! पुरुष के शरीर में कौन सोते हैं, कौन जागते हैं, कौन देखता है जो स्वप्न देखता है, सुखानुभव किसे होता है, और सब का आश्रय कौन है ?’ [१]

तस्मै स होवाच—‘यथा, गार्ग्य ! भरीचयोऽकंस्यास्त गच्छतः सर्वा एतस्मिन् तेजोमण्डल एकीभवन्ति, ता पुनः पुनरदयतः प्रचरन्ति, एव ह वै तत् सर्व परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तह्येष पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसायते, न स्मृशते, नाभिवदते, नादत्ते, नानन्दयते, न विसृजते, नेयायते; स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

अनु०—तब उस से उन्हो ने कहा—‘जिस प्रकार, हे गार्ग्य ! सूर्य के जस्त होने पर समस्त किरणें उस तेजोमण्डल में एकीभूत हो जाती हैं, और उस या उदय होने पर पुन फैल जाती है, उसी प्रकार वह सब परम देव मन में एकीभूत हो जाता है । इस से तब वह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चूँघता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द मोक्षता है, न मलोत्सर्ग करता है, न कोई चेष्टा करता है । [तब] वहते है, “सोता है” । (२)

सि० अ०—पिप्पलाद बोले— हे सौर्षाग्नि ! जब मूय अस्त होता है तो उस की समस्त किरणें उस के मण्डल में सौं जाती हैं और फिर जब उदित होता है तो उस की समस्त किरणें जो उस के मण्डल में निहित रहती हैं वहिगत हो कर फैल जाती हैं । इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ जमा हो कर मन में प्रविष्ट हो जाती हैं जो इन्द्रियों में श्रेष्ठ है । उस समय वह पुष्ट्य कुछ नहीं सुनाता कुछ नहीं देखता कुछ नहीं सूँघता, रसना से कोई रस नहीं लेता, कुछ स्पर्श नहीं करता, कुछ नहीं बोलता, हाथ से कुछ नहीं ग्रहण करता, मैथुन में कोई रस नहीं लेता, और मतमूत्र का उत्सर्ग नहीं करता । उस पुरुष को “स्वाप” कहते हैं, अर्थात् [इन में] अपने को पर तिया है । [१]

‘प्राणान्नय एवैतस्मिन् पुरे जाप्रति । गार्हपत्यो ह वा एपोऽपानो, व्यानोऽन्वाहार्यपचनो, यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीय प्राण ॥३॥

अनु०—इस [शरीररूप] पुर में प्राणाग्नि ही जलते है । निश्चय यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) है, जो गार्हपत्य [अग्नि] से ले जाया जाता है वह प्राण प्रणयन (ले जाये जाने) के कारण आहवनीय अग्नि है । (३)

सि० अ०—इस ब्रह्मपुर में जो कि यह है वही पाँच प्राण जलने रहते हैं जो पाँच वायु हैं और ज्योतिर्मय है—अपान एक अग्नि है व्यान द्वितीय अग्नि है, और प्राण इन अग्नियों में श्रेष्ठ अग्नि है । [३]

‘यदुच्छ्वासनि श्वासावेतावाहुती सम नयतीति स समान । मनो ह वाव यजमान । इष्टफलमेवोदान । ॥ एन यजमानमहरहर् ब्रह्म गमयति ॥४॥

अनु०—‘जो इन उच्छ्वास- और निश्वास- रूपी आहुतिजा को सम

रखता है वह समान । निश्चय मन ही यजमान है । इष्टफल ही उदान है । वह इस यजमान को नित्यप्रति ब्रह्मा के पास पहुँचाता है । (४)

सि० अ०—‘समान वह अग्नि है जिस में जो कुछ हवन करते हैं उसे वह भस्म कर देता है, अर्थात् भोजन का पाचक है, और अग्निहोत का उच्छ्वास और निश्वास है जिसे अग्नि में हवन करते हैं, और हृदयस्थी यजमान है । अग्निहोत का फल उदान है, क्योंकि उदानवायु फल की हृदय में पहुँचाता है । वह फल यह है कि नित्य प्रति सुषुप्ति-नास म जो आनन्दपूर्ण निद्रा है मन को ब्रह्म तक पहुँचा देता है । (४)

‘अक्षैप देव स्वप्ने महिमानमनुभवति—यद् दृष्ट दृष्टमनुपश्यति, श्रुत श्रुतमेवायंमनुशृणोति, देशदिगन्तरंश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्ट चादृष्ट च, श्रुत चाश्रुत च, अनुभूत चाननुभूत च, सच्च चासच्च च सर्वं पश्यति; सर्वं पश्यति ॥५॥

अनु०—‘इस [स्वप्नावस्था] में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है । जिस से [यह] देखे-भाले को [ही] देखता है, सुनी-सुनी बातों को ही सुनता है, देश-देशान्तर में अनुभव किये हुए को ही पुनः - पुनः अनुभव करता है, देखे और बिना देखे, सुने और बिना सुने, अनुभव किये हुए और बिना अनुभव किये हुए, सत् और असत् सभी को देखता है, सर्वस्व ही कर देखता है । (५)

सि० अ०—‘पुरुष जो मन में स्थित है और जो जीवात्मा है, स्वप्नावस्था में अपनी विभूति का दर्शन करता है, जो चाहता है उत्पन्न कर लेता है, जो कुछ जागरण में देखा हुआ होता है उसे स्वप्न में देखता है, जो कुछ जागरण में सुना हुआ होता है उसे स्वप्न में सुनता है, जो कुछ नगर में अथवा अन्यत्र देखा हुआ होता है और अनुभव बिना हुआ होता है उसे पुनः देखता है । दृष्ट और अदृष्ट, श्रुत और अश्रुत, ज्ञात और अज्ञात, सत्य और असत्य—सब कुछ आप ही ही कर सब कुछ देखता है । चूँकि आत्मा सनतन बाध परता है और सच्चा अप्रष्ट है, [अतः] जीवात्मा भी जो अहंकार-द्वारा आत्मा से भिन्न हो गया है, स्वप्न में समस्त बाधें करता है और अपने स्वाभाविक स्वरूप का परिचय नहीं करता । (५)

‘स यदा तेजसाभिभूतो भवति, अक्षैप देव स्वप्नान् न पश्यति । अयं तदैतस्मिन् शरीरे एतत् सुखं भवति ॥६॥

अनु०—‘जब यह तेज से अभिभूत होता है तब यह देव स्वप्न नहीं देखता । उस समय इस शरीर में यह सुख होता है । (६)

सि० अ०—स्वप्नावस्था म [जीवात्मा] त्रिम समय एव नाडी मे त्रिम का नाम पुरीतम् है, त्रिम से पित्त उत्पन्न होता है, और जिस म मन प्रवेश करता है, पित्त के स्थलन का मार्ग अवरुद्ध करता है, उस समय जीवात्मा कोई स्वप्न नहीं देखता, क्योंकि मन उस समय उस नाडी को बन्द कर देता है जो वागना का मार्ग है, और जब जातना-मार्ग बन्द हो गया तो स्वप्न नहीं देखता। जीवात्मा शरीर म उस समय भात्मा ही बन जाता है जो आनन्दस्वरूप है। [६]

‘स यथा, सोम्य । वयासि वासोवृक्ष सप्रतिष्ठन्ते, एव ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सप्रतिष्ठते—॥७॥

अनु०—‘वह जिस प्रकार, हे सोम्य! पक्षी अपने बसेरे के वृक्ष पर बसेरा लेते हैं, निश्चय उसी प्रकार वह सब परमात्मा में बसेरा लेता है—(७)

सि० अ०—हे सोम्य ! जैम सभी पक्षी वृक्ष के ऊपर विश्राम करते हैं जो उन के बसेरे का ठौर है, उसी प्रकार यह सब परमात्मा अर्थात् महानात्मा म स्थित हो कर विश्राम करते हैं जो जीवों का जीव है—[७]

‘पृथिवी च पृथिवीमात्रा च, आपश् च, आपोमात्रा च, तेजश् च तेजोमात्रा च, वायुश् च वायुमात्रा च, आकाशश् चाकाशमात्रा च, चक्षुश् च द्रष्टव्य च, श्रोत्र च श्रोतव्य च, घ्राण च घ्रातव्य च, रसश् च रसयितव्य च, त्वक् च स्पर्शयितव्य च, वाक् च वक्तव्य च, हृत्तौ घादातव्य च, उपस्थश् चानन्दयितव्य च, पायुश् च विसर्जयितव्य च, पादौ च गन्तव्य च, मनश् च मन्तव्य च, बुद्धिश् च बोद्धव्य च, अहङ्कारश् चाहङ्कृतव्य च, चित्त च चेतयितव्य च, तेजश् च विद्योतयितव्य च, प्राणश् च विधारयितव्य च ॥८॥

अनु०—पृथिवी और पृथिवी-मात्रा (गन्ध-तन्मात्रा), जल और जल-मात्रा (रस-तन्मात्रा), तेज और तेजोमात्रा (रूप-तन्मात्रा), वायु और वायु-मात्रा (स्पर्श-तन्मात्रा), आकाश और आकाश-मात्रा (शब्द-तन्मात्रा), नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द) घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रसना और रसयितव्य (रस) त्वचा और स्पर्शयितव्य (स्पर्श-योग्य पदार्थ), वाक् और वक्तव्य हृत्तौ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, उपस्थ और भोग्य पायु और मन पाद और गन्तव्य स्थान, मा और मन का विषय, बुद्धि और बोद्धव्य, अहङ्कार और अहङ्कार का विषय, चित्त



और चित्त का विषय, तेज और प्रकाश्य पदार्थ, प्राण और धारण करने योग्य पदार्थ । (८)

सि० अ०—‘स्थूल और उद्भूत पृथ्वी, स्थूल और उद्भूत जल, स्थूल और उद्भूत अग्नि, स्थूल और उद्भूत वायु, स्थूल और उद्भूत आकाश जो भूताकाश और हृदयाकाश है, नखु और जो कुछ दिखायी देता है, योत्र और जो कुछ मुना जाता है, घ्राण और जो कुछ सूँघा जाता है, रस और जो कुछ चखा जाता है, स्पर्श और जिस का स्पर्श होता है, बाणी और जो कुछ बोला जाता है, हस्त और जो कुछ उस के द्वारा गृहीत होता है, पैर और स्थान जहाँ पैर स जाया जाय, पायु और भल, उगस्व और उस का आनन्द, मन और मनोरप, बुद्धि और बुद्धि का गुण, अहकार और अहकार का गुण जिसे अह-अह कहते हैं, चित्त और चित्त का गुण अर्थात् हृदय और हृदयवृत्ति, प्रकाशमान और प्रकाश, शक्ति और शक्ति की क्रिया—ये सब सुषुप्तिकाल में परमात्मा में विधायन करते हैं । [८]

‘एष हि द्रष्टा, स्पृष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः । ‘स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥९॥

अनु०—‘यही द्रष्टा, स्पृष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता (मनन करने वाला), बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुष है । वह परम अक्षर (अक्षय) आत्मा में स्थित हो जाता है । (९)

सि० अ०—‘वह परमात्मा इन सब का अधिष्ठान है । यही परमात्मा द्रष्टा है, स्पृष्टा है, श्रोता है, घ्राता है, रसयिता है, मन की क्रियाओं का कर्ता है, बुद्धि की क्रियाओं का कर्ता है, कर्ता अर्थात् सर्वकर्ता है, विज्ञानात्मा है, और पुरुष है अर्थात् सब में “पुरु” (पूर्ण, भरा हुआ) है । [९]

‘परमेवाक्षर प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमक्षरीरमलोहितं शुभ्रमक्षर वेदयते—यस् तु, सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेव श्लोक —॥१०॥

अनु०—‘वह परम अक्षर को ही प्राप्त होता है जो कोई इस छायाहीन, अक्षरीर, अलोहित, शुभ्र अक्षर को जानता है—जो भी, हे सोम्य ! वह सर्वज्ञ [हो कर] सर्वरूप हो जाता है । अतएव यह श्लोक है—(१०)

सि० अ०—‘इस आत्मा के छाया नहीं, शरीर नहीं, रस नहीं । [वह] पवित्र शुभ्र, और शुद्ध है । [इसे] जो कोई इस प्रकार जानता है वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है । वेद-मन्त्र में इसी अर्थ के अनुसार [आता] है, रि—[१०]

‘ “विज्ञानात्मा सह देवैश् च सर्वे,  
प्राणा, भूतानि सप्रतिष्ठन्ति यत्र  
तदक्षर वेदयते यस् तु, सोम्य ।  
स सर्वज्ञ सर्वमेवाविवेश” इति’ ॥११॥

अनु०—‘ हे सोम्य । जिस में समस्त देवों सहित विज्ञानात्मा, प्राण, और भूत सम्यक् प्रकार से स्थित होते हैं उस अक्षर को जो जानता है उस सर्वज्ञ की सभी में गति हो जाती है । ’ (११)

सि० अ०—‘ यह आत्मा विज्ञानात्मा है । जीवात्मा और समस्त ज्ञानेश्वरों और उन के देवता और विषय उसी तत्त्व में खोए हो जाते हैं । हे सोम्य ! जो कोई उस तत्त्व को जान लेता है वह सर्वज्ञ हो जाता है सर्वविद्या हो जाता है । [११]

॥ इति चतुर्थं प्रश्न ॥

पञ्चम प्रश्न

अथ हैन शैथ्य सत्यकाम पप्रच्छ—‘स यो ह वै तद्, भगवन् ।  
मनुष्येषु प्रायणान्तमोक्षारमभिध्यायीत कतम वाव स तेन लोक  
जयति ?’ इति ॥१॥

अनु०—तदनन्तर उन से शिबिपुत्र सत्यकाम ने पूछा—‘भगवन् । मनुष्यों में जो प्राणप्रयाणपर्यन्त इस ओरों का चिन्तन करे, वह उस से किस लोक को जीत लेता है ?’ (१)

सि० अ०—इस के अनन्तर सत्यकाम नामक ऋषीश्वर ने पिप्पलाद से पूछा—हे भगवन् । सभी मनुष्यों में से जो मरणकालपर्यन्त प्रणव अर्थात् ओम् ॥ ध्यान करता है वह ध्यान के द्वारा किस लोक को प्राप्त करता है ? [१]

तस्मै ॥ होवाच—एतद् वै, सत्यकाम । पर चापर च ब्रह्म  
यदोक्षार । तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेनैव तरमन्वति ॥२॥

अनु०—उस से उन्होंने ने कहा—विश्चय है सत्यकाम । यह जो ओंकार है वही पर (निष्पुण) और अपर (सगुण) ब्रह्म है । अतः विद्वान् इसी के आश्रय से किसी एक [ब्रह्म] का प्राप्न हा जाता है । (२)

सि० अ०—पिप्पलाद बोले—हे सत्यकाम । वही नाम पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म

अर्थात् निर्विशेष (निगुण) और सविशेष (सगुण) <sup>१</sup>, है। इस नाम की जानने वाला और इस नाम की साधना करने वाला इसी नाम के ध्यान से इन निर्विशेष और सविशेष दो तत्त्वा में से एक का प्राप्त करता है। [२]

‘स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव सवेदितस् तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

अनु०—वह यदि [ओकार की] एक मात्रा(अ)का ध्यान करता है तो उसी से बोधयुक्त होकर तुरन्त ही ससार को प्राप्त हो जाता है। उसे ब्रह्मचर्य मनुष्यलोक में ले जाती हैं। वह वहाँ तप, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा से सम्पन्न हो कर महिमा का अनुभव करता है। (३)

सि० अ०—यह नाम साठ तीस मात्राएँ रखता है अर्थात् इस में साठे तीस भाग होते हैं। यदि [उपासक] इस महाशब्द (प्रणव) की एक मात्रा से उपासना करे तो इस उपासना के पुण्य से श्रद्धा उसे इसी लोक में भोगों से विरक्ति तप थड़ा और समाग प्राप्त करा देता है और वह पुरुष मनुष्यो में महिमा प्राप्त कर लेता है। [१]

‘अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्ष यजुर्भिरुनीयते सोमलोकम्, सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

अनु०—और यदि वह [ओकार की] दो मात्राया (अ+उ) से मन में समाहित होता है तो उसे यजु श्रुतिओं साम-श्लोक में ले जाती हैं, [और] सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह फिर सौद आता है। (४)

सि० अ०—यदि [उपासक] इस महाशब्द की दो मात्राया में उपासना करे तो इस उपासना के पुण्य में अनुवेद उस आकाश और पृथ्वी से परे ले जा कर चन्द्रमा में पहुँचा कर और उस साँ में महिमावित कर दूसरे लोक में पहुँचा देता है। [४]

य पुनरेत निमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्यं सपत्न। यथा पादोदरस् त्वचा विनिर्मुच्यत, एव ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त। स सामगिरुनीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज् जीवधनात् परात् पर पुरिशय पुरुषमीक्षते। तदेतो श्लोकी भवत —॥५॥

अनु०—जा पुन [आकार की] तीन मात्राया (अ+उ+म) से ३३ इस

अक्षर द्वारा इस परम पुरुष की उपासना करता है वह तेजोमय सूर्य [लोक] को प्राप्त होता है। जिस प्रकार सर्प केंचुली से निकल आता है उसी प्रकार यह पापी से मुक्त हो जाता है। वह सामश्रुतिओं द्वारा ब्रह्मलोक में से जाया जाता है। वह इस जीवघन से ऊँचे से ऊँचे, हृदय में स्थित, परम पुरुष का साक्षात्कार करता है। अतएव ये दो श्लोक हैं—(५)

सि० अ०—‘यदि [उपासक] तीन मात्राओं से इस महाशब्द की उपासना करे तो उसे सामवेद इस नाम के पुण्य से तेजोवर्धन से जा कर और वहाँ ऐश्वर्य और महिमा प्रदान कर दूसरे लोक में पहुँचा देता है। यदि [उपासक] इस महाशब्द की पूरी साढ़े तीन मात्राओं से उपासना करता है तो इस महाशब्द के पुण्य से इस नाम का उपासक महाप्रबोधि को प्राप्त करता है। जैसे सर्प केंचुल को त्याग कर केंचुल से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार इस महाशब्द का साधक पापी से निकल आता है। अथर्ववेद उसे ब्रह्मलोक को प्राप्त करा देता है, जहाँ [वह] जीवघन को प्राप्त कर जीवा के जीव को देखता है जो सभी शरीरों में पूर्ण है, अर्थात् परब्रह्म हो जाता है। ये [दो] वेद-मन्त्र इस में प्रमाण हैं—[५]

‘तिल्लो मात्रा मृत्युमत्य’, प्रयुक्ता,  
अन्योन्यसक्ता, अनविप्रयुक्ता ।

क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु

सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञ ॥६॥

अनु०—‘[ओषार की] तीनो मात्राएँ मृत्युयुक्त, मगुक्त, परस्पर सम्बद्ध, तथा अपृथक्सिद्ध हैं। बाह्य, आभ्यन्तर, और मध्यम क्रियाओं में [उन के] सम्यक् प्रयोग से ज्ञाता पुरुष विचलित नहीं होता। (६)

सि० अ०—‘साधक ने इस नाम से तीन मात्राओं तक ध्यान किया है, जो पुण्य भी हैं और समुक्त भी। उस साधक पर मृत्यु का वश नहीं चलता। इस महाशब्द की साधना तीन प्रकार की है। प्रथम, जिह्वा से ऊँची ध्वनि करना, जो दूसरे को सुनायी दे। यह आरम्भिक उपयोग का स्थान है। द्वितीय, जिह्वा से धीमी ध्वनि करना, जिसे स्वयं सुने और दूसरा न सुने। यह मध्यम उपयोग का स्थान है। तृतीय, जिह्वा से बोले बिना और जिह्वा हिलाये बिना मन में बोना जाय। यह उत्तम उपयोग का स्थान है। जो कोई इस साधना का ज्ञाता है और सदा इस उपासना का अनुष्ठान करता है और कुछ दिन न कर के छोड़ देता है वह उपासक इस उपासना के पुण्य से निरक्षत हो जाता है। [६]

‘ “ऋग्भिरेत, यजुभिरन्तरिक्ष,  
सामभिर् यत् तत् कवयो वेदयन्ते ।

तमो ह्यारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्

यत् तच्छान्तमजरममृतमभय पर” इति ॥७॥

अनु०—“[साधक] ऋग्वेद द्वारा इम (पृथिवी-लोक) को, यजुर्वेद द्वारा अन्तरिक्ष को, और सामवेद द्वारा जिस [लोक] को [प्राप्त होता है] उसे क्रान्तदर्शी [पुरुष] जानते हैं [अर्थात् द्यौ-लोक को]’ । उस ओकाररूप आलम्बित के द्वारा ही विद्वान् जिस लोक को प्राप्त होता है वह शान्त, अजर, अमर, अभय, एव परम (थेष्ठ) है।” (७)

सि० अ०—“ऋग्वेद उसे इम पृथ्वीलोक में महिमा प्रदान करता है, यजुर्वेद उसे अन्तरिक्ष में महिमा प्रदान करता है, सामवेद उस द्यौलोक में महिमा प्रदान करता है । आती और महात्माओं ने ऐसा कहा है—जो कोई पूरी सारे तीन मात्राओं में इम महाशब्द को उच्चारण करता है वह उपासक हिरण्यगर्भ-लोक को प्राप्त कर, शान्ति हो कर, उस सत्त्व को पा लेता है जिन अरु नहीं आती, जिस को मृत्यु नहीं होती, जिस का क्षय नहीं होता, और जिन भय नहीं होता । वह पर भी है, वह अजर भी है । अर्थात् यह निविशेष भी है वह सविशेष भी है।” (७)

॥ इति पञ्चम प्रश्न ॥

षष्ठ प्रश्न

अथ हैन सुवेशा भारद्वाज पप्रच्छ—‘भगवन् । हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यत प्रश्नमपृच्छत—“पोडशाक्ष, भारद्वाज । पुरुष वेत्य ?” तमहं कुमारमब्रुव—“नाह्मिम वेद । यद्यहमिममवेदिष्य, कथं ते नावक्ष्यमिति ? समूलो या एष परिमुप्यति योज्ज्वलतमभिबदति । तस्मान् नाह्मिम्यनूत वक्तुम् ।” ॥ तूष्णीं रयमाहृह्य प्रवयाज । त त्वा पृच्छामि, वदामी पुरुष इति ?” ॥१॥

१ तुलनीय बृहदारण्यकोपनिषद १.५ ४-५, जिन में ऋग्वेद का सम्बन्ध पृथिवी, यजुर्वेद का अन्तरिक्ष, और सामवेद का द्यौ-लोक से बनसाया गया है । ये तीनों लोक विभाग हैं, अविभाज्य ब्रह्मलोक है जो ओङ्कार को साधना में प्राप्य है । प्रसंगत,

अनु०—तदनन्तर उन (पिप्पलाद से) भरद्वाज के पुत्र सुकेजा ने पूछा—‘भगवन् ! कोसलदेश के राजकुमार हिरण्यनाभ ने मेरे पास आ कर यह प्रश्न पूछा था—“भारद्वाज ! क्या तू सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानता है ?” मैं ने उस कुमार से कहा—“मैं इसे नहीं जानता । यदि मैं इसे जानता होता, तो सुखे बयो न बतलाता ? जो मिथ्या भाषण करता है वह मूलसहित मूख जाता है । अतः मैं मिथ्या-भाषण नहीं कर सकता ।” वह चुपचाप रथ पर चढ़ कर चला गया । सो अब मैं आप से पूछता हूँ, वह पुरुष कहीं है ?” (१)

सि० अ०—इस के अनन्तर उस सुकेजा ऋषीश्वर ने पिप्पलाद से पूछा—‘हे भगवन् ! कोसल के राजकुमार हिरण्यनाभ ने आ कर मुझ से प्रश्न किया, ‘हे भारद्वाज ! क्या तू उस पुरुष को जानता है जिस पुरुष में सोलह कलाएँ हैं ?’ मैं ने उत्तर दिया, ‘मैं उस पुरुष को नहीं जानता, यदि उस पुरुष को जानता तो सुखे बयो न बतलाता ? वृद्धो ने कहा है कि जो मिथ्या भाषण करता है वह जब से मूख जाता है ! अतः मैं तुम से झूठ क्यों धोऊँ ? वह राजकुमार यह उत्तर सुन कर और कुछ बड़े दिना रथ पर सवार हो चल दिया । हे पिप्पलाद ! मैं आप से पूछता हूँ कि वह पुरुष कहीं है ?’ [१]

तस्मै स होवाच—‘इहैवान्त शरीरे, सोम्य । स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडश कला प्रभवन्ति’ इति ॥२॥

अनु०—उस से उन्हो (पिप्पलाद) ने कहा—‘इसी शरीर के भीतर, हे सोम्य ! वह पुरुष वर्तमान है जिस में इन सोलह कलाओं का प्रदुर्भाव होता है’ । (२)

सि० अ०—पिप्पलाद उस से बोले—‘हे सोम्य ! वह पुरुष इसी शरीर के भीतर वर्तमान है । वह पुरुष जिस में सोलह कलाएँ होती हैं वह उन्हीं में प्रादुर्भाव होता है । [२]

तैत्तिरीयोपनिषद् १५२ में इस का विषय हो कर यजुर्वेद का सम्बन्ध छी-लोक से और सामवेद का अन्तरिक्ष से हो गया है ।

शक्र ने दो लोक पों एकदम उड़ा दिया है, और सामवेद का सम्बन्ध ब्रह्मलोक से स्थापित कर दिया है, जो वैदिक जिलोकी का स्वल्प ध्यान से उतर जाने के कारण हुआ है । दारार्थिकोह को मन के वास्तविक अर्थ को एकदम का खोप प्राप्त है ।

१ आगे, मंत्र ५ में, परिपूर्ण, त्रिप की त्रिपक्षी भी दृश्य है ।

‘स ईक्षा चक्रे—“कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि,  
कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि ?” इति ॥३॥

अनु०—‘उस ने विचार किया—“किस के उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रमण  
कर जाऊँगा, और किस के स्थित रहने पर मैं स्थित रहूँगा ?” (३)

सि० अ०—‘उस पुरुष के मन में आया कि इन सोलह कलाओं के मध्य किस  
कला की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित होऊँ और किस के उत्क्रमण से उत्क्रमण कर जाऊँ । [१]

‘स प्राणमसृजत; प्राणाच्छ्रद्धा, खं, वायुर्, ज्योतिराप.,  
पृथिवीन्द्रिय, मनो, अन्नम्; अन्नाद् वीर्यं, तपो, मन्त्रा., कर्म, लोका,  
लोकेषु नाम च ॥४॥’

अनु०—‘उस ने प्राण को रचा, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज,  
जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, [और] अन्न को; [तथा] अन्न से वीर्य, तप,  
मन्त्र, कर्म, और लोकों को, एव लोकों में नाम को । (४)

सि० अ०—‘अन [उस ने] उस पुरुष से प्राण को रचा । प्राण से यहाँ  
हिरण्यगर्भ अभिप्रेत है । [उस ने] प्राण से श्रद्धा को उत्पन्न किया, श्रद्धा से भूतनाश  
को उत्पन्न किया, भूतनाश से वायु को उत्पन्न किया, वायु से अग्नि को उत्पन्न किया,  
अग्नि से जल को उत्पन्न किया, जल से पृथ्वी को उत्पन्न किया, पृथ्वी से समस्त ज्ञानेन्द्रिया  
को उत्पन्न किया, इन्द्रिया स मन को उत्पन्न किया, मन से अन्न को उत्पन्न किया, अन्न  
से वीर्य को उत्पन्न किया, वीर्य से तप को उत्पन्न किया, तप से कर्म को उत्पन्न किया,  
और कर्म से नाम और रूप को उत्पन्न किया । [४]

‘स यथेमा नद्य स्यन्दमाना समुद्रायणा समुद्र प्राप्वास्त  
गच्छन्ति, भिद्येते तासा नामरूपे, समुद्र इत्येव प्रोच्यते, एवमेवास्थ  
परिद्रष्टुरिमा षोडश कृता. पुरुषायणा पुरुष प्राप्वास्त गच्छन्ति,  
भिद्येते चासा नामरूपे, पुरुष इत्येव प्रोच्यते । स एपोऽकलोऽमृतो  
भवति । तदेव श्लोक—॥१॥

अनु०—वह [दृष्टान्त] इस प्रकार है—जिस प्रकार बहती हुई ये  
नदियाँ समुद्र को प्राप्त हो कर अस्त हो जाती हैं, उन के नाम-रूप नष्ट

१ मे ही मंत्र ४ में अस्मिन्नित पुरुष कलार्थ है । तुलसीय-सुषुप्तावनिषद् ३.२.७;  
बृहदारण्यकनिषद् १.४.१-४.१४ अथवा शनपथब्राह्मण २०.४.१.१७, शान्दायनिषद्  
६ ७, मनुस्मृति (वायव्यकी मरिता) ८.३६

हो जाते हैं, और वे "समुद्र" ऐसा बह कर पुबारी जाती है, उसी प्रकार इस सर्वद्रष्टा की ये पुरुष में बगने वाली सोलह बत्ताएँ उस पुरुष को प्राप्त हो कर लीन हो जाती हैं, उन वे नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, और वे "पुरुष" ऐसा बह कर पुबारी जाती हैं। वह बलाहीन और अमर हो जाता है। अतएव यह श्लोक है—(५)

सि० अ०—'अतएव समस्त भविष्य विशाल समुद्रः निकलती हैं,<sup>१</sup> नाम और रूप ग्रहण करती हैं, और फिर नाम और रूप का परित्याग कर और विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो विशाल समुद्र बन जाती हैं। इसी प्रकार ये सोलह बत्ताएँ जीवात्मा से प्राप्त होती हैं जो सर्वद्रष्टा है, उसी में रहती हैं उसी में लीन होती हैं, और जब लीन होती हैं तब उन के नाम और रूप जीवात्मा में लीन हो जाते हैं। उस समय जीवात्मा की पुरुष कहा जाता है क्योंकि सभी उस में 'पुरु' (पूर्ण) हो जाते हैं। जब ये सोलह बत्ताएँ अस्त हो जाती हैं तो जीवात्मा आत्मा हो जाता है। [बह] उस समय अमर हो जाता है, क्योंकि [बह] सोलह बत्ताओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इन सोलह बत्ताओं का तात्पर्य है पाँच बाह्य ज्ञानन्द्रियाँ, पाँच आन्तरिक मानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन जो मोहना बनाया हुआ योग होता है। जब तक ये सोलह तत्त्व पुरुष में रहते हैं तब तक वह विदेहमुक्त रहता है, अर्थात्, बिना ज्ञान और आत्मभाव के जिन से हम जरीर के होने हुए जीवमुक्त हो जाता है, जरीर में मुक्ति नहीं प्राप्त करता। [१]

'अरा इव रयनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता  
त वेद्य पुरुष वेद, यथा मा वो मृत्यु परिव्यया' इति ॥६॥

अनु०—'जिस में, रथ की नाभि में अरों के समान, बत्ताएँ स्थित हैं उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो, जिस से मृत्यु तुम्हें कष्ट न पहुँचा सके।' (६)

सि० अ०—'इस विषय में यह वेद मत भी प्रमाण है—'जिस प्रकार रथ के अरे रथ की नाभि में स्थित हैं उसी प्रकार ये सोलह बत्ताएँ पुरुष में सुदृढ़ और भावद्व

१ दारानिकोह ने यहाँ अत्रस्थ 'समुद्रावयव' शब्द का अर्थ लीये-लीये 'समुद्र जिस का घर है' ऐसा किया है। शंकर के अनुसार इस का अर्थ है—'समुद्रावयवा समुद्रोपवन गति आत्मभावो यस्मात्ता समुद्रावयवा समुद्रावयवस्यास्त नामरूपतिरस्कार गच्छन्ति' अर्थात् 'समुद्र जिस की गति अर्थात् आत्मभाव हो, अथवा समुद्र को प्राप्त हो कर अस्त अर्थात् नष्ट रूप को सो देने वाली।

२ यह वाक्य सूक्त गव ५ का समाप्त-वाक्य है, जिसे दारानिकोह ने मत्र ६ का आरम्भ्य वाक्य बना दिया है।



हैं, जो वह आत्मा है। यदि इस पुरुष को जान लिया जो जानने योग्य है, तो तुम्हें मृत्यु का कष्ट नहीं होगा।" [६]

तान् होवाच—'एतावदेवाहमेतत् पर ब्रह्म वेद । नात परमस्ति' इति ॥७॥

अनु०—कहते हैं कि उन से [पिप्पलाद मुनि ने] कहा—'इस परब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ। इस (ब्रह्म) से बड़ा अन्य कुछ नहीं है।' (७)

सि० अ०—यह बात पिप्पलाद ने अपने शिष्यों से कही कि मैं परब्रह्म को इतना ही जानता हूँ और इस से अधिक ज्ञातव्य नहीं है। [७]

ते तमर्चयन्त—'स्व हि न पिता योऽस्माकमविद्याया पर पार तारयसि' इति । नम परमन्मृषिभ्यो, नम परमन्मृषिभ्य ॥८॥

उन्हो ने उन की पूजा (स्तुति) की—'आप तो हमारे पिता हैं जिन्हो ने हमे अविद्या के उस पार पहुँचा दिया है।' परमपिओ को हमारा नमस्कार, परमपिओ को हमारा नमस्कार। (८)

सि० अ०—ममस्त शिष्या न यह बात मुनकर पिप्पलाद की पूजा की और कहा कि 'आप हमारे माय हैं और हमारे पितृतुल्य हैं क्योंकि [आप ने हम] इस अविद्या के सागर से जो अज्ञान है पार कर के हमारे किनारे पर पहुँचा दिया।'।

महाशान्तिया को नमस्कार । महाशान्तिया को नमस्कार ।। अर्वात ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं को दो बार प्रणाम । [८]

ॐ भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवा । भद्र पश्येमाक्षभिः पश्यन्ना,  
स्त्रिररङ्गैस्त्वनुवासेत् तनूभिर् व्यनेम देवहितं यदायुः ।  
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा,  
स्वस्ति नस्तारक्ष्यो अरिष्टनेमि, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

॥ इति प्रश्नारण्यनिषद् समाप्ता ॥

# मुण्डकोपनिषद्

(अथर्ववेदीया)

शान्तिपाठ

ॐ भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवा । भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्रा ,  
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवासेस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः ।

(ऋग्वेद १ ८१ ८)

अनु०—हे देवगण ! हम कानों से कल्याणी वाणी सुनें, यज्ञकर्म में समर्थ हो कर नेत्रों से शुभ दर्शन कर स्थिर अंग और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग देवताओं के लिए हितकर आयु का भोग करें ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा,  
स्वस्ति नस्तारक्ष्यो अरिष्टनेमि, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।

(ऋग्वेद १ ८१ ९)

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

अनु०—महान् कीर्तिवाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ (अथवा सर्वैश्वर्यवान्) पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टो (आपत्तिओं) के लिए चक्र के समान [घातक] है वह गरुड हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे । विविध ताप की शान्ति हो ।

## प्रथमो मुण्डकः

प्रथम खण्ड

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमं सम्बभूव—

विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता ।

स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा-

मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

अनु०—देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ—सब का रचयिता, त्रिभुवन का रक्षक । उस ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आश्रयभूता ब्रह्मविद्या का उपदेश किया । (१)

सि० अ०—सभी देवताओं ने पूर्व गृह्ये ब्रह्मा प्रकट हुआ, अर्थात् सृष्टि करने वाला देव—ऐसा ब्रह्मा जो सबों का रचयिता है और ससार का स्वामी । उस ब्रह्मा ने अथर्वा नामधारी अपने ज्येष्ठ पुत्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जो विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है और जिस में सभी विद्याएँ [प्रतिष्ठित] हैं । [१]

अथर्वणे या प्रवेदेत ब्रह्मा ।  
 अथर्वा सा पुरोवाचाङ्गिरो ब्रह्मविद्याम्,<sup>१</sup>  
 स भारद्वाजाय सत्यवह्म प्राह,  
 भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

अनु०—ब्रह्मा ने अथर्वा को जिस का उपदेश किया था उस ब्रह्मविद्या का पूर्वकाल में अथर्वा ने अङ्गी को उपदेश किया । उस (अङ्गी) ने उसे भरद्वाज के पुत्र सत्यवह्म से कहा, तथा भरद्वाजपुत्र (सत्यवह्म) ने [इस प्रकार] ज्येष्ठ से कनिष्ठ को प्राप्त होती हुई वह विद्या अङ्गिरा से ली । (२)

सि० अ०—उस विद्या का जिस का उपदेश ब्रह्मा ने अथर्वा को किया था अथर्वा ने अङ्गी को उपदेश किया, अङ्गी अङ्गिरा ने इस विद्या का भरद्वाज के पुत्र सत्यवह्म को उपदेश किया, और इस का सत्यवह्म ने अथर्वा अङ्गिरा को उपदेश किया । यह विद्या वह विद्या है जिसे ज्येष्ठों से कनिष्ठों ने प्राप्त किया है । [२]

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरस विधियदुपसन्न पप्रच्छ—  
 'कस्मिन् नु भगवो । विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?'  
 इति ॥३॥

अनु०—कहते हैं कि महाशालोऽङ्गिरस ने अङ्गिरा के पास विधिपूर्वक उपस्थित हो कर पूछा—भगवन् । किस के ज्ञान लिये जाने पर यह सब कुछ जाना हुआ हो जाता है ?' (३)

सि० अ०—शौनक नामक ऋषीश्वर ने जो धनवान् थे स्त्रियाँ और भोगों का त्याग कर शिष्यों की भाँति अथर्वा अङ्गिरा के पास जा कर उन से पूछा—ह भगवन् । वह कौन सी एक वस्तु है जिस का ज्ञान हो जाने पर सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं । [३]

तस्मै स होवाच—द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म, यद्  
ब्रह्मविदो वदन्ति—परा चैवापरा च ॥४॥<sup>१</sup>

अनु०—उस से उस ने कहा—ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है कि निश्चय ही  
दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—परा और अपरा । (४)

सि० अ०—अगरि माने—ब्रह्मज्ञानिया का कथन है कि दो विद्याएँ हैं जिह  
ज्ञान लेना चाहिए, एक परा और दूसरी अपरा । [४]

तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेद, सामवेदो, अथर्ववेद, शिक्षा,  
कल्पो, व्याकरण, निरुक्त, छन्दो, ज्योतिषमिति,<sup>२</sup> अथ परा यया  
तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

अनु०—उन में अपरा है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा,  
कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, तथा परा [यह] है जिस से  
उस अक्षर की उपलब्धि होती है । (५)

सि० अ०—[उन्हो न] अपरा विद्या नहीं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद,  
और छह अंग इत्यादि जो वेद के लिए आवश्यक हैं [(१) गिरा जो] वेदमन्त्रों के  
पाठ और उन के निष्कर्ष के ज्ञान से [सम्बद्ध है (२)] व्याकरण जो वाक्य और पद  
की विद्या है और शब्दार्थ की भी विद्या है [(३) छंद जो] वेद की मात्राभा, वर्णों,  
और पद्यों की विद्या है [(४) ज्योतिष जो] यज्ञ की विद्या है और जिस में नमों के  
अनुष्ठान के नाम का परिज्ञान होता है [(५) और (६) यह विद्या जिस का  
सम्बन्ध] उपासकान् एतिस्य पुराण ऋषिभ्यो के वचन तर्जाम्, धीमांता, और कल्प  
से है । यह सब अपरा विद्या है । परा विद्या यह विद्या है जिस विद्या से उन तत्व  
की प्राप्ति होती है जो अवर और अवर है ।<sup>३</sup> [५]

यत् तदद्रेष्यमग्राह्यमगोदमवर्णमचक्षु श्रोत्र तदपाणिपादम् ।  
नित्यं, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म, तदव्यय यद् भूतयोनि परिपश्यन्ति  
धीरा ॥६॥

<sup>१</sup> शिक्षायादयश्च विपनिषद् ६ २० में शुद्धब्रह्म और परब्रह्म प्रत्यक्षविपनिषद् ४ २ में अपरब्रह्म  
और परब्रह्म । <sup>२</sup> अर्थात् तदनुष्ठान और छंद वेदों में

<sup>३</sup> छह वेदाङ्गों की यह तात्पर्य लिखित अनुद है । वेदाङ्ग ये हैं—गिरा,  
कल्प, व्याकरण, निरुक्त, और नियच्छ ।

अनु०—वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोचर, अवर्ण, और चक्षु श्रोत्ररहित है, हस्तपादरहित है। वह नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म, और अव्यय है जिस भूतयोनि (भूता के मूल) को धीरे पुरुष सब प्रकार देखते हैं। (६)

सि० अ०—यह वह तत्त्व है जिन अन्तःकरणों से नहीं जाना जा सकता और बाह्य दृष्टि से नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह सत्ता किसी भी वस्तु में उत्पन्न नहीं है उस में कोई रूप नहीं है उस में कोई गुण नहीं है उस के अणुओं के समान कोई पक्ष नहीं थोड़ा के समान कोई थोड़ा नहीं, हाथों-पैरों के समान कोई हाथ पैर नहीं। वह सनातन है। वह स्वयं सब हुआ जाती है। वह यहाँ से स्वयं सर्वत्र सब में व्याप्त है और सब में व्याप्त होते हुए भी इतनी सूक्ष्म है कि उस प्राप्त नहीं किया जा सकता। उस से इतनी वस्तुएँ जन्म लेती हैं, परन्तु उस में कोई बन्नी नहीं जाती। यह सभी महाभूता का जन्म-स्थान है। जो लोग जानी और धीरे हैं वे उसे इसी प्रकार जानते हैं। [६]

यथोर्णमाभि सृजते गृह्णते च,

यथा पृथिव्यामोपधय सम्भवन्ति,

यथा सत पुरुषात् कैशलोमानि,

तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥७॥

अनु०—जैसे मकड़ी [जाने को] रचती और निगलती है, जैसे पृथिवी में ओषधिआ (वनस्पतिआ) उत्पन्न होती है, जैसे सभीष पुरुष से केश और लोम [उत्पन्न होते हैं] उसी प्रकार अक्षर से यह विश्व उत्पन्न होता है। (७)

सि० अ०—जैसे मकड़ी तारा को अपने से ही उत्पन्न करती है और फिर सब निगल जाती है जैसे पृथ्वी सभी ओषधियों को अपने में से ही निकालती है और जैसे जीवित मनुष्य से बच्चे और छोटे गाल उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार उस अक्षर सत्ता से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। [७]

तपसा चीयते ब्रह्म, ततोऽन्नमभिजायते,

अन्नात् प्राणो, मन, सत्य, लोका, कर्मसु चामृतम् ॥८॥

अनु०—तप के द्वारा ब्रह्म उपवय (वृद्धि) को प्राप्त होता है उस से मन उत्पन्न होता है अन्न से प्राण, मन, सत्य, और लोक लोकान्तर [उत्पन्न होते हैं] और वन में अमृत (फल) [उत्पन्न होता है]। (८)

सि० अ०—वह सत्ता अपने मन में सत्य करती है कि मैं बहुत हो जाऊँ । वह पहले अन्न होती है, फिर अन्न से प्राण होता है अर्थात् जीव उत्पन्न हो जाता है, प्राण के बाद मन होता है, मन के बाद सत्य होना है, सत्य के बाद मारे सोच फोते हैं, सोचो के बाद बर्ग होता है, और बर्ग के बाद पञ्च होता है । शबरचार्य अपने भाष्य में यह वाक्य लिखते हैं कि—[उक्त सत्ता] जब पहले बहुरूप होती है तो अपने ज्ञान में बहुरूप होती है, और जो अन्न कहा है उस का अभिप्राय है त्रिगुणों की साम्यावस्था जिस से ही सब कुछ होता है, प्राण से सारी जीवधारणें अभिप्रेत हैं, मन से वह कमल अभिप्रेत है जिस से इच्छा और उत्पत्ति होती है, और सत्य से स्थूल पञ्च-महाभूत अभिप्रेत हैं जिन्हें प्रप्रापति कहते हैं । यहाँ तब शबरचार्य का भाष्य था । [८]

य सर्वज्ञ. सर्वविद्, यस्य ज्ञानमय तप,  
तस्मादेतद् ब्रह्म, नाम, रूपमन्न च जायते ॥९॥

अनु०—जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिस का ज्ञानमय तप है, उस से यह ब्रह्म, नाम, रूप, और अन्न उत्पन्न होता है । (९)

सि० अ०—वह सत्ता समान रूप से और व्याप्त रूप से सब कुछ जानती है । उस ब्रह्म का ज्ञान अमरहित और तपोरहित होता है अर्थात् उस ने इस ज्ञान को तप द्वारा प्राप्त नहीं किया है । उस अक्षर पुरुष से हिरण्यवर्ग उत्पन्न होता है और उस से नाम रूप, और अन्न की उत्पत्ति होती है । [९]

॥ इति प्रथम खण्ड ॥

१ दशतिथी ने शाङ्करभाष्य का यहाँ प्रामाणिक परिचय नहीं दिया है । भाष्य पूरा है—

तपसा ज्ञानैरेव तत्तिविहिततया भूतयो यक्षर ब्रह्म भीयत उपवीकत उत्पत्तिवारमिपदिह जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छ्रित्तो बलवति पुत्रमिव पिता हर्म्ये ।

एव सर्वज्ञतया वृष्टिदिव्यतिसहारशक्तिविज्ञानवत्तबोपचित्तात् ततो ब्रह्मणोऽन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नमद्याहृत साधारण सत्तारिणी व्याविकीर्जितावस्थास्येन अभिजायत उत्पद्यते । ततश्च अग्न्यभूताय व्याविकीर्जितावस्थात अग्रात् प्राणो हिरण्यवर्गो ब्रह्मणो ज्ञानविकारावस्थापिच्छित्तजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबोजाङ्कुरो जगदात्माभिजायत इत्यनुषङ्गः ।

तस्माच्च च प्राणान् मनो मन आस्य सङ्कल्पविकल्पसत्तबनिर्भयाचारमकमभिजायते । ततोऽपि सकल्पाचारमकान् मनस सत्य सहाय्यमाकाशादि भूतपञ्चकम् अभिजायते । तस्मात् सहाय्ययाद् भूतपञ्चकाद् व्यङ्ग्यक्रमेण सप्तलोकान् भूरादयः । तेषु मनुष्यादिप्राणि-  
वर्गमिमक्रमेण कर्माणि । कमनु च निमित्तभूतेत्यभूत कर्मजं कर्मम् । यावत् कर्माणि कल्पकोटिस्तरेषु न विनश्यन्ति तावत् पस न विनश्यति इत्यभूतम् ॥८॥

द्वितीयः पण्ड

तदेतत् सत्य—

मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्सु

तानि त्रेताया बहुधा सन्ततानि ।

तान्माचरथ नियत सत्यकामा !

एष व. पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

अनु०—यह सत्य यह है—ऋषियों ने जिन कर्मों का मन्त्रों से दर्शन किया था उन वा त्रेतायुग में बहुत प्रकार प्रचार-प्रसार हुआ । सत्य की कामना करने वालों ! उन वा नियमित आचरण करो, लोक में यही तुम्हारे लिए सुकृत का मार्ग है । (१)

सि० व०—इस सत्य जानो और इन कर्मों को भी जिन्हें शानियों ने वेदमन्त्रों में देखा । तीनों वेदों में वे कर्म यही हैं । उन कर्मों को तुम सर्वदा किया करो, क्योंकि इन्हीं कर्मों से अपनी कामनाओं को प्राप्त कर सकोगे । इस लोक में तुम्हारे लिए सुकृत का मार्ग यही है । [१]

यदा लेलायते ह्यर्चि समिद्धे हव्यवाहने,

तदाऽऽज्यभागावन्तरेणाहुती. प्रतिपादयेत् ॥२॥

अनु०—जब अग्नि के प्रदीप्त होने पर अर्चि (अग्नि-शिखा) चञ्चल हो उठे, उस समय दोनों आज्यभागों के मध्य [प्रात और साय] आहुतिर्भा डाले । (२)

सि० व०—जब तुम अग्नि में हुवन करना चाहो, तो जिस समय अग्नि में बहुत सी शिखाएँ न हों और शिखाएँ छोटी छोटी हो चली हो उस समय जो आहुति दी जाय, वह, जैसा कि वेद में विधान किया गया है, अग्नि में प्रतिदिन दी जाय [२]

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास—

मचातुर्मास्यमनाश्रयणमतिथिर्वाजित च

अहुतमर्चन्वदेवमविधिना हुत-

मासप्तमासु तस्य लोकान् हिनस्ति ॥३॥

१ दर्श-पौर्णमास यज्ञ में आत्यन्तिय अग्नि के उत्तर और दक्षिण की ओर 'अग्नये स्वाहा' तथा 'सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रों से जो दो धूलाहुतियाँ दी जाती हैं उन्हें आज्य-भाग कहते हैं और इन के बीच के भाग को आवापस्थान ।

अनु०—जिस का अग्निहोत्र दर्श, गौर्णमास चातुर्मास्य, और आश्वयण [कर्मों] से रहित, अतिथि से रहित, अहुत (जिस में हवन न किया जाय), वैश्वदेव से रहित, अविधिपूर्वक कृत (जिस में विधि तोड़ कर हवन किया जाय) होता है [वह] उस के सात लोकों का नाश कर देता है । (३)

मि० अ०—जो कोई जैसा कि वेद में विधान किया गया है उस प्रकार कर्म का अनुष्ठान नहीं करता उस के लिए स्वर्ग के सातों लोकों में स्थान नहीं है । [३]

काली, कराली च, मनोजवा च,

सुलोहिता, या च सुधूम्रवर्णा,

स्फुलिङ्गिनी, विश्वरूची च देवी—

लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥४॥

अनु०—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, और विश्वरूची देवी—ये उस (अग्नि) की सपनपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं । (४)

मि० अ०—अग्नि की सात जिह्वाएँ हैं ।

एतेषु यश् चरते भ्राजमानेषु

यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्

त नयन्त्येता सूर्यस्य रश्मयो

यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवास ॥५॥

अनु०—जो पुरुष इन वेदीप्यमान [अग्निजिह्वाओं] में यथासमय आहुतिओं देता हुआ अनुष्ठान करता है उसे ये सूर्य रश्मियाँ वहाँ ले जाती हैं जहाँ देवताओं का एकमात्र अधिपति विराजमान है । (५)

मि० अ०—जो कोई वेद में प्रतिपादित समय पर उन जिह्वाओं में आहुति देता है वह आहुति उस शक्ति की रूप की रश्मि तक पहुँचा देती है और वहाँ में उसे देवराज इन्द्र के पास पहुँचा देती है जिन का स्वर्ग के उत्तम लोक में निवास है । [५]

एहोहीति तमाहुतय सुवचंस

सूर्यस्य रश्मिभिर् यजमान वहन्ति ।

प्रिया वाचमभिवदन्त्योऽजंयन्त्य—

‘एष व पुण्यं सुकृतो ब्रह्मलोक’ ॥६॥



अनु०—वे दीप्तिमती आहुतिज्वाँ यजमान को आओ, आओ यह तुम्हारे सुकृत से प्राप्त पवित्र ब्रह्मलोक है ऐसी प्रिय वाणी बोलकर अर्चना करती हुई, ले जाती हैं ॥६॥

सि० अ०—यह आहुति उस ध्यक्ति को स्वर्ग ले जाने समय उत्तम पण्य प्रदान कर और मधुर वाणी बोल कर वहाँ पहुँचाती है । [६]

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा

अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म

एतच्छ्रेयो यैऽभिनन्दन्ति मूढा

जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥

अनु०—ये यज्ञरूप नाशवान् और अस्थिर हैं जिन में अट्टारह<sup>१</sup> द्वारा प्रतिपादित जवर (हीन) कर्म [प्रतिष्ठित] हैं । जो मूढ इसी श्रम का अभिनन्दन करते हैं व पुन पुन जरा मरण को प्राप्त होत रहते हैं । (७)

सि० अ०—इन अपरा विद्या का सचय कममात्र वे हैं । यह जो पक्ष कर्म है वह एक हीन और दूट जाने वाली नीचा है । यह कर्म अट्टारह साधनों के समार से सम्पन्न होता है जो इस का मिष्ट भिषग है । यदि कोई इन कर्म को पक्ष की कामना से रहित होकर और ईश्वर के लिए करना है तो वह उत्तम है और जो कोई इस कर्म को ईश्वरार्थ नहीं करता और जानता है कि इस से हमारा लाभ है और [कि यह] हमारे लिए मुक्ति का साधन है वह और ऐसे सभी लोग अज्ञानों और मूख हैं । इन्हें सदा जरा और मृत्यु घेरती हैं । [७]

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना ,

स्वयं धीरा , पण्डितमन्यमाना ,

जह्नुन्ममाना परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥८॥

१ अठोपनिषद् २ / और मैत्रायण्युपनिषद् ७६ (किञ्चित् पाठभेद से)

१ इस अट्टारह का निष्पन्न बटिद है । शबर के अनुसार यही सोलह अतिवक्त यजमान, और यजमान-पत्नी (दूत अट्टारह) अभिन्न हैं । विश्वपुराणे (३६२८२९) के अनुसार विद्यार्थे अट्टारह हैं —

अद्भुति वेदता धर्तारो मोक्षता यापयिस्तर ,  
पुराण धर्मशास्त्र च—विद्या ह्यतास धनुर्वा ।  
आयुर्वेदो धनुर्वेदो नागधरा च च ते जय ,  
अथशास्त्रं धनुर्वं तु विद्या ह्यर्थादयस ता ।

अनु०—अविद्या के मध्य रहने वाले, अपने को बड़ा जानी और पण्डित मानने वाले मूढ़ अन्ध के नेतृत्व में चलने वाले अन्ध के समान अत्यधिक कष्ट पाते हुए भटकते रहते हैं । (८)

सि० अ०—जो लोग बि मोह और धोर अज्ञानस्वरूप अविद्या में पड़े हुए हैं और अपने को विद्वान् और बुद्धिमान समझते हैं उन्हें दुःख और रोष सर्वनाश और मृत्यु की ओर इस प्रकार ले जाते हैं मानो किसी अन्ध के हाथ दूसरा अन्ध पकड़कर रास्ते में ले चल रहा हो और दोनों बूढ़ में गिर पड़ते हो । [८]

अविद्याया बहुधा वर्तमाना

वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला ।

यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्

तेनातुरा क्षीणलोकाश् च्यवन्ते ॥९॥

अनु०—अविद्या में बहुधा रहने वाले मूर्ख 'हम कृतार्थ (सफल, सिद्ध) हैं' इस प्रकार अभिमान बिमा करते हैं । चूंकि कर्मकाण्डी आसक्ति के कारण ज्ञान लाभ नहीं कर पाते इसलिए वे दुःखार्त होकर लोक (कर्मफल) क्षीण होने पर [स्वर्ग से] च्युत हो जाते हैं । (९)

सि० अ०—ये लोग इस अज्ञान में साथ-साथ बालबुद्धि और मूर्ख हैं जो यह समझते हैं कि हमारे लिए जो कुछ करणीय था उसे हम ने कर लिया है । और जो कोई ईश्वर को न पहचान कर समझता है कि कर्मों के द्वारा हमें डेर सा पुण्य प्राप्त होगा ऐसे लोग इन कर्मों में फन को प्राप्त कर के पुण्य क्षीण होने पर शय, दुःख, और नरक में पड़ते हैं । [९]

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ

नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा ।

नाक्स्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-

म लोक हीनतर वा विशन्ति ॥१०॥

अनु०—इष्ट और पूर्ण [कर्मों] को ही सर्वोत्तम मानने वाले महामूढ़ कोई अन्य श्रेय नहीं जानते । वे सुकृत के फलस्वरूप स्वर्गलोक में उच्चतर प्रदेश का अनुभव कर इस [मनुष्य] लोक अथवा इस से भी हीन लोक में प्रवेश करते हैं । (१०)

मि० अ०—वे नगं जिन स अच्छा फल प्राप्त होता है दो प्रकार के होते हैं—  
 एक दृष्ट अर्थात् यात्रादि और दूसर पुस्त अर्थात् दाक आदि । जिस किसी ने इन दोनों  
 का अपने कल्याण की प्राप्ति हेतु खेप्ट मान रखा है और आत्मा और आत्मज्ञान को  
 मोक्ष का साधन नहीं मानता वह इस दृष्टि से महामूर्ख है । चूँकि उस का मन  
 सन्तान, स्त्री, सगार, और धन धान्य में अत्यधिक लीन है अतः वह जो भी कर्म करता  
 है इन्हीं पदार्थों की कामना से करता है और इन्हीं पदार्थों की प्राप्ति पर दृष्टि रखता  
 है । वह व्यक्ति चन्द्रचोक न जा कर शुभकर्मों के फल को प्राप्त कर के पुन नरक  
 में लौट आता है । [१०]

तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये  
 आन्ता विद्वांसो भिक्ष्यचर्या चरन्तः  
 सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति  
 यन्नामृतं स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

अनु०—जो आन्त विद्वांस भिक्षापूति का आचरण करते हुए वन में  
 तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे निष्पाप हो कर सूर्यद्वार (उत्तरायणमार्ग)  
 से वहाँ जाते हैं जहाँ वह अमृत, अव्ययस्वरूप पुरुष है । (११)

सि० अ०—जो लोग साधन और तपस्वा करते हैं, सच्ची श्रद्धा रखते हैं, वना में  
 समाधि लगाते हैं स्त्री और सतान नहीं रखते अथवा स्त्री और सतान रखते हैं और  
 ज्ञान के भूखे हैं, और सत्यास न ले लते हैं, वे करने के बाद सूर्य की रश्मियों के मार्ग से  
 गुजर हो कर सूर्य के बीच से हो कर उम स्थान को प्राप्त होते हैं जहाँ उस अमर,  
 अविनाशी, और नित्य पुण्य का निवास है । यहाँ इस पुरुष के हिरण्यगर्भ अभिप्रेत  
 है अर्थात् महाभूतों का अधिपति । [११]

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो  
 निवेदमायान्, नास्त्यकृतं कृतेन ।  
 तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्  
 समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

अनु०—ब्राह्मण कर्मदाग प्राप्त लोकों की परीक्षा कर निवेद को  
 प्राप्त हो जाय, [नयो वि] कृत (कर्म) से अकृत (नित्य) [को प्राप्ति

सम्भव] नहीं। उस [नित्य का] परम ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा ले कर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिए। (१२)

सि० अ०—जो कोई ब्रह्मवित्त वर्णात् ज्ञानी होना चाहता है उसे चाहिए कि जाने कि समस्त कर्मों का फल सतीत है। अतः उसे समस्त कर्मों का त्याग कर देना चाहिए उन की कामना हृदय से दूर कर देनी चाहिए और जानना चाहिए कि कम इस पुरुष में उत्पन्न हैं। वे इन्हीं कारण समाप्त हो जाते हैं और आत्मा सदा अपनी सत्ता से नित्य और भ्रुज है तथा अजन्मा। [उसे] प्राप्त करने और स्वयं वही हो जाने के लिए कम की अपेक्षा नहीं होती। उस की प्राप्ति का माग केवल ज्ञान है दूसरा माग नहीं। चाहिए कि नियत विधि से किसी गुरु के समक्ष उपस्थित होवे जो गुरु वैदिक और ब्रह्मज्ञानी हो अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय। [१२]

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय, सम्यक्

प्रश्नान्तर्चित्ताय ब्रह्मान्विताय

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच ता तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

अनु०—वह विद्वान् अपने समीप आये हुए उस पूज्यतया शान्तचित्त जितेन्द्रिय [शिष्य] को उस ब्रह्मविद्या का तत्त्वत उपदेश करे जिस से उस सत्य, अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है। (१३)

सि० अ०—उस गुरु को चाहिए कि वह जब शिष्य का सच्चा विज्ञान पाये और जाने कि उस की ब्रह्मियाँ उसके वश में हैं वह माध्या और तपस्या का अभिमान और अहंकार नहीं रखता और जैसे चाहिए उस प्रकार ब्रह्म की खोज में आया हुआ है उस समय ब्रह्म विद्या का उपदेश वेदमार्ग हो कर और ध्यान कर करे जिस से उस पारवत सत्ता की प्राप्ति होती है। यह है सच्चा माग। [१३]

## द्वितीयो मुण्डकः

प्रथम खण्ड

तदेतत् सत्य—

यथा मुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गा

॥१॥

सहस्रश प्रभवन्ते सरूपा ।

तथाक्षराद् विविधा सोम्य । भावा

प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥१॥

अनु०—यह यह सत्य है—जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के अनुरूप सहस्रो स्फुलिङ्ग (चिनकारियाँ) फूटते हैं, उसी प्रकार हे सोम्य ! अक्षर से विविध भाव (पदार्थ) जन्म लेते हैं और उसी में सीन भी हो जाते हैं । (१)

सि० अ०—जिस प्रकार जो अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित होती है उस अग्नि से सहस्र! चिनकारियाँ फूटती हैं और सभी प्रजाया और वस्तु में वही अग्नि झोपी है, उसी प्रकार हे सोम्य ! उस अक्षर अर्थात् वय्य पुष्प व सारे जीवात्मा अर्थात् जीव प्रकट होते हैं और उसी आत्मस्वरूप में सीन हो जाते हैं । [१]

दिव्यो, ह्यमूर्तं पुरुषं, सवाह्याभ्यन्तरो, ह्यज ,

अप्राणो, ह्यमना, धुध्रो, ह्यक्षरात् परत पर ॥२॥

अनु०—पुरुष निश्चय ही दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मन शून्य, विमुक्त, एवं परम अक्षर से भी परे है । (२)

सि० अ०—यह गता ज्योतिर्मय है, यह गता अक्षर है यह गता सब के भीतर पुरुष है, यह गता मनान्न है अनुत्पन्न है उस गता के बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियाँ नहीं हैं यह गता शुद्ध और शून्य है, यह गता हिरण्यगर्भ व भी धेष्टमर है त्रित नै सभी वस्तुभा का उत्पन्न बिम्ब है और वह सभी में वरिष्ठ है । [२]

एतस्माज् जायते प्राणो, मन , सर्वेन्द्रियाणि च,

ख, वायुर्, ज्योतिराप पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

अनु०—दस से प्राण उत्पन्न होता है, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, और सब को धारण करने वाली पृथ्वी । (३)

१ मय २ १ १० ८ 'पुरुष' तथा गीता ८ उक्तम् पुरुष (१५ १०) अक्षर 'पुरुषात्मानं' (१५ १८-१९) में तुलनीय ।

मि० अ०—वाह्य और आभ्यन्तर सभी इन्द्रियाँ जो प्राण और मन आदि हैं, भूताराश, वायु, अग्नि, जल, और लोका को धारण करने वाली पृथ्वी—सभी उसी सत्ता से उत्पन्न हुए हैं। [३]

अग्निर् मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्या,  
दिश श्रोत्रे, वाय् विवृताश् च वेदा,  
वायुः प्राणो, हृदय विश्वमस्य,  
पद्भ्या पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

अनु—अग्नि इस का मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र है, दिखाएँ कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद बाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, पृथिवी इस के चरणों से [प्रकट हुई] क्योंकि वह समस्त भूतों का अन्तरात्मा है। (४)

मि० अ०—सम्पूर्ण जगत् उन का रूप है। सातवाँ चाँक जो सब से ऊपर है उस का मस्तक है। सूर्य और चन्द्र उस की दोनों आँखें हैं। दिखाएँ उस के दोनों कर्ण हैं। वेद जिन से सभी वस्तुओं का ज्ञान होता है उस की बाणी हैं। वायु उस का प्राण है, अर्थात् उस का श्वासोच्छ्वास। सम्पूर्ण जगत् उस का हृदय है। उस की सुपुत्रावस्था में सम्पूर्ण जगत् नष्ट हो जाता है क्योंकि सुपुत्रि सप्तक निद्रा के समय मनुष्य का हृदय जो जगत् के समान है जीवात्मा में लीन हो जाता है। पृथ्वी के सात तल उस के चरण हैं। वह सत्ता सब का प्राण है और प्राणा का प्राण है। उस सत्ता में ब्रह्माण्ड जो पूर्ण पुरुष है और जिसे विराट् पुरुष कहते हैं प्रकट हुआ। [४]

तस्मादग्नि समिधो यस्य सूर्य,  
सोमात् पर्जन्य, ओषधय पृथिव्याम् ।  
पुमान् रेत मिञ्चति योपिताया,  
वह्नी प्रजा पुर्यात् सम्प्रसूता ॥५॥

अनु०—उस में अग्नि [हुआ] जिस रा समिधा सूर्य है, सोम से मेघ, और पृथिवी पर वनस्पतियाँ। पुरुष स्त्री में वीर्य सींचता है, [यह] बहुत-सी प्रजा पुरुष में उत्पन्न हुई है। (५)

मि० अ०—चीन विजिष् अग्नि रा जो स्वयं चन्द्र पर्जन्य, पृथ्वी, और स्त्री-पुरुष है उस में उत्पन्न हुई हैं। सूर्य प्रथम अग्नि है जो स्वर्ण रूप है और जिस से सारी वनस्पतियाँ उदभूत हो कर धरती पर उगनी हैं। पुरुष चाँकि वीर्य सींचता है उसी में उत्पन्न हुआ है। सारी प्रजाएँ उसी में उत्पन्न हुई हैं। [५]

तस्माद् ऋचः; साम; यजूंषि; दीक्षा;

यज्ञाश् च सर्वे; क्रतवो; दक्षिणाश् च;

सवत्सरश् च; यजमानश् च; लोकाः,

सोमो यन्न पवते, यन्न सूर्यः<sup>१</sup> ॥६॥

अनु०—उस [पुरुष] से ऋचाएँ; साम; यजुः; दीक्षा; समस्त यज्ञ; क्रतु; दक्षिणा; सवत्सर; यजमान; और लोक, जहाँ चन्द्रमा तपता है, जहाँ सूर्य [तपता है—हुए] । (६)

सि० अ०—चारों वेद उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं। दीक्षा उसी में उत्पन्न हुई है। छोटे और बड़े यज्ञ उसी में उत्पन्न हुए हैं। दक्षिणाएँ और इन अनुष्ठानों के प्रयोजनों का काल-निर्धारण [अर्थात् कर्मोक्त-काल] उसी से उत्पन्न हुआ है। जिन (कर्म-फल) के कारण स्वर्ग प्राप्त होता है वे उसी से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य और चन्द्र उसी के आदेश में चलते हैं । [६]

तस्माच् च देवा बहुधा सम्प्रसूताः,

साध्या, मनुष्याः, पशवो, वयासि,

प्राणायानौ, ग्रीहियवौ, तपश् च,

श्रद्धा, सत्यं, ब्रह्मचर्यं, विधिश् च ॥७॥

अनु०—उस से बहुत-से देवता उत्पन्न हुए, [तथा] साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, ग्रीहि-यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, और विधि । (७)

सि० अ०—भक्ति-भक्ति के देवता, भक्ति-भक्ति के मनुष्य, भक्ति-भक्ति के पशु, भक्ति-भक्ति के पक्षी, और भक्ति-भक्ति के वायु—प्राण, अपान, स्यान, म्यान, और उदान—उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं। भक्ति-भक्ति के जन्म और तप, भक्ति-भक्ति की श्रद्धाएँ, धर्म, सत्य, ब्रह्मचर्य, और विधि-निषेध [उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं] । [७]

सप्त प्राणाः<sup>२</sup> प्रभवन्ति तस्मात्,

सप्ताचिप, समिधः, सप्त होमाः,

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा

गुहाण्या निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

<sup>१</sup> 'विजृक्ष' और 'दिक्लक्ष' छान्दोग्योपनिषद् ४.१० के भी द्रष्टव्य

<sup>२</sup> तुलनाय १०८, श्रुतौपनिषद् ३.१

अनु०—उस से सात प्राण उत्पन्न होते हैं, सात अग्निजाँ (अग्निशिखाएँ) और समिधाएँ, सात होम, [और] ये सात लोक जिन में गुहा में सात सात कर के स्थापित प्राण विचरण करते हैं । (८)

सि० अ०—सप्तप्राण—दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो घ्राण, और एक मुखरन्ध्र—उसी से उत्पन्न हुए हैं और इन सातों की सात शक्तियाँ उसी से उत्पन्न हुई हैं । सात वस्तुएँ जो इन सात शक्तियों से जानी जाती हैं और सात वस्तुएँ जिन का इन सात शक्तियों से ग्रहण होता है उन सातों का अधिष्ठान जो सभी प्राणियाँ न [प्राप्त होता है] उसी से उत्पन्न हुआ है । इन्द्रियों से अपने-अपने विषय का ज्ञान होता है, किन्तु उन इन्द्रियों की शक्तियों का अनुभव नहीं होता । स्वर्गलोक जिस में काम-जल की प्राप्ति होती है उसी से उत्पन्न हुआ है । [८]

अतः समुद्रा गिरयश् च सर्वे,  
ज्मात् स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा,  
अतश् च सर्वा ओषधयो रसश् च,  
येनैष भूतैस् तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

अनु०—इस से समस्त समुद्र और पर्वत [प्रकट हुए] हैं, इस से सभी प्रकार की नदियाँ बहती हैं, इस से समस्त ओषधियाँ और रस [प्रकट हुए] हैं, जिस [रस] से यह अन्तरात्मा भूतो सहित स्थित है । (९)

सि० अ०—सातों महासमुद्र उसी न उत्पन्न हुए हैं छोटी और बड़ी सभी नदियाँ उसी से उत्पन्न हुई हैं पर्वत उसी से उत्पन्न हुए हैं सभी वनस्पतियाँ उसी से उत्पन्न हुई हैं । इसी से जाना जाता है कि यद्यपि ये सभी वस्तुएँ उस से उत्पन्न हुई हैं, वह सर्वरूप है । [९]

पुरुष एवेद विश्व, कर्म, तपो, ब्रह्मपराभृतम् । एतद् यो वेद  
निहित गुहाया सोऽविद्याभ्रान्ध्रविकिरतीह सोम्य । ॥१०॥

अनु०—यह सब कर्म, तप, पर और अमृतस्व ब्रह्म पुरुष ही है । उसे जो गुहा में निहित जानता है, हे सोम्य । वह इस लोक में अविद्या की ग्रन्थि को भङ्ग कर देता है । (१०)

सि० अ०—यह सम्पूर्ण अस्त पुरुष ही है अर्थात् वह पुरुष सब में पूरा है । सभी कर्म और समस्त तप यही है । वह सत्त्वान् ब्रह्म है । वह ब्रह्म सब से ज्येष्ठ और



श्रेष्ठ है, और है मृत्यु रहित । इस ब्रह्म का जो कोई इस प्रकार ज्ञान लेता है कि वह मेरे हृदय में वर्तमान है, वह अपने अज्ञान और अविद्या की सभी शक्तियों को खोत देता है । [१०]

॥ इति प्रथम खण्ड ॥

### द्वितीय खण्ड

आवि, सनिहित, गुहाचर नाम महत्पदगतैतत् समर्पितम्, एजत्, प्राणन्, निमिषच् च यत् । एतज् जानय सदसद्वरेण्य, पर विज्ञानाद्, यद् वरिष्ठ प्रजानाम् ॥१॥<sup>१</sup>

अनु०—यह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप, समीपस्थ, गुहाचर नाम वाला, और महत्पद है । यह जो चसता है, प्राणन करता है, और निमेषोन्मेष करता है इसी में समर्पित है । तुम इसे जानो, जो सत् और असत् द्वारा वरण करने योग्य, प्रार्थनीय, विज्ञान से परे, और प्रजाओं में सर्वोत्कृष्ट है । (१)

नि० अ०—ह सोम्य! यह प्रवृत्त है, यह समीपवर्त है यह हृदय की गुहा में संचार करता है । ब्रह्म में महान् कोई पद नहीं है । स्रष्टा स्रष्टार में जो कुछ जगत्, प्राणवान् और सजीव है वह उसी में भीतर है । उस सब में श्रेष्ठ स्रष्टृत्व चाहिए । वह बुद्धि में भी वरिष्ठ है जिस में वस्तुभा का ज्ञान होता है । वही सब का प्रभु है । [१]

यदचिमद्, यदणुभ्योऽणु च, यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च,  
तदेतदक्षर ब्रह्म स प्राणस् तदु वाङ्, मन ।

तदेतत् सत्य, तदमृत, तद् वेदव्य सोम्य । विद्धि ॥२॥

अनु०—जो दीप्तिमान् है अणु से भी अणु है, जिस में लोक और उन के निवासी स्थित है, वह यह अक्षर ब्रह्म है । वही प्राण है, वही वाक् और मन है । वही यह सत्य है, वह अमृत है । हे सोम्य ! उस पर [ध्यान द्वारा] वेधन होना चाहिए, तू वेधन कर । (२)

नि० अ०—यह ब्रह्मसत्य है । यह मूर्तियों में मूर्तमान है । सम्पूर्ण जगत् और जगत् में जो कुछ है वह सब उस में भीतर है । वह अक्षर सना है ब्रह्म है, प्राण है, वाणी है, मन है, अक्षर और गत्य है अक्षर है । हे सोम्य ! वही मनोभाव का सत्य है । तू उसी को आत्मा मन का अध्ययन कर । [२]

धनुः गृहीत्वोपनिषदं महास्व  
 शरं ह्युपासान्निशितं सन्धयीत ।  
 आयम्य तद्भ्रातृवर्गतेन चेतसा  
 लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य ! विद्धि ॥३॥

अनु०—हे सोम्य ! महान् अस्ति उपनिषद् रूपी धनुः नै कर  
 [उस पर] उपासना द्वारा सीधण किया हुआ बाण चढा । उसे धाचकर  
 ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसी अक्षररूप लक्ष्य का वेधन कर । (३)

वि० अ०—उपनिषद् का जो कि बहुत वाक्प है धनुष बना कर उपासना का  
 बाण उस पर मध्याह्न वर के समे मन की शक्ति ने धीच कर जो उस का अभिलाषी  
 है धीर निमी अय की ओर चलायमान नहीं है उस अक्षर सत्ता की ओर ल जा जो  
 तेरी माधना का लक्ष्य है । [३]

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तत् लक्ष्यमुच्यते ।  
 अभ्रमत्तनं वेद्धव्यं शरवत् तमयो भवेत् ॥४॥

अनु०—प्रणव धनुष आत्मा बाण और ब्रह्म उस का लक्ष्य कहा जाता  
 है । उस का सावधान हो कर वधन करना चाहिए [और] बाण के  
 समान तमय हो जाना चाहिए । (४)

वि० अ०—हे सोम्य भोग को धनुष बना कर जीवात्मा को नीर बना कर  
 और ब्रह्म को लक्ष्य बना कर समाहित और सावधान हो कर उग बाण के समान जो  
 लक्ष्य को वेध देता है जीवात्मा को ब्रह्म में प्रविष्ट करा ताकि तू स्वयं लक्ष्य बन जाय ।  
 यह बुद्धि का तन्म नहीं है कि धूँ की आसका हो । यह वह लक्ष्य है जो सत्त्व पूण  
 है और जिस में चण की आसका नहीं जीवात्मा ऐसा बाण है जिस में प्रत्येक दिशा  
 में लक्ष्य छाया जा सकता है और वह निश्चय भी गडता है उसी तरह चटुचता है । बाण  
 का मध्याह्न करने वाला भी स्वयं सत्त्व विद्यमान है । अब यह शक्य न कर ।  
 जहाँ इस प्रकार न धनुष इस प्रकार का बाण इस प्रकार का लक्ष्य और इस प्रकार  
 का बाण करने वाला होता है वहाँ तक जाना सम्भव नहीं । ब्रह्मवेद को धनुष कर ने  
 अनुवेद को बाण कर के और सामवेद को प्रत्येक कर के सामवेद का गायन करते हुए  
 ब्रह्म को लक्ष्य बनाये जो ब्रह्म वेन्द्वरूप प्रकाशमान और शुद्ध है । [४]

यस्मिन् द्यौः, पृथिवी, चान्तरिक्ष-

मोत मनः सह प्राणैश् च सर्वैः

तमेवैक जानय आत्मानमन्या

वाचो विमुञ्चथामृतस्यैव सेतुः ॥५॥

अनु०—जिस में चुसोरु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, और समस्त प्राणों सहित, मन ओतप्रोत है उसी एक आत्मा को जानो, अन्य बातों को छोड़ दो; यह अमृत (मोक्ष) का ही सेतु है। (५)

मि० अ०—स्वर्ग, भूमि, अन्तरिक्ष, और मन समस्त इन्द्रियों के साथ उस की मर्मा की ओर से खिंचे हुए हैं, जिन प्रकार मोती के शाने एक ही धागे में ओतप्रोत होते हैं। उस एक धागे को आत्मा जानो और जेप सभी बातें त्याग दो। वह आत्मा मुक्ति का सेतु है। [५]

अरा इय रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः,

स एपोऽन्तश् चरते बहुधा जायमानः ।

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं,

स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥

अनु०—रथचक्र की नाभि में अरों के समान जहाँ नाडियाँ जुड़ती हैं उस में भीतर यह विविध रूपों में उत्पन्न होने वाला [आत्मा] संचार करता है। आत्मा का 'रथ' इस प्रकार ध्यान करो। अन्धकार (अज्ञान) पार करने में तुम्हारा यत्नापन हो। (६)

मि० अ०—जिस प्रकार रथ की नाभि में सभी अरें जुड़ते हैं उसी प्रकार जो नाडी हृदय-जगत् में प्रविष्ट होती है और जिस में नाडियाँ जुड़ी होती हैं उस हृदय के बीच जिस रूप में चाह वह आत्मा विचरता करता है। सभी आत्मा की ओर ध्यान कर उपासना करो, क्योंकि वह तुम्हारे लिए अज्ञान के सागर में पार करने में सहायक है। [६]

य. सर्वज्ञ. सर्वविद्, यस्यैष महिमा भुवि,  
दिव्ये ब्रह्मपुरे' ह्येष व्योम्यात्मा प्रतिष्ठित ।

मनोमयः प्राणशरीरनेता

प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।

तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः

आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥७॥

अनु०—जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिस की यह महिमा पृथ्वी पर [स्थित] है, वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर आकाश में प्रतिष्ठित है। वह मनोमय, प्राण और शरीर को ले जाने वाला पुरुष हृदय का आश्रय कर अन्न (अन्नमय देह) में स्थित है। धीरजन विज्ञान द्वारा उस का सम्पूर्ण साक्षात्कार करते हैं जो आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है। (७)

ति० ख०—वह सर्वज्ञ है और वह सब का प्राणर है। 'उग' की महिमा पृथ्वी पर है, आकाश में है, और ब्रह्मपुर में है—ब्रह्मपुर अन्नमय आश्रय शरीर जो ब्रह्मनगर है और परम ज्ञान से उद्भासित है। उस रज्ज में जो हृदय के भीतर है आत्मा का निवास है।<sup>१</sup> उसी की उपासना करो। वह आत्मा मन के साथ मन बना हुआ है। वही शरीर और उग की इन्द्रियों का गतिमान करता है। इस शरीर में जो अन्न स्वरूप है वह ममीपत्य हो कर वर्तमान है। जो ज्ञानी इन्द्रियों पर वश प्राण कर सके हैं वे उगे बुद्धि के प्रकाश से देखने हैं। वह आत्मा आनन्द स्वरूप है, अपर है, प्रगट है। (७)

भिद्यते हृदयमग्निषू, छिद्यन्ते सर्वसंशया,

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पगवरे ॥८॥

अनु०—उस पर और अवर (पारणार्थ्यरूप ब्रह्म) का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय-अग्नि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, और इन [बीज] के कर्म क्षीण हो जाते हैं। (८)

१ आनन्दमयीपत्रि० ८ ११

२ आराधितोहू से यहाँ इस मन्त्र की तोड़कर एक नए मन्त्र की प्रतिपादना की है। सन्तुष्टार आगे अन्ते का सत्य से एक मन्त्र की बुद्धि हो रही थी, किन्तु त्रिभो भगुवारक से उगे ओह कर तिया है।

मि० अ०—जम के दर्शन में हृदय की शक्तिजों धुन जाती है, सारे सशय दूर हो जाते हैं, और पुण्य-कर्म और पाप-कर्म उस में दूर हो जाते हैं । [८]

हिरण्यमे परे कोशे विरज ब्रह्म निष्कलम् ।

तच्छुभ्र ज्योतिषा ज्योतिस्, तद् यदात्मविदो विदुः ॥९॥

अनु०—निर्मल और निरज ब्रह्म हिरण्यमय (ज्योतिर्मय) परम कोश में [विद्यमान] है । वह शुद्ध, ज्योतिषों की ज्योति है । वह है जिसे आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं । (९)

मि० अ०—निर्विशेषता में, वह निर्विशेषों में निर्विशेषतम है और, निर्विशेषता में, वह सर्वविशेषों में सर्वविशेषतम है । ब्रह्म शुद्ध और पवित्र है, कलायुक्त नहीं है, और इतना ज्योतिर्मय है कि यह ज्योतिषों की ज्योति है और इतना प्रकाशमान है कि यह प्रकाशों का प्रकाश है । जो लोग विज्ञानमय बोध में जो कि ज्योतिष्मान है उस ब्रह्म को आत्मा जानते हैं अर्थात् जीवात्मा और आत्मा को एक जानते हैं वे ही उसे जानते हैं । [९]

न तत् सूर्यो भाति, न चन्द्रतारक,

नेमा विद्युतो भान्ति; कुतोऽयमग्निः ?

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,

तस्या भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

अनु०—वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे । [यहाँ] ये विजलियाँ भी नहीं चमकती, फिर यह अग्नि किस गिनती में है ? उस के प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी के प्रकाश से प्रकाशमान है । (१०)

मि० अ०—सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत, और अग्नि के प्रकाश उस के प्रकाश को नहीं या करने । उन्हीं के प्रकाश में वे सब प्रकाशित हैं । सारे प्रकाश उन्हीं के है, सूर्य और चन्द्र उस का नहीं पट्टेच सफे, वायु उस तर नहीं पट्टेच मरनी, देवता उस सब नहीं पट्टेच सब । उस सब नेत्र उपागना द्वारा पट्टेच जा मरता है । अग्न किन्हीं भी मार्ग में उसे नहीं पाया जा सकता । वह सबों महाभूतों का उत्पादक है, वह सबों ही प्रकाश में प्रकाशित है, वह शुद्ध और मुक्त है । [१०]

ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद्, ब्रह्म  
पश्चाद्, ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण,  
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवेद  
विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

अनु०—यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है ब्रह्म ही दायाँ  
बायाँ ओर है नीचे-ऊपर फैला हुआ यह विश्व सर्वगुण ब्रह्म ही है । (११)  
मि० अ० जो कुछ शिवायी देता है वह ब्रह्म ही है । वह ब्रह्म अमर है वह आगे  
है वह पीछे है वह बाएँ है वह दाएँ है वह ऊपर है वह नीचे है वह सबत पूरा है ।  
जो कुछ दिखायी देता है यही परब्रह्म है । [११]

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

### तृतीयो मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

ब्राह्मणं सुपर्णं सयुजां सखाया  
समानं वृक्षं परिपश्यताः  
तयोर्न्यपिप्ल स्वाद्वत्स-  
नं नृपतयो अभिचारकयोति ॥१॥

अनु०—साय-साय रहते बाल दा पक्षी सखा एवं ही वृक्ष का आश्रय  
कर के रहते हैं । उन में एक तो स्वादिष्ट पिप्ल (वमकल) का भोग  
करता है और दूसरा भोग न कर के केवल देखता रहता है । (१)

मि० अ०—दो मुन्दर पक्षी है । वे दोनों सग मांस रहते हैं और एक दूसरे  
के सखा हैं । वे एक वृक्ष पर निवास करते हैं । उन में से एक उन वृक्ष के फल को  
स्वादिल समझ कर खाता है और दूसरा कुछ नहीं खाता और इच्छा मात्र है । इन  
दो पक्षियों में जिन में से एक खाता है और दूसरा नहीं खाता और इच्छा मात्र है  
तालाय यह है कि जो खाता है वह जीवन्मुक्त है और जो नहीं खाता और इच्छा मात्र  
है वह परमात्मा है । वृक्ष में जमीन जल आदि और फल में जिन स्वादिष्ट समझ कर  
खाता है वमकल । [१]

१ गान्धर्व १ १६४ २० सर्ववद ६ २ ० उवाचनरापनिषद् ४६, कठ १ निरु  
१ २ १ और उवाच नी दिवायी भी इच्छा ॥

समाने वृक्षे <sup>१</sup> पुरुषो निमग्नो  
 अनीशया शोचति मुह्यमानः ।  
 जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीश-  
 मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥<sup>२</sup>

अनु०—[ईश्वर के साथ] एक ही वृक्ष से सलग्न जीव दीनता के कारण मोहित हो कर शोक करता है । वह जिस समय अपने से भिन्न आनन्दस्वरूप ईश्वर और उस की महिमा को देखता है उस समय शोक-रहित हो जाता है । (२)

ति० अ०—यह पक्षी जो उस वृक्ष का पत्त खाता है अज्ञान के कारण अपने ही स्वभाव से अवगत नहीं है । वह इसी कारण शोक और दुःख म है । जब वह उस पक्षी के रूप को समझ लेता है जो कुछ नहीं खाता और कौतुक देखता है तो वह भी भोग से विरक्त हो जाता है और उसी के समान हो जाता है । अर्थात् यह पक्षी के वधन से मुक्त, शोक-रहित, और दुःख रहित हो जाता है । [२]

यदा पश्य. पश्यते रुमवर्णं,  
 कर्तारमीश, पुरुष, ब्रह्मयोनिम्,  
 तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय<sup>१</sup>  
 निरञ्जन परम साम्यमुपैति ॥३॥

अनु०—जिस समय द्रष्टा स्वर्णाभि जगत्कर्ता, ईश्वर, पुरुष, सर्वयोनि-स्वरूप को देखता है उस समय वह विद्वान् पाप पुण्य दोनों को त्याग कर निर्मल हो अत्यन्त राम भाव को प्राप्त हो जाता है । (३)

ति० अ० — जिस समय बीजाया जानी हा जाता है उस समय आत्मा को ऐसा दृष्टता है कि वह आत्मा स्वयंप्रकाश है मय वा उत्पादन है, मय वा स्वाधी है, सर्वत्र पूर्ण है, और हिरण्यगर्भ उसी से उत्पन्न हुआ है । जिस समय वह उगे हुए प्रकाश जान लेता है वह जानी शुभ और अशुभ कर्मों के फल का त्याग कर उम गदिय आत्मा हो जाती है । [३]

<sup>१</sup> ईश्वरपरीक्षा ६७

<sup>२</sup> ईश्वरपरीक्षा ६७ ई. अ. अदि से बदो रूप बताया जाता है ।

प्राणो ह्येव यः सर्वभूतैर् विभाति, 52796,

विज्ञानं विद्वान् भवते नातिवादी ।

आत्मक्रीड', आत्मरति, क्रियावा-

नेय ब्रह्मविदा वरिष्ठ ॥४॥

अनु०—यह प्राण है जो सम्पूर्ण भूतों के रूप में भासमान हो रहा है । [इसे] जान कर विद्वान् अतिवादी (बकवास करने वाला) नहीं होता । यह आत्मा में क्रीडा करने वाला, आत्मा में रमण करने वाला, क्रियावान् पुरुष ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठतम है । (४)

मि० अ०—वह प्राणो वा प्राण है, वह सभी भूतों में भासमान है । जो कोई उसे जान लेता है वह ज्ञानी और ब्रह्मज्ञ हो जाता है । वह ब्रह्मज्ञ जो कुछ बोलता है उस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अधिक नहीं बोलता । क्यों कि वह ब्रह्म की बात बोलता है । सब कुछ ब्रह्म में है और ब्रह्म सब में महान् है । वह ब्रह्मविद् और ज्ञानी कैसा है ? वह सदा आत्मा में रमण करने वाला है, वह अपने आप से प्रीति करने वाला और आनन्दित होने वाला है । वह अपना मित्र आप है । यदि वह बर्मे और उपानना भी यदृच्छापूर्वक करता है तो वह ज्ञानियों और महान् ब्रह्म-वादिनों के बीच महान् होना है । [४]

सत्येन लभ्यस् तपसा ह्येव आत्मा,

सम्यग्ज्ञानेन, ब्रह्मचर्येण नित्यम्,

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो

य पश्यन्ति यतः क्षीणदोषा ॥५॥

अनु०—यह आत्मा सर्वदा सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान, और ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त निष्ठा वा सन्नता है । जिसे दोषहीन योगिजन देखते हैं वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है । (५)

मि० अ०—उस आत्मा की प्राप्ति वा मार्ग यही तप, तप, और उस वा सम्यक् ज्ञान है, तथा बाह्य भाँगों से विरक्ति भी । [ज्ञानी] अपने इसी शरीर में सदा उस आत्मा को देखता है जो ज्योतिर्मय है । जो लोग सभी दोषों और त्रुटियों से मुक्त हो गये हैं वे ज्ञानी ही देखते हैं । [५]



सत्यमेव जयति, नानृत,  
सत्येन पन्था विततो देवयान,  
येनाक्रमन्त्ययथो ह्याप्तकामा

यत्न तत् सत्यस्य परम निधानम् ॥६॥

अनु०—सत्य ही विजयी होता है, मिथ्या नहीं, सत्य से देवयान<sup>१</sup> मार्ग का विस्तार हुआ है, जिस के द्वारा आप्तकाम ऋषिगण उस पद को प्राप्त करते हैं जहाँ वह सत्य का परम निधान [वर्तमान] है। (६)

मि० अ०—जा सत्यनिष्ठ है वही विजय प्राप्त करना है जो सत्यनिष्ठ नहीं है वह विजय नहीं प्राप्त करता। जिन मार्ग में उस तक पहुँचने हैं वह मार्ग भी सत्य है। जिन नाशियों की बाइ नामना शेष नहीं रह गयी है वे इसी समाग से उन तक पहुँचने हैं। वहाँ सत्य का भाण्डार है और वहाँ सत्य भरा हुआ है। [६]

बृहच् च तद्, दिव्यमचिन्त्यरूप,  
सूक्ष्माच् च तत् सूक्ष्मतर विभाति ।  
दूरात् सुदूरे, तदिहान्तिने च,  
पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम् ॥७॥

अनु०—वह महान, दिव्य, अचिन्त्यरूप, और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है। [वह] दूर से भी दूर और दूर शरीर में अत्यन्त समीप भी है। [वह] चेतन प्राणियों में इस शरीर के भीतर उन की बुद्धिरूप गुहा में निहित है। (७)

मि० अ०—वह महान है और अपने ही अन्तर में शराणि। उस का स्वल्प विचार में नहीं आता। जो वह सूक्ष्म में भी सूक्ष्मतर है अतः वह दृष्टि में नहीं आता। वह दूर से भी दूर है और समीप से समीप में भी समीपतर। अचिन्त्या के लिए वह दूर में भी दूर है और प्राणियों के लिए वह समीप से भी समीपतर। वह अपनी हृदयगुहा में प्राणियों देता है। [७]

न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा,  
नान्यैर् द्रवैम्, तपसा, बर्मणा वा ।  
ज्ञानप्रभादेन विमुद्धमत्स्वम,  
ततम्, तु त पश्यते निगूढं ध्यायमान ॥८॥

१ 'देवयान' और 'विमुक्त' के सम्बन्ध में प्रतिलोचनिक १ १० की टिप्पणी देखिए।

१ अनु०—[यह आत्मा] न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न बन्ध इन्द्रियो से, और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद से [पुरुष] विशुद्धनित्त हो जाता है, और तभी वह ध्यानावस्थित होकर उस निष्कल [आत्मतत्त्व] का साक्षात्कार करता है। (८)

सि० अ०—उसे चट्टा व नहीं देगा जा सकता, उस का मुषगान वाणी से नहीं किया जा सकता, उस जिमी भी इन्द्रिय से नहीं प्राप्त किया जा सकता उसे तप और कर्म से नहीं प्राप्त किया जा सकता उसे विशुद्ध ज्ञान और कैवल्य से प्राप्त किया जा सकता है। जिन ने गन ज्ञान और ब्रह्मनिष्ठा में शुद्ध और प्रकाशयुक्त हो गये हैं, ऐसे ही मन से जय ने उस सत्ता का ध्यान करते हैं जो बलाओ से रहित है और ईतभाव से मुक्त, सभी ने उसे देखते हैं। [८]

एपोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो,  
यस्मिन् प्राण पञ्चधा सविवेश।  
प्राणश्चित्त सर्वमोत प्रजाना  
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येव आत्मा ॥९॥

अनु०—यह सूक्ष्म आत्मा, जिस [शरीर] में प्राण पाँच प्रकार से प्रविष्ट है [उस शरीर के भीतर] विज्ञान द्वारा जानने योग्य है। प्राण द्वारा प्रजाओ का समस्त चित्त व्याप्त है जिस के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा प्रकाशित हो जाता है। (९)

सि० अ०—उस सूक्ष्म आत्मा को शुद्ध मन के अनिरिकत अय जिमी साधन ने जाना नहीं जा सकता। उस शुद्ध मन में जा कि सूक्ष्म शरीर रहता है पाँच प्राण—प्राण, अपान, श्वान, उदान और गगान—होते हैं और सभी इन्द्रियो होती हैं। ये सब उस मन के प्राणे में भुये हुए हैं। जब वह मन शुद्ध हो जाता है तो आत्मा हो पाना है और अपने स्वामी को प्रकट कर देता है। [९]

य य लोव मनसा सविभाति  
विशुद्धसत्त्व कामयते याञ् च कामान्  
त त लो जयते ताञ् च कामास्,  
तस्मादात्मज हर्षयेद् भूतिवाम ॥१०॥

अनु०—विशुद्धचित्त [आत्मवेत्ता] मन से जिस-जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों की कामना करता है वह उसी-उसी लोक और उन्ही-उन्ही भोगों को जीतता है। इसलिए ऐश्वर्य की कामना रखने वाला [पुरुष] आत्मज्ञानी की पूजा करे। (१०)

गि० अ०—इस शुद्ध मन की चिन्तेपता है कि वह जिस लोक की इच्छा करता है और जिन वस्तु की कामना करता है उसे प्राप्त कर लेता है। अतः यदि वह आत्मा की इच्छा करे तो आत्मा को क्यों न प्राप्त करे, जब कि सभी इच्छार्थ आत्मा में निहित हैं? जो कोई सात्त्विक ऐश्वर्य और पारलौकिक कल्याण चाहे वह ज्ञानी और यती की इसी प्रकार उपासना करे। [१०]

॥ इति प्रथम खण्ड ॥

द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत् परम ब्रह्म धाम  
यत्र विश्व निहित भाति शुभ्रम् ।  
उपासते पुरुष ये ह्यकामास्  
ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

अनु०—वह (आत्मवेत्ता) इस परम ब्रह्मधाम को जानता है जिस में यह समस्त जगत् निहित हो कर सज्ज्वल रूप से भासमान हो रहा है। जो निष्कामभाव से उस पुरुष की उपासना करते हैं, वे [शरीर के बीजभूत] इस बीर्य का अतिप्रमण कर जाते हैं। (१)

गि० अ०—जो कोई इस मन को ब्रह्म का धाम और इस धाम को सात्त्विक ब्रह्म जानता है वह अन्त भी जानता है कि सारी इच्छाएँ, कामनाएँ, और अभिलाषाएँ इसी धाम में हैं, समस्त लोक इसी धाम में हैं, उन्हीं के प्रकाश में समस्त लोक दृश्यमान हैं, और उन्हीं के प्रकाश में समस्त लोक पवित्र दिखायी देते हैं। जो कोई इस प्रकार उस इच्छा-रहित और कामना रहित आत्मा की उपासना करता है वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है। [१]

कामान् यः कामयते मन्यमानः

स कामभिर् जायते तत्र तत्र ।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस् त्वि-

हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

अनु०—जो [भोगो वा] चिन्तन करने वाला पुरुष भोगो की कामना करता है वह उन कामनाओं द्वारा वहाँ-वहाँ (उन की प्राप्ति के स्थानों में) उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जिस की कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं उस कृतकृत्य पुरुष की तो सभी कामनाएँ यही विलीन हो जाती हैं। (२)

सि० अ०—जो कोई इच्छा और कामना के लिए उपासना करता है वह इच्छा और कामना प्राप्त करता है और जिस में भी इच्छा रहित हो कर और निष्काम भाव से उपासना की है उस में सभी इच्छाएँ लीन हो जाती हैं, क्योंकि उसे इच्छा आत्मा की है, उसे कोई अन्य इच्छा नहीं रह गयी है। (२)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,

न मेघया, न बहुना श्रुतेन ।

ममेवैव वृणुते तेन लभ्यस्,

तत्सर्वं आत्मा विवृणुते तनु स्वाम् ॥३॥

अनु०—यह आत्मा न तो [शास्त्र के] प्रवचन से प्राप्त होने योग्य है, न मेघा (धारणाशक्ति) से, [और न] अधिक पाण्डित्य से। वह जिस का धरण करता है उसी द्वारा इस की प्राप्ति हो सकती है। उस के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है। (३)

सि० अ०—जगत्मा की ब्रह्मविद्या के बिना अधिक प्रवचन से प्राप्त नहीं किया जा सकता, ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता, ब्रह्म के धरण के अतिरिक्त किसी अन्य के धरण से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह जिसे चाहता है अपने स्वरूप को उस पर प्रकट कर देता है। जिस

शक्ति, ब्रह्मनिष्ठा, और ज्ञान नहीं है, जिस ने अपना मन अन्य वस्तुओं में लगा रखा है, और जो साधना और उपसमना की विधि नहीं जानता वह आत्मा की नहीं प्राप्त करता । [३]

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो,

न च प्रमादात्, तपसो वाऽप्यलिङ्गात् ।

एतैरुपायैर् यतते यस् तु विद्वास्

तस्यैव आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

अनु०—यह आत्मा बलहीन पुरुष को प्राप्त नहीं हो सकता, और न प्रमाद से अथवा लिङ्ग (संन्यास) रहित तपस्या से । परन्तु जो विद्वान् इन उपायों से प्रयत्न करता है उस का यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट हो जाता है । (४)

मि० अ०—जिस ब्रह्म की शक्ति और ज्ञान है वह उस धाम में जो ब्रह्म धाम है प्रवेश करता है और साक्षात् वही हो जाता है । [४]

संप्राप्यैनमृपयो ज्ञानतृप्ता

कृतात्मानो वीतरागा प्रशान्ता ।

ते सर्वंग सर्वत प्राप्य धीरा

युक्तात्मान सर्वमेवाविशन्ति ॥५॥

अनु०—इसे प्राप्त कर ऋषिगण ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, विरक्त, और प्रशान्त हो जाते हैं । वे धीर पुरुष उस सर्वगत [ब्रह्म] को सब ओर प्राप्त कर समाहितचित्त हो सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं । (५)

मि० अ०—जो लोग और यती जब प्राप्ति कर के ब्रह्मनिष्ठा और ज्ञान से तृप्त हो जाते हैं और जानने और समझने लगते हैं कि हमारे लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं है जिसे हम करें । इस कारण वे विरक्त हो जाते हैं आनंद हो जाते हैं वे अपनी जड़ सर्वभूषणी सत्ता को सब में या हर स्वरूप को जानते हैं । [५]

वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्था

संन्यासयोगाद् यतय शुद्धसत्त्वा ।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले

परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

अनु०—जिन्हो ने वेदान्त के विज्ञान से अर्थ का अच्छी तरह निश्चय कर लिया है वे 'सन्यासयोग' से यत्न करने वाले शुद्धचित्त पुरुष ब्रह्मलोक में देहत्याग करते समय परम अमरभाव को प्राप्त हो सब ओर से मुक्त हो जाते हैं । [६]

सि० अ०—उन्हो ने उपनिषदों और ब्रह्मवाक्यों से निर्णय कर लिया है और समझ लिया है कि आत्मा सत् है और अनात्मा का ज्ञान मिथ्या है । जिन्हो ने मिथु-भूति, सन्यास, त्याग, और ब्रह्मचर्य धारण कर लिया है उन्हो ने तप से अपने को शुद्ध कर लिया है । वे उपनिषा में रह हैं । जब वे इस लोक से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं तो उन लोक में ब्रह्मा के साथ रह कर अब ब्रह्म मुक्त हो जाता है तो वे भी मुक्त हो जाते हैं । [६]

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा,

देवाश् च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कर्माणि विज्ञानमयश् च आत्मा

परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति ॥७॥

अनु०—पन्द्रह कलाएँ (देहादयः तत्त्व) अपने आश्रयों में स्थित हो जाती हैं, समस्त देवगण (इन्द्रियाँ) अपने प्रतिदेवता (आदित्यादि) में लीन हो जाते हैं । कर्म और विज्ञानमय आत्मा सब परम अव्यय [पुरुष] में एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं । [७]

सि० अ०—ज्ञानी और ब्रह्मवित् जब शरीर छोड़ता है और उस की सभी इन्द्रियाँ और कलाएँ अपने देवताओं को प्राप्त हो जाती हैं तो वह शुभ और अशुभ कर्म का फल नहीं जो स्वर्ग या नरक प्राप्त करावे, बल्कि उस का जीवात्मा अव्यय परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है । [७]

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रे-

ऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय,

तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त

परात्पर पुरुषमुपति दिव्यम् ॥८॥

अनु०—जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्याग कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त हो कर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है । (८)

सि० अ०—जिस प्रकार नदियाँ सागर के और नाम-रूप त्याग कर महासागर के साथ एकीकृत हो जाती हैं उसी प्रकार जानी और ब्रह्मवित् अपने नाम-रूप को त्याग कर परात्पर पुरुष को प्राप्त कर लेते हैं । वह परात्पर पुरुष अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, सर्वगत है, और सर्वव्यापक है । [८]

स यो ह वै तत् परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,<sup>१</sup> नास्या-  
ब्रह्मवित् कुले भवति; तरति शोक, तरति पाप्मान, गुहाग्रन्थिभ्यो  
विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

अनु०—जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है, उस के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता, वह शोक को तर जाता है, पाप को पार कर लेता है, हृदयग्रन्थियों से विमुक्त हो कर अमर हो जाता है । (९)

सि० अ०—जो कोई उस ब्रह्म को जान लेता है ब्रह्म ही होता है । अर्थात् जो कोई ईश्वर को जान लेता है ईश्वर ही होता है । उस के कुल में कोई तान और अवनति से रहित नहीं होता । वह शोक, दुःख, और कायना के समुद्र और कर्मों के समुद्र को तर कर और अपने हृदय की ग्रन्थियों से मुक्त हो कर अमरत्व प्राप्त कर लेता है । [९]

तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम्—

क्रियावन्त, श्रोत्रिया, ब्रह्मनिष्ठा,

स्वयं जुह्वत एकपि<sup>२</sup> श्रद्धयन्त —

तेषामेवंपा ब्रह्मविद्या यदेत,

शिरोघ्नत विधिवद् यैस् तु चीर्णम् ॥१०॥

१ 'सिद्धे अवसर' के लातीनी अनुवाद के वर्ता आन्तेरिअल डुपेरान ने इस वाक्य की उपनिषदों का साथ बतलाया है, जो सर्वथा समीचीन है ।

२ तुलनीय प्रश्नोपनिषद् ० ११

अनु०—यही [वात] ऋचा ने भी कही है—जो [अधिकारी] निद्या-  
वान्, धोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, और स्वयं यज्ञापूर्वक एकपि [नामक अग्नि] में  
हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया  
है उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिए । (१०)

सि० अ०—यह विद्या उन्हीं से कहनी चाहिए, उन्हीं को समझानी चाहिए  
जिन्होंने वेद में प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान किया है जो वेदाय वं समस्तते हैं और  
ब्रह्मनिष्ठ हैं । किसी अन्य से [यह विद्या] नहीं कहनी चाहिए । [१०]

तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच । नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।  
नमः परमऋषिभ्यो, नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

अनु०—उस इस सत्य का पूर्व काल में अङ्गिरा ऋषि ने उपदेश किया  
था । जिसने शिरोव्रत का अनुष्ठान नहीं किया वह इस का अध्ययन नहीं  
कर सकता । परमऋषियों को नमस्कार । परमऋषियों को नमस्कार । (११)

सि० अ०—ऋषीश्वर अगिरा ने अपने शिष्य से ब्रह्म विद्या को इसी प्रकार कहा  
और समझाया, और कहा कि जिने वेद में श्रद्धा नहीं उस से यह विद्या नहीं कहनी  
चाहिए । [११]

शान्तियों को नमस्कार । शान्तियों को नमस्कार । अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का  
शुभ हो । ब्रह्मवेत्ताओं का शुभ हो ।

॥ इति द्वितीय खण्डः ॥

समाप्त हुई अथर्ववेदीया मुण्डकोपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा । भद्रं पश्येमाक्षभिः यजत्रा,  
स्थिरैरङ्गैस्त्वं तुष्टुवासेस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः ।  
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति न पूषा विश्रवेदा,  
स्वस्ति नः साक्षी अरिष्टनेमि, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।

ॐ शान्ति । शान्ति । शान्ति ।

॥ इति मुण्डकोपनिषत् समाप्ता ॥



# माराङ्क्योपनिषद्

(अथर्ववेदीया)

शान्तिपाठ

ॐ भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवा । भद्र पश्येमाक्षभिर् यजत्रा ,  
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवासेस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः ।

(ऋग्वेद १. ८९. ८)

अनु०—हे देवगण ! हम कानो से कल्याणी वाणी सुनें, यज्ञकर्म से समर्थ हो कर नेत्रों से शुभ दर्शन करे, स्थिर अङ्ग और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग देवताओं के लिए हितकर आयु का भोग करें ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति न पूषा विश्रवेदा,  
स्वस्ति नस् ताक्ष्यो अरिष्टनेमि, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।

(ऋग्वेद १. ८९. ९)

ॐ शान्ति । शान्ति । शान्ति ।।।

अनु०—महान् कीर्तिवाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वश (अथवा सर्वेश्वर्यवान्) पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टो (अरिपतिओ) के लिए चक्र के समान [घातक] है वह गरुड हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे । त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

ओमित्येतदक्षरम् । इदर्थं सर्वं तस्योपन्याख्यानम् । भूत,  
भवद्, भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच् चान्यत् त्रिकालातीत  
तदप्योङ्कार एव ॥१॥

अनु०—‘ओम्’ यह अक्षर है । यह सब उस की व्याख्या है । जो कुछ भूत, भविष्यत्, और वर्तमान है सब ओङ्कार ही है । अन्य जो त्रिकालातीत है वह भी ओङ्कार ही है । (१)

सि० अ०—जो कुछ है प्रणव है। जो वह महाव्यव्य ओ३म् है उस का वणन यह है जो हुआ है, जो हो रहा है, और जो होगा वह सब वही है। जो तीनों पात्रों-भूत, भविष्यत् और नर्तमान्-से परे है वह सब वही है। [१]

सर्वशः ह्येतद् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

अनु०—यह सभी ब्रह्म है। यह आत्मा ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पादों (कलाओं, आत्मों, अशों) वाला है। (२)

सि० अ०—जो कुछ है वही प्रणव है जो ब्रह्म भी है और आत्मा भी है। ब्रह्म को चार मात्राएँ हैं और आत्मा को भी चार मात्राएँ हैं। [२]

जागरितस्थानो, बहिष्प्रज्ञ, सप्ताङ्ग, एकोनविंशतिमुख, स्थूलभुग्, वैश्वानर प्रथम पाद ॥३॥

अनु०—जाग्रत्-अवस्था का स्थानी (अभिमानी) बहिर्मुखी प्रज्ञा वाला (बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला), सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखों वाला, और स्थूल [विषयों] का भोक्ता वैश्वानर पहला पाद है। (३)

सि० अ०—प्रथम पाद जाग्रत् अवस्था है। वह प्रकट अवस्था है और [आत्मा] उस अवस्था में उस जगत् के सभी दृश्यों से अवगत रहता है। उस प्रथम पाद के सात अंग हैं—रसना, त्वचा, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, मन और बुद्धि—और वह एतद्वारा दृश्यमान जगत् में उन्नीस छत्तों की ओर उन्मुख हो जाता है। [ये] तत्त्व ये हैं—सोमह बनाएँ जो मानव शरीर में विलीन है और तीन गुण जिन्हें सृष्टि, स्थिति और प्रलय कहते हैं। इन के द्वारा [आत्मा] स्थूल विषयों का अनुभव करता है। सभी प्राणियों का देवता अग्नि है जिस का दूसरा नाम वैश्वानर है। जो सब का प्राणवि है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है वह आत्मा या प्रथम पाद है। [३]

स्वप्नस्थानो, ज्ञानप्रज्ञ, सप्ताङ्ग, एकोनविंशतिमुख, प्रविविक्तभुक्, तैजसो द्वितीय पाद ॥४॥

अनु०—स्वप्नावस्था का स्थानी (अभिमानी) अन्तर्मुखी प्रज्ञा वाला, सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखों वाला, और प्रविविक्त [विषयों] का भोक्ता तैजस दूसरा पाद है। (४)

सि० अ०—द्वितीय पाद स्वप्नावस्था है। इस स्वप्नावस्था में, जो अन्तरंग होती है, [आत्मा] उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से व्यवहार करता है जिन से वह जाग्रत अवस्था में व्यवहार करता है। अतः जाग्रत अवस्था में [आत्मा] स्मृत पदार्थों से ऊपर नहे गये उन्नीस तत्त्वों का रस ग्रहण कर इस अन्तर्बल में उन उन्नीस तत्त्वों की शक्ति द्वारा सूक्ष्म पदार्थों से भोग प्राप्त करता है। इस जगत् के सभी प्राणियों के देवता का नाम तैजस है अर्थात् ज्योतिर्मय है। यह स्वप्नावस्था जिस के विषय में यह वर्णन किया गया है आत्मा का द्वितीय पाद है। [४]

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुपुप्तम्। सुपुप्तस्यान, एकीभूतः, प्रज्ञानधन एवानन्दमयो, ह्यानन्दभुक्, चेतोमुखः, प्राज्ञस् तृतीयः पादः ॥५॥

अनु०—जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की कामना नहीं करता, न कोई स्वप्न देखता है, वह सुपुप्ति है। सुपुप्ति का स्थानी, एकीभाव की प्राप्त, आनन्दमय प्रज्ञानधन ही आनन्द का भोक्ता, चेतनोमुख प्राज्ञ तीसरा पाद है। (५)

सि० अ०—तृतीय पाद सुपुप्तावस्था है। यह वह अवस्था है जिस में कोई कामना नहीं रह जाती और जो कुछ स्वप्नावस्था और जाग्रत अवस्था में दृष्टिगोचर होता है वह इस काल में तनिक भी नहीं दिखायी देता। इसे ही सुपुप्तावस्था कहते हैं। इस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। इस दशा में [जीवात्मा] साक्षात् ब्रह्म ही जाता है जो प्रज्ञानधन है, आनन्दस्वरूप हो कर भान्व का भोक्ता है, और ज्ञानस्वरूप हो कर सभी विषयों की जानता है। इस सुपुप्तावस्था के देवता की सत्ता प्राज्ञ है, अर्थात् ज्ञान वा अधिबल। यह आत्मा का तृतीय पाद है। [५]

एष सर्वेश्वर, एष सर्वज्ञ, एषोऽन्तर्यामिणो योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्स्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

अनु०—यह सर्वेश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है, और यह सब का मूल है, भूतों (स्थावर और जङ्गम जगत्) का उद्गम और लय-स्थल ही। (६)

सि० अ०—यही सब का स्वामी है और यही सर्वज्ञ है। यही सर्वान्तर्यामी है अर्थात् सब में है और रहस्यों को जानने वाला है। यही है सब का उत्पत्ति-स्थान, लय का उत्पादक, और सब का सहर्ता। [६]

शान्त प्रज्ञ, न बहिःप्रज्ञ, नोभयत प्रज्ञ, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ, नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-  
मेकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिवमद्वैत चतुर्थं  
मन्यन्ते । स आत्मा, स विज्ञेय ॥७॥

अनु०—न अन्तर्मुखी प्रज्ञा वाली, न बहिर्मुखी प्रज्ञा वाली न उभयविध  
प्रज्ञा वाली, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ । चतुर्थावस्था को अदृष्ट,  
अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य एकात्मप्रत्ययसार  
(एकात्म्यबोध ही जिस का सार है), प्रपञ्च का उपशम शान्त शिव,  
और अद्वैत मानते हैं । वही आत्मा है वही जानने योग्य है । (७)

नि० अ०—आत्मा वा चतुर्थ पाद तुरीयावस्था है । वह स्वप्न और जाग्रत  
से परे है और उस सुषुप्तावस्था से भी परे है जो स्वप्न और जाग्रत से परे है । यह  
वैसा ही है जैसा ऊपर वर्णित हुआ है । वह वेद वा वह मन्त्र समूह है जो सिखा नहीं  
गया है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञान से एकीभूत हो जाता है । वह  
तो ज्ञानस्वरूप है । वह भी नहीं कहा जा सकता कि वह सत्ता है और न उसे  
अज्ञानी ही कहा जा सकता है क्योंकि वे दोनों गुण अपूर्ण सत्ता में होते हैं । वह  
दृष्टिगोचर नहीं होता । उसे गुणों से विभेदित नहीं किया जा सकता । वह अपाह्न है  
अलक्षण है उसे मन से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता वह सेरी बाणी में नहीं आता  
और न उसे पुछा कह सकते हैं और न स्वी । उसे उसी से जाना जा सकता है ।  
सम्पूर्ण जगत् का अवमान उसी में होता है । वह आनन्दस्वरूप है । उस में द्वैत  
नहीं । इसे आत्मा का चतुर्थ पाद करते हैं । यही है आत्मा और इसी आत्मा को  
ज्ञानता चाहिए । [७]

सौख्यमात्माऽध्यक्षरमोद्धारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च  
पादा—अकार उकारो मकार इति ॥८॥

अनु०—वह यह आत्मा अक्षरदृष्टि से आकार है मात्रा-दृष्टि से  
पाद ही मात्राएँ हैं और मात्राएँ ही पाद हैं—अकार उकार मकार । (८)

नि० अ०—यदि नाम गुण और अक्षर रूप में इस आत्मा को जानना चाहो  
तो ओकार रूप प्रणव को यही आत्मा जानो । प्रणव के भी चार पाद होने हैं जो  
उस की चार मात्राएँ हैं । आत्मा के चार पादों का वजन हुआ है च प्रणव की

चार मात्राएँ हैं, और प्रणव की जो चार मात्राएँ वही गयी है वे आत्मा ने चार पाद हैं। यह चतुष्पाद प्रणव यह है—अकार, उकार, और मकार।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार प्रथमा मात्रा,  
ऽऽप्तेरादिमत्त्वाद् वा। आप्नोति ह वै सर्वान् कामानाविश्वं च  
भवति य एव वेद ॥९॥

अनु०—जाग्रत् अवस्था का अभिमानी वैश्वानर अकार व्याप्त अथवा आविर्भूत होने के कारण [ओकार की] पहली मात्रा है। निश्चय ही [वह] सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और आदि (प्रधान) होता है जो ऐसा जानता है। (९)

सि० अ०—अकार प्रणव का प्रथम पाद है। यह आत्मा के प्रथम पाद का प्रतिरूप है जो जाग्रत अवस्था है और जिस का देवता वैश्वानर है। अकार के विषय में कहा जाता है कि वह सब का आदि है और सब कुछ उसी से प्राप्त होता है। जो कोई अकार को इस प्रकार जानता है वह सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और सब में प्रथम हो जाता है। (९)

स्वप्नस्थानस् तैजस उकारो द्वितीया मात्रा, उत्कर्षा-  
दुभयत्वाद् वा। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं, समानश् च  
भवति, नास्याब्रह्मवित् भुले भवति य एव वेद ॥१०॥

अनु०—स्वप्न अभिमानी तैजस उकार उत्कर्ष अथवा मध्यवर्ती होने के कारण दूसरी मात्रा है। निश्चय ही [वह] ज्ञानसन्तान का उत्कर्ष करता है, [सब के प्रति] समान होता है, और उसके कुल में कोई ब्रह्मज्ञान से होन नहीं होता जो ऐसा जानता है। (१०)

सि० अ०—उकार प्रणव की द्वितीय मात्रा है। यह आत्मा के द्वितीय पाद का प्रतिरूप है जो स्वप्नावस्था है और जिस का देवता तैजस है। हम के विषय में कहा जाता है कि उकार सब में मग्न है। प्रथम मात्रा और प्रथम मात्रा भी सृष्टिर्ज्ञा भी इसी में हैं। जो कोई उकार को इस प्रकार जानता है वह ज्ञान द्वारा अनन्त को प्राप्त कर लेता है और सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हो जाता है। उकार ने जानने काय की मग्न में कोई भी अज्ञानी नहीं होता। (१०)

सुषुप्तस्थान प्राज्ञो मकारश्च तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर् वा।  
मिनोति ह वा इद सर्वमपीतिश्च च भवति य एव वेद ॥११॥

अनु०—मुपुत्ति का अभिमानी प्राज्ञ मवार नाप अथवा लय के कारण तीसरी मात्रा है। निश्चय ही वह इस सब को नाप लेता है और [उस का] लयस्थान हो जाता है जो ऐसा जानता है। (११)

मि० अ०—मकार प्रणव की तृतीय मात्रा है। यह आत्मा के तृतीय पाद का प्रतिरूप है जो मुपुत्तावस्था है और बिम्ब का देवता प्राज्ञ है और म्'। इस के विषय में कहा जाता है कि यह सब को नाप लेने वाला है और सब का सहर्ता है क्योंकि मुपुत्तिजाल में सब कुछ विलीन हो जाता है। जो कोई मवार को इस प्रकार जानता है वह मद् को नाप लेने वाला और सब को विलीन कर देने वाला होता है। [११]

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यं, प्रपञ्चोपसमं, शिवोऽद्वैत ।  
एवमोद्धार आत्मैव । सविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एव वेद ॥१२॥

अनु०—अमात्र चतुर्थावस्था है, अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपसम, शिव, अद्वैत । इस प्रकार ओद्धार आत्मा ही है। [वह] आत्मा से आत्मा में प्रवेश करता है जो ऐसा जानता है। (१२)

मि० अ०—ऊपर तीन मात्राओं की मीमांसा के अवसर पर प्रणव की चतुर्थ अवस्था की मीमांसा नहीं हुई है। उस का कारण यह है कि उसे मात्रा कह ही नहीं सकते। वह तो सर्वरूप है, उस में सभी विलीन हो जाते हैं उसे बाणी में नहीं साया जा सकता वह आनन्दमय है और उस में द्वैत का अवकाश नहीं। वही मात्मा यह प्रणव है और यह प्रणव वही आत्मा है। जो कोई प्रणव को इस प्रकार जानता है वह आत्मा हो जाता है और स्वतः अपने में स्थित हो जाता है। जो कोई प्रणव को इस प्रकार जानता है वही ज्ञानी है वही ज्ञानी है। [१२]

समाप्त हुई अधर्ववेदीया माण्डूक्योपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा । भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्रा ,  
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवासेस् तनूभिर् व्यक्षेम देवहितं यदायुः ।  
स्वस्ति नः ऊर्ध्वो धृद्धश्वा , स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा ,  
स्वस्ति नस् तादृशो अरिष्टनेमि , स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।

ॐ शान्ति । शान्ति । शान्ति ।।।

॥ इति माण्डूक्योपनिषत् समाप्ता ॥

# तैत्तिरीयोपनिषद्

(कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयारण्यक-अष्टाध्यायः ७-९)

शान्तिपाठः

ॐ शं नो<sup>१</sup> मित्रः, शं वरुणः, शं नो<sup>१</sup> भवत्वयमा,  
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः, शं नो विष्णुरुक्मः ।

(ऋग्वेद १.१०.९)

नमो ब्रह्मणे । नमस् ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।  
त्वानेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि ।  
तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

## शीक्षावल्ली<sup>१</sup>

प्रथमोऽनुवाकः

ॐ शं नो<sup>१</sup> मित्रः, शं वरुणः, शं नो<sup>१</sup> भवत्वयमा,  
शं न इन्द्रो, बृहस्पतिः, शं नो विष्णुरुक्मः ।

१ तैत्तिरीयोपनिषद् मे तीन वस्तिर्वा हैं—शीक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली (दाराशिकोह के शब्दों से, 'आनन्दवल्ली'), और मृगुवल्ली । इन में दाराशिकोह ने केवल अन्तिम दो वस्तिर्वा की टोका पूर्ण की हैं, शीक्षावल्ली के प्रथम अनुवाक के अतिरिक्त दोष भाग को उस ने छोड़ दिया है । हो सकता है कि उसे संपूर्ण शीक्षावल्ली उपलब्ध न हुई हो । शीक्षावल्ली के प्रथम अनुवाक को भी उसने ब्रह्मानन्दवल्ली का 'शिक्षाध्याय' माना है, और ब्रह्मानन्दवल्ली के दोष भाग को 'ब्रह्मवल्ली' । ब्रह्मानन्दवल्ली और मृगुवल्ली को भी उस ने एक ही उपनिषद् के भाग न मान कर, स्वतंत्र उपनिषदें मानी हैं । इस का एक आधार भी है । प्रत्येक वल्ली के आदि और अन्त में शान्तिपाठ प्राप्त होता है, जिस के कारण वे आपाततः एक-दूसरे से स्वतंत्र प्रतीत होती हैं ।

नमो ब्रह्मणे । नमस् ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि ।  
त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि, ऋत वदिष्यामि, सत्य वदिष्यामि ।  
तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।। ॥ १ ॥

अनु०—मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिए सुखकर हो, वरुण हमारे लिए  
सुखकर हो, अयंमा हमारे लिए सुखकर हो, इन्द्र तथा वृहस्पति हमारे  
लिए सुखकर हो, विस्तीर्ण पादविक्षेप (ङग) वाता विष्णु हमारे लिए  
सुखकर हो ।

ब्रह्म वो नमस्कार है । हे वायो । तुम्हे नमस्कार है । तुम्ही  
प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुम्ही को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, ऋत कहूँगा, सत्य  
कहूँगा । वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता (उपदेष्टा, आचार्य) की रक्षा  
करे । रक्षा करे मेरी, रक्षा करे वक्ता की । (१)

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

सि० अ०—उपनिषद् की यह प्रथम स्तुति है—हे मित्र (अर्थात् हे मैत्री के  
देवता) । हे वरुण (जन के देवता) । हे अयमव् (शिव के देवता) । हे इन्द्र (देवताओं  
के राजा) । हे वृहस्पति (आमिया के गुरु वृहस्पति) । हे विष्णो (सब से महाद्) ।  
इस ब्रह्मज्ञान द्वारा हमारा प्रयत्न कर ।

हे ब्रह्मन् । तुझ नमस्कार । हे वायो । तुझे नमस्कार । तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है ।  
तुझ मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहता हूँ तुझ सत्य कहता हूँ तुझ कर्मों का फल कहता हूँ । तू  
मुझे अपनी शरण में [ले कर मेरी] रक्षा कर वक्ता और श्रोता को अपनी शरण में  
[ले कर उन की] रक्षा कर । गुरु को अपनी शरण में [ले कर उन की] रक्षा कर,  
प्रयत्न और ध्वज का जो फल होता है उसे अपनी शरण में [रख कर उन की] रक्षा  
कर, प्रयत्न और ध्वज से जो प्रकाश प्राप्त होता है उसे अपनी शरण में [रख कर  
उन की] रक्षा कर । हम परस्पर शत्रुता में न आते । [१]

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

द्वितीयोऽनुवाक

श्रीक्षा व्याख्यास्थाम । वर्ण, स्वर, मात्रा बलम् साम,  
सन्तान । इत्युक्त श्रीक्षाध्याय ॥ १ ॥



अनु०—हम शिक्षा (उच्चारणशाम्भ) ती व्याख्या करेंगे ।  
[अकारादि] वर्ण, [उदात्तादि] स्वर, [ह्रस्वादि] मात्रा, [शब्दोच्चारण  
मे प्राण का प्रयत्नरूप] वल, [एक ही नियम से उच्चारण-रूप] साम,  
[संज्ञा] सन्तान (सहिता) [ये ही इस अध्याय के विषय हैं] । इस प्रकार  
श्रीक्षाध्याय कहा गया । (१)

तृतीयोऽनुवाक

सह नौ यश । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथात सध्वं हि-  
ताया उपनिषद् व्याख्यास्याम, पञ्चस्वधिकरणेषु—अधिलोकम-  
धिज्योतिषमधिविद्यमधिप्रज्ञमध्यात्मम् । ता महासंहिता  
इत्याचक्षते ॥ अथाधिलोकम्—पृथिवी पूर्वरूपम्, द्यौस्तररूपम्,  
आकाश सधि, ॥ १ ॥

अनु०—हम [शिष्य और आचार्य] दोनों को साथ साथ यश प्राप्त  
हो । हमें साथ साथ ब्रह्मतेज प्राप्त हो । अब हम [इन] पाँच अधि-  
करणों में सहिता (वर्णों की सन्धि) की उपनिषद् (रहस्य) की व्याख्या  
करेंगे—अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज्ञ, और अध्यात्म ।  
उन्हें महासंहिता कहते हैं ॥ अब अधिलोक (लोकसम्बन्धी) [दर्शन]  
कहा जाता है—[संहिता का] प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है,  
मध्यभाग आकाश है, (१)

—वायु सन्धानम् । इत्यधिलोकम् ॥ अथाधिज्योतिषम्—  
अग्नि पूर्वरूपम्, आदित्य उत्तररूपम्, आप सधि, वैद्युत्  
सन्धानम् । इत्यधिज्योतिषम् ॥ अथाधिविद्यम्—आचार्य  
पूर्वरूपम्, ॥ २ ॥

अनु०—और वायु सन्धान (जोड़) है । यह अधिलोक दर्शन कहा  
गया ॥ अब अधिज्योतिष [दर्शन] कहा जाता है—प्रथम वर्ण अग्नि है,  
अन्तिम वर्ण आदित्य है मध्यभाग अप-तत्त्व (जल) है, और विद्युत् सन्धान  
है । यह अधिज्योतिष कहा गया ॥ अब अधिविद्य [दर्शन] कहा जाता  
है—प्रथम वर्ण आचार्य है, (२)

१ जिस शब्दोच्चारण रूप प्रयत्न से सधि घटित होती है उसे भी सन्धान  
कहते हैं ।

—अन्तेवास्युत्तररूपम्, विद्या सधि, प्रवचनार्थं सधानम् ।  
इत्यधिप्रजम् ॥ अथाधिप्रजम्—माता पूर्वरूपम्, पितात्तररूपम्,  
प्रजा सधि, प्रजननार्थं सधानम् । इत्यधिप्रजम् ॥ ३ ॥

अनु०—अन्तिम वर्णं जिह्व है, विद्या सन्धि है और प्रवचन मन्धान है—यह विद्यासम्बन्धी दर्शन कहा गया ॥ अब अधिप्रज [दर्शन] कहा जाता है—प्रथम वर्णं माता है, अन्तिम वर्णं पिता है, प्रजा (सन्तान) सन्धि है, और प्रजनन सन्धान है—यह प्रजासम्बन्धी [दर्शन] कहा गया । (३)

अथाध्यात्मम्—अधरा हनु पूर्वरूपम् उत्तराहनुत्तररूपम्,  
वाक् सधि, जिह्वा सधानम् । इत्यध्यात्मम् ॥

इतीमा महासर्थेहिता । य एवगेता महासर्थेहिता  
व्याख्याता वेद, सधीयते प्रजया, पशुभि, ब्रह्मवर्चसेनाम्राद्येन,  
सुवर्गेण, लोकेन ॥ ४ ॥

अनु०—अब अध्यात्म [दर्शन] कहा जाता है—प्रथम वर्ण नीचे का हनु (नीचे के होठ से ठाड़ी तक का भाग) है, अन्तिम वर्ण ऊपर का हनु (ऊपर के होठ से नासिका तक का भाग) है, वाणी सन्धि है, और जिह्वा सन्धान है । यह अध्यात्म [दर्शन] कहा गया ॥

इस प्रकार ये महासहिताएँ कहलाती हैं । जो पुरुष इस प्रकार व्याख्या की हुई इन महासहिताओं को जानता है वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न, और स्वर्गलोक से सन्धियुक्त किया जाता है । (४)

चतुर्विंशुवाक

यश् छन्दसामृषमो विश्वरूपश् छन्दोभ्योऽभ्यमृतात् सबभूव  
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य, देव । धारणो भूयासम  
शरीर में विचर्यणम, जिह्वा में मधुमत्तमा, कर्णाभ्या भूरि  
विश्रुचम् । ब्रह्मण कोशोऽसि मेधया पिहित । श्रुत में गोपाय ।  
आवहन्ती, वितन्वाना, ॥ १ ॥

—बुर्वाणा चीरमात्मन वासार्थं, यम गावश् च,  
अन्नगाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह, जोयशा पशुभि सह ।

स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिण—स्वाहा । विमायन्तु  
ब्रह्मचारिण—स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिण—स्वाहा ।  
दमायन्तु ब्रह्मचारिण—स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिण—  
स्वाहा । ॥ २ ॥

अनु०—जो वेदो म ऋषभ (प्रधान) और सर्वरूप है, जो वेदरूप  
अमृत से आविर्भूत हुआ है, वह इन्द्र मुझे मेघा से अनुगृहीत करे । हे देव ।  
मैं अमरत्व का धारण करने वाला होऊँ । मेरा शरीर समर्थ हो । मेरी  
जिह्वा अत्यन्त मधुमती (माधुर्ययुक्त) हो । मैं कानो से खूब श्रवण करूँ ।  
तू ब्रह्म का गोप है, बुद्धि से ढका हुआ । तू मेरी श्रवण की हुई विद्या  
की रक्षा कर । [श्री] मेरे लिए वस्त्र, गी, और अन्न-पान को सर्वदा  
शीघ्र ही ले आने वाली और विस्तार करने वाली है । अतः श्री को  
पशुओ के सहित लोम वाली लक्ष्मी को तू मेरे पास ला—स्वाहा । ब्रह्मचारी  
मेरे पास आयें—स्वाहा । ब्रह्मचारी मेरे पास विवेक रूप से आयें—स्वाहा ।  
ब्रह्मचारी मेरे पास प्रकट रूप से आयें—स्वाहा । ब्रह्मचारी लोग [इन्द्रियो  
का] दमन करे—स्वाहा । ब्रह्मचारी लोग शम (मनोनिग्रह) करे—  
स्वाहा । (१-२)

यशो जनेऽस्तानि—स्वाहा । धैर्यान् वस्यसोऽस्तानि—स्वाहा ।  
त त्वा भग । प्रविणानि—स्वाहा । स मा भग । प्रविश—स्वाहा ।  
तस्मिन् सहस्रशास्त्रे निभगाह त्वयि मृजे—स्वाहा । यथाऽऽप प्रवता  
यन्ति, यथा मासा अहर्जरम्, एव मा ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु  
सर्वत—स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि, प्र मा भाहि, प्र मा पद्यस्थ ॥ ३ ॥

अनु०—मैं जनता म यशस्वी होऊँ—स्वाहा । मैं अधिक धनवानो से  
भी अधिक धनवान होऊँ—स्वाहा । हे भगवन् । मैं उस तुझी में प्रवेश  
कर आऊँ—स्वाहा । हे भगवन । वह तू मुझ में प्रवेश कर—स्वाहा ।  
हे भगवन । उस सहस्रशास्त्रायुक्त तुझ में मैं शुद्ध होना हूँ—स्वाहा । जिस  
प्रकार जल नीचे जाता है तथा महीने सक्तर म जाते हैं उसी प्रकार, हे  
धात । ब्रह्मचारी लोग सब ओर से मेरे पास आयें—स्वाहा । तू  
जाग्रदस्थान है, तू गुरु पर प्रकाशित हो, तू मुझे प्राप्त हो । (३)

पञ्चमोजुषक

भूर्, भुव, सुवरिति वा—एतास् तिस्रो व्याहृतयः । तासामु  
ह स्मैता चतुर्थी माहाचमस्य प्रवेदयते—मह इति । तद् ब्रह्म ।  
स आत्मा । अज्ञान्यन्या देवता । भूरिति चा अयं लोक,  
भुव इत्यन्तरिक्षम्, सुवरित्यसौ लोकः ॥ १ ॥

अनु०—‘भू, भुव, और सुव’—ये तीन व्याहृतिर्वा हैं । उन में से  
इस चौथी व्याहृति—मह—को माहाचमस्य (महाचमस का पुत्र) प्रख्यापित  
करता है । वही आत्मा है । अन्य देवता [उस के] अज्ञ हैं । ‘भू’  
ही यह लोक है, ‘भुव’ अन्तरिक्ष [लोक] है, सुव’ वह लोक है (१)

—मह इत्यादित्य । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ॥  
भूरिति वा अग्नि, भुव इति वायु, सुवरित्यादित्य, मह इति  
चन्द्रमा । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीश्चपि महीयन्ते ॥ भूरिति  
वा ऋच, भुव इति सामानि, सुवरिति यजूर्ध्वपि ॥ २ ॥

अनु०—‘मह’ आदित्य [लोक] है । आदित्य से ही समस्त लोक  
महिमान्वित होते हैं ॥ ‘भू’ ही अग्नि है, ‘भुव’ वायु है, ‘सुव’ आदित्य है,  
‘मह’ चन्द्रमा है । चन्द्रमा से ही सम्पूर्ण ज्योतिर्वा महिमान्वित होती हैं ॥  
‘भू’ ही ऋचाएँ हैं, ‘भुव’ साम हैं, ‘सुव’ यजु हैं, (२)

—मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ॥  
भूरिति वै प्राण, भुव इत्यपान, सुवरिति व्यान, मह इत्यन्नम् ।  
अग्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ॥ ता वा एताश् चतस्रश् चतुर्धा,  
चतस्रश् चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद स वेद ब्रह्म । सर्वेऽग्नी  
देवा बलिमावहन्ति ॥ ३ ॥

अनु०—मह’ ब्रह्म है । ब्रह्म से ही समस्त वेद महिमान्वित होते  
हैं ॥ ‘भू’ ही प्राण है, ‘भुव’ अपान है, ‘सुव’ व्यान है ‘मह’ अन्न है ।  
अन्न से ही समस्त प्राण महिमान्वित होते हैं ॥ इस प्रकार ये चारो चार-  
चार प्रकार की हैं, व्याहृतिर्वा चार चार हैं । जो इन्हे जानता है वह  
ब्रह्म को जानता है । सभी देवता उसे बलि (उपहार) अर्पित करते  
हैं । (३)

## पण्डोऽनुवाक

स य एपोऽन्तर्हृदय आकाश तस्मिन्नय पुरुषो मनोमयः,  
अमृतो, हिरण्मय । अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते  
मेन्द्रयोनि । यत्नासौ केशान्तो विवर्तते, व्यपोह्य शीर्षकपाले,  
भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति, भुव इति वायौ, ॥ १ ॥

अनु०—यह जो हृदय के मध्य में आकाश है उस में हो वह मनोमय  
अमर, हिरण्मय पुरुष रहता है । तालुकों के बीच में यह जो स्तन के  
समान लटका हुआ है, वह इन्द्रयोनि (आत्मा का द्वार) है । मस्तक के  
कपालों को वेध कर जहाँ केशों का मूल अवस्थित है, वह [आत्मा प्रमाण  
परते समय] 'भू' रूप अग्नि में स्थित होता है, 'भुव' रूप वायु में, (१)

—सुवरित्यादित्ये, मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम्  
आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्च, चक्षुष्पतिश्च, श्रोत्रपतिश्च,  
विज्ञानपति । एतत् ततो भवति—आकाशशरीर ब्रह्म, सत्यात्म,  
प्राणाराम, मनआनन्दम्, शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीन-  
योग्योपास्य ॥ २ ॥

अनु०—'भुव' रूप आदित्य में, 'मह' रूप ब्रह्म में । [इस प्रकार वह]  
स्वाराज्य (आत्माराज्य) प्राप्त कर लेता है, मन के पति को पा लेता है ।  
तथा वाणी का पति, चक्षु का पति, श्रोत्र का पति, और विज्ञान का पति  
[हो जाता है] । इस से भी बड़ा हो जाता है—आकाश रूपी शरीर वाला,  
सत्यात्मा, प्राणाराम, मनआनन्द (जिस के लिए मन आनन्दस्वरूप है),  
शान्तिसम्पन्न, और अमर ब्रह्म । ह प्राचीनयोग्य (पुरातन योग में  
आरथा रखने वाले सिध्य) । तू इस प्रकार उपासना कर । (२)

## सप्तमोऽनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्ष, द्यौर, दिशोऽवान्तरदिश, अग्निर्, वायु-  
रादित्यश्च, चन्द्रमा, नक्षत्राणि, आप, ओषधयो, वनस्पतय, आकाश,  
आत्मा—इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम्—प्राणो, व्यानो, उपान,

उदान, समान., चक्षु, श्रोत्र, मनो, वाक्, त्वक्, चर्म, मांश्चक्षुः, स्नावास्थि, मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्—पाङ्क्त<sup>१</sup> वा इदं सर्वम्, पाङ्क्तो नैव पाङ्क्तं स्पृशतीति ॥ १ ॥

अनु०—पृथिवी, अन्तरिक्ष, ब्रूलोक, दिशाएँ, और अवान्तर दिशाएँ [—यह लोकापाङ्क्त], अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, और नक्षत्र [—यह देवतापाङ्क्त], अप्सत्स्व, ओषधि, वनस्पति, आकाश, आत्मा [—यह भूतपाङ्क्त]—ये अधिभूतपाङ्क्त हैं। अब अध्यात्मपाङ्क्त बतलाने हैं—प्राण, व्यान, अपान, उदान, और समान [—यह वायुपाङ्क्त], चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, और त्वचा (—यह इन्द्रियपाङ्क्त), चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, और मज्जा [—यह धातुपाङ्क्त] । इस प्रकार इस [पाङ्क्तोपासना का] विधान कर ऋषि ने कहा—‘यह सब पाङ्क्त ही है,’ इस पाङ्क्त से ही [उपासक] पाङ्क्त को प्राप्त करता है’ । (१)<sup>२</sup>

अष्टमोऽनुवाक

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म या अपि—‘ओ श्रावय’—इत्याश्रावयन्ति, ओमिति सामानि गायन्ति, ओम् ओमिति शस्ताणि शर्थसन्ति, ओमित्यध्वर्युं प्रतिगर प्रतिगृणाति, ओमिति ब्रह्मा प्रसीति, ओमित्यग्निहोत्रमनुजानानि । ओमिति ब्राह्मणं प्रवक्ष्यन्नाह—‘ब्रह्मोपाप्नवानि’— इति । ब्रह्मोपाप्नोति ॥ १ ॥

अनु०—‘ओ’ ब्रह्म है, ‘ओम्’ यह सब है, ‘ओम्’ यह अनुरूप किया है । ऐसा भी निश्चय ही प्रसिद्ध है—[याज्ञिक लोग] ‘ओ श्रावय’ कह कर श्रवण कराते हैं, ‘ओम्’ वह कर सामगान करते हैं, ‘ओ ओम्’ कह कर शस्त्रो (गीति रहित ऋचाओं) का पाठ करते हैं, अध्वर्यु प्रतिगर (प्रत्येक कर्म) के प्रति ‘ओ’ उच्चारण करता है, ‘ओम्’ वह कर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है । ‘ओम्’ कह कर वह अग्निहोत्र की आज्ञा देता है, ब्राह्मण ‘ओ’ उच्चारण करता हुआ कहता है—‘मैं ब्रह्म (वेद अथवा परमात्मा) को प्राप्त करूँ ।’ वह ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है । (१)

१ तुलसीदास बृहदारण्यकोपनिषद् १४ १७ ।

२ ‘पाङ्क्त’ का अर्थ है पञ्चक, पाँच की समष्टि ।

## नवमोऽनुवाक

ऋत च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्य च स्वाध्याय प्रवचने च, तपश् च स्वाध्यायप्रवचने च, दमश् च स्वाध्यायप्रवचने च, शमश् च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्नयश् च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्निहोत्र च स्वाध्यायप्रवचने च, अतिथयश् च स्वाध्यायप्रवचन च, मानुष च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजतश् च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजातिश् च स्वाध्यायप्रवचन च । सत्यमिति सत्यवचा राशीतर, तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टि, स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको भौद्गल्य । तद्धि तपस्, तद्धि तप ॥ १ ॥

अनु०—ऋत तथा स्वाध्याय (शाम्नाध्ययन) और प्रवचन (अध्यापन अथवा वेदपाठ), सत्य तथा स्वाध्याय और प्रवचन दम (इन्द्रियदमन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, शम (मनोनिग्रह) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, अग्नि (अग्नाधान) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय और प्रवचन, अतिथि तथा स्वाध्याय और प्रवचन, मानुषकर्म (लोक-व्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, सत्तान तथा स्वाध्याय और प्रवचन, प्रजन (ऋतु-काल म भार्यागमन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, प्रजाति (पीत्रोत्पत्ति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन । सत्य' ऐसा रशीतर का पुत्र सत्यवचा (सत्यमापी) कहता है । 'तप, ऐसा नित्य तपोनिष्ठ पौरुशिष्टि कहता है । स्वाध्याय और प्रवचन', ऐसा भुद्गल्य का पुत्र नाक कहता है क्योंकि वही तप है, वही तप है । (१)

## दशमोऽनुवाक

अह वृक्षस्य रेरिवा, कीर्ति पृष्ठ गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो, वाजिनीव स्वमृतमस्मि, द्रविणश्च सवर्चसम् मुपेधा अमृतोक्षित' । इति त्रिशङ्कोर् वेदानुवचनम् ॥ १ ॥

१ 'अमृतोक्षित' = अमृत से सिक्त अथवा भीषा हुआ ।

'अमृतोक्षित' = अमृत और अमृत ।

अनु०—मैं वृक्ष का प्रेरक हूँ, [मेरी] कीर्ति पर्वतशिखर के समान है । उच्चता के कारण पवित्र, मैं अन्नवान् सूर्य मे उत्तम अमृत के समान हूँ, प्रकाशमान धन, सुमेधा (सुन्दर मेधावाला), अमर और अक्षित (अव्यय अथवा अमृत में मित्त) । यह त्रिशकु [ऋषि] का वेदानुवचन (वेद-व्याख्यान) है । (१)

### एकादशोऽनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद्, धर्मं चर, स्वाध्यायान् मा प्रमद, आचार्याय प्रियं धनमाहुत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी । सत्यान् न प्रमदितव्यम्, धर्मान् न प्रमदितव्यम्, कुशलान् न प्रमदितव्यम्, भूत्ये न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

अनु०—वेदाध्ययन कराकर आचार्य शिष्य को उपदेश देता है—सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, स्वाध्याय से प्रमाद न कर, आचार्य के लिए अभीष्ट धन मा कर [स्त्री परिग्रह कर और] सन्तान-परम्परा का उच्छेद न कर । सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए, धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए, कुशल [आत्मरक्षा में उपयोगी कर्म] से प्रमाद नहीं करना चाहिए, ऐश्वर्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद नहीं करना चाहिए । (१)

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्धानि कर्माणि तानि रोक्षितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, ॥ २ ॥

अनु०—देवकार्य और पितृकार्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए । तू मातृदेव (माता ही जिस का देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, अतिथिदेव हो । जो अनित्य कर्म है उन्हीं का सेवन करना चाहिए, दूसरों का नहीं । हमारे (हम गुरुजनों के) जो शुभ आचरण हैं तुझे उन्हीं की उपासना (अनुसरण) करनी चाहिए । (२)



—तो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाथ्सो ब्राह्मणा तेषा त्वयाऽऽसनेन प्रशसितव्यम् । श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयाऽदेयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, सविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ॥ ३ ॥

अनु०—दूसरे प्रकार के आचरण की नहीं । जो कोई हम में श्रद्धा ब्राह्मण है उन का आसन [आदि] के द्वारा तुझे आश्वासन (धर्मापहरण) करना चाहिए । श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिए, [अपने] ऐश्वर्य के अनुसार देना चाहिए । तज्ज्ञापूर्वक देना चाहिए, भय भानत हुए देना चाहिए, सविस् (सहानुभूति) से देना चाहिए । यदि तुझे कर्म या वृत्ति के विषय में सन्देह उपस्थित हो, (३)

—ये तत्र ब्राह्मणा समश्रित, युक्ता, आयुक्ता, अलूक्षा, धर्मकामा स्यु, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथा । अथाम्याख्यातेषु, ये तत्र ब्राह्मणा समश्रित, युक्ता, आयुक्ता, अलूक्षा, धर्मकामा स्यु, यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथा । एष आदेश, एष उपदेश, एषा वेदोपनिषत्, एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम्, एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

अनु०—तो वहाँ जो विचारशील, योग्य आयुक्त (कर्मपरायण), अलूक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हो, वहाँ वे जैसा दस्त वैसा ही वहाँ तू भी बरत । अब जिन के विषय में आरोप किया गया है उन के विषय में, वहाँ जो विचारशील, योग्य, आयुक्त, सरल-हृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हो, वे जैसा बरते तू भी वैसा ही बरत । यह आदेश (विधि) है यह उपदेश है, यह वेद का रहस्य है, यह अनुशासन है । तुझे इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए—निश्चय ऐसी ही उपासना करनी चाहिए । (४)

द्वादशोऽनुवाकः

ॐ श नो<sup>१</sup>, मि<sup>२</sup>, श वरु<sup>३</sup>, श नो<sup>४</sup> भवत्वर्यमा,  
श न इन्द्रो बृहस्पति<sup>५</sup>, श नो विष्णो<sup>६</sup> हरु<sup>७</sup>म् ।

नमो ब्रह्मणे । नमस् ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि  
त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि, श्रुत वदिष्यामि, सत्य वदिष्यामि ।  
तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।। ॥ १ ॥

अनु०—मित्र (भूयदेव) हमारे लिए सुखकर हो, वरुण हमारे लिए  
सुखकर हो, अर्यमा हमारे लिए सुखकर हो, इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे  
लिए सुखकर हो, विन्तीर्ण पादविशेष (डग) वाला विष्णु हमारे लिए  
सुखकर हो ।

ब्रह्म की नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हे नमस्कार है । तुम्ही  
प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुम्ही को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, श्रुत कहूँगा, सत्य  
कहूँगा । वह मेरी रक्षा करे वह वक्ता (उपदेष्टा आचार्य) की रक्षा  
करे । रक्षा करे मेरी, रक्षा करे वक्ता की ।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।। ॥ १ ॥

॥ इति शीक्षावल्ली ॥

## ब्रह्मानन्दवल्ली

प्रथमोज्जुवाक

ॐ सह नावयतु । सह नो भुनक्तु । सह वीर्यं करवा-  
वहे । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहे ।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

अनु०—[परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ  
साथ रक्षा करे । हम दोनों का साथ साथ पालन करे । हम दोनों  
साथ साथ विद्या सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त कर । हम दोनों का पडा हुआ  
तेजस्वी हो । हम दोनों द्वेष न कर ।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेवाऽभ्युक्ता—‘सत्यं, ज्ञानमनन्तं’,  
ब्रह्म यो वेद निहितं मुह्यतां परमं व्योमन् सोऽभ्युक्ते सर्वान् कामान्  
सह ब्रह्मणा विपश्चिता’ इति ।

तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्  
वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अदभ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओपध्मः,  
ओपधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः । स या एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।  
तस्येदमेव शिरः, अयं दक्षिणः पक्षः, अयमुत्तरः पक्षः, अयमात्मा,  
इह पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति—॥ १ ॥

अनु०—ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है । उस के विषय में  
यह [श्रुति] कही गयी है—

‘सत्य, ज्ञान, और अनन्त ब्रह्म को जो बुद्धिरूप परम आकाश में  
निहित जानता है, वह सर्वत्र ब्रह्म के साप-साध समस्त भोगों को प्राप्त  
कर लेता है ।’

उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु  
से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओपधियाँ, ओपधियों से  
अन्न, और अन्न से पुरुष । वह यह पुरुष अन्न-रस-मय ही है । उस का  
पही शिर है, यह दक्षिण पक्ष है, यह वाम पक्ष है, यह आत्मा है, यह  
पुच्छ (नीचे का भाग) प्रतिष्ठा है । उस के विषय में ही यह श्लोक  
है—(१)

मि० अ०—ब्रह्मवेत्ता परम गद प्राप्त करता है और ब्रह्म हो जाता है । वेद के  
एक अन्य मन्त्र में भी संक्षिप्त है—

‘ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्त है । कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ यह न  
हो, कोई काल ऐसा नहीं जब यह न हो, कोई दिशा नहीं जिस में यह न हो । यह  
बुद्धि-नाभक हृदय-गुहा में प्रकट और प्रकाशित है । ऐसे ब्रह्म को जो जान लेता है—  
उस ब्रह्म को जो सर्वज्ञ है और जिस में सभी कामनाएँ निहित हैं—यह साक्षात् नहीं  
(प्राप्त) बन कर भारी कामनाएँ प्राप्त कर लेता है ।’

१ ‘अनन्त’ के स्थान पर ‘आनन्द’ होता तो स्वात्म्य अधिक होता । तब  
‘सन्निदानन्द’ रूप निष्पन्न हो जाता ।

ब्रह्म आत्मस्वरूप है। उस से प्रथम भूतानाश प्रकट हुआ, भूतकाश से वायु प्रकट हुआ, वायु से अग्नि प्रकट हुआ, अग्नि से जल प्रकट हुआ, जल से पृथिवी प्रकट हुई, पृथिवी से ओषधियाँ प्रकट हुई, ओषधियों से अन्न प्रकट हुआ, अन्न से बीर्य प्रकट हुआ, बीर्य से पुरुष और सभी प्राणी प्रकट हुए। जब पुरुष और सभी प्राणी अन्न के रस में प्रकट हुए [तो सब] अन्न रस ही है। जीवात्मा जो पक्षी के सङ्ग है उस का भासात् भस्मक है। दाहिनी भुजा ही उस का दाहिना पक्ष है, बायीं भुजा उस का बायाँ पक्ष है, उस का वक्ष मूल जिस में हृदय है और उस हृदय में जीव है, उस पक्षी का वक्ष स्थल आत्मा, और हृदय है नाभि से नीचे का भाग उस पक्षी की पूँछ के समान है, जो पूँछ उस का वाम स्थान है। इसी का अनुहरण यह वेदमूल भी करता है—[१]

### द्वितीयोऽनुवाक

‘अन्नाद् वै प्रजा प्रजायन्ते या काश् च पृथिवींश्च श्रिता ।  
अथो अग्नेनैव जीवन्ति, अथैनदपि यन्त्यन्तत ।’  
अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात् सर्वोपधमुच्यते ।  
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते ।  
अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात् सर्वोपधमुच्यते ।  
अन्नाद् भूतानि जायन्ते, जातान्यग्नेन वर्धन्ते ।  
अद्यतेऽस्ति च भूतानि, तस्मादन्नं तदुच्यते’ इति ।<sup>१</sup>  
तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय ।  
तेनैव पूर्ण । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुष-  
विधतामन्वय पुरुषविध । तस्य प्राण एव शिरः, व्यानो दक्षिण  
पक्षः, अपान उत्तर पक्षः, आकाश आत्मा, पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा ।  
तदप्येष श्लोको भवति— ॥ १ ॥

अनु०—‘जो भी प्रजाएँ पृथिवी के आधित है वे अन्न से ही उत्पन्न होती हैं, अन्न से ही जीती हैं, जोर अन्न में उसी में लीन हो जाती हैं। क्योंकि अन्न ही प्राणियों में बँटा है इसी से वह सर्वोपध कहा

१ यहाँ तक मेवावपुष्पनिर्द् ६ ११ में भी द्रष्टव्य है ।

२ ‘अन्नाद् भूतानि’ में यहाँ तक मेवावपुष्पनिर्द् ६ १० में भी द्रष्टव्य है ।

जाता है। जो लोग अन्न ही को ब्रह्म मान कर उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं। क्योंकि अन्न ही प्राणियों में बड़ा है, इसलिये वह सर्वोपघ कहलाता है। अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर अन्न से ही बढ़ते हैं। अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह उन्हें पालता है, इसी से वह “अन्न” कहा जाता है।

उस इस अन्नरसमय [पिण्ड] से भिन्न उस के भीतर रहने वाला प्राणमय कोश है। उस से यह (अन्नमय कोश) परिपूर्ण है। वह यह (प्राणमय कोश) भी पुरुषान्तर ही है। उरा (अन्नमय कोश) की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। उसका प्राण ही सिर है, ध्यान दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश आत्मा (मध्यभाग) है, और पृथिवी पुच्छ-प्रतिष्ठा है। उस के विषय में ही यह श्लोक है—(१)

मि० ८०—पृथिवी पर स्थित सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से जीवित रहते हैं, अन्न में लीन हो जाते हैं। इसी कारण अन्न भूतों में श्रेष्ठतम है और अन्न सब का भोजन है। जो कोई अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, उसे सभी उत्तम अन्न की प्राप्ति होती है। चूँकि अन्न सब से श्रेष्ठ है, सब का भोजन है, सभी प्राणी उसी से उत्पन्न होते हैं, उसी से बढ़ते हैं, उसे सभी खाते हैं, और वह सभी को पालता है, इसी कारण अन्न को ‘अन्न’ कहते हैं, अर्थात् सब का पालन और अन्न। अन्न शरीर अन्नमय कोश है, और अन्नमय कोश में प्राणमय कोश है, और प्राणमय कोश में यह शरीर जो अन्नमय कोश है पूर्ण है। शरीर जैसा है प्राण भी उस में वैसा ही होता है। प्राणवायु शरीर के मस्तिष्क के समान है, ध्यानवायु दाहिनी भुजा के समान है, उदानवायु बायीं भुजा के समान है। समानवायु उस के आत्मा के समान है, अर्थात् जैसे जीव समस्त शरीर में पूर्ण है [वैदेही] समान वायु भी समस्त शरीर में पूर्ण है। पृथिवी उस की पृष्ठ और उस के आभयस्थान के समान है। इसी के अनुसार एन वेदमंत्र भी है—[१]

तृतीयोऽनुवाकः

‘प्राण देवा अनु प्राणन्ति, मनुष्या, पशवश्च ये ।  
प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात् सर्वायुपमुच्यते ।  
सर्वमेव त आयुर् यन्ति ये प्राण ब्रह्मोपासते ।  
प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात् सर्वायुपमुच्यते’ इति ।

तस्यैव एव शरीर आत्मा य पूर्वस्य । तस्माद् वा  
एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमय । तेनैव पूर्ण ।  
स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वय पुरुषविध ।  
तस्य यजुरेव शिर, ऋक् दक्षिण पक्ष, सामोत्तर पक्ष, आदेश  
आत्मा, अथर्वान्निरस पुच्छ प्रतिष्ठा । तदप्येव श्लोको  
भवति— ॥ १ ॥

अनु०—देवगण प्राण के साथ ही प्राणन क्रिया करते हैं, तथा जो  
मनुष्य और पशु [आदि] हैं । प्राण ही प्राणिया की आयु है, इसलिए  
वह 'सर्वायुष' कहलाता है । जो प्राण की सहाय्य से उपवासना करते हैं  
वे पूर्ण आयु की प्राप्त होते हैं । प्राण ही प्राणिया की आयु है, इसलिए  
वह 'सर्वायुष' कहलाता है ।

उस पूर्वोक्त (अथमय कोश) का यही देही आत्मा है । उस इस  
प्राणमय [कोश] में भिन्न अन्तरात्मा मनामय [कोश] है । उस से  
यह पूरा है । वह यह [मनोमय कोश] पुरुषाकार ही है । उस  
(प्राणमय कोश) की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह पुरुषाकार है ।  
यजु ही उस का शिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है साम उत्तर पक्ष है,  
आदेश आत्मा है अथर्वान्निरस पुच्छ प्रतिष्ठा है । उस के विषय में  
ही यह श्लोक है— (१)

वि० अ०—प्राण अन्न का रस है । उसी में द्रवियों के सभी देवता अन्न अपने  
नियम काय सम्पन्न करते हैं और सभी देवता मनुष्य और पशु प्राण ही में परिपाकिन  
होते हैं । इसी कारण प्राण सब का जीवन है । जो कोई प्राण को ब्रह्म जानकर  
उस की उपासना करता है वह प्राणविश्व आयु प्राप्त करता है । चूँकि [प्राण] सब  
का जीवन है अतः सब की आयु की अवधि प्राण में ही प्रकट होती है । शरीर का  
नाश भी अन्नमय है । उस का आत्मा प्राणमय कोश है जो साक्षात् प्राण ही है । प्राण  
मय कोश में मनोमय कोश व्याप्त है जो साक्षात् मन ही है । वह भी एक पक्ष के  
समान है यजुर्वेद उस के शिर के समान है ऋक् वेद उस का दक्षिण पक्ष के समान  
है सामवेद उस का उत्तर पक्ष के समान है अथर्ववेद उस के पुच्छ और आधरप्राण के समान है । इसी के  
अनुसार एक अथर्व वेदमय भा है—[१]

## चतुर्थोऽनुवाक

‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह,  
आनन्द ब्राह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन’ इति ।

तस्यैव एव शरीर आत्मा य पूर्वस्य । तस्माद् वा  
एतस्मान् मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्, तेनैव पूर्ण ।  
स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वय पुरुषविध ।  
तस्य श्रद्धैव शिर, ऋत दक्षिण पक्ष सत्यमुत्तर पक्ष, योग  
आत्मा, मह पुच्छ प्रतिष्ठा । तदप्येव श्लांको भवति—॥ १ ॥

अनु०—जहाँ से न पा कर मन सहित वाणी लौट आती है उस  
ब्रह्मानन्द को जानने वाला पुरुष कभी भय को प्राप्त नहीं होता ।

वही [मनोमय कोश] उस अपने पूर्ववर्ती [प्राणमय कोश] का  
देही आत्मा है । उस इस मनोमय स भिन्न इस का अन्तरात्मा विज्ञानमय  
[काश] है । उस से यह पूरा है । वह यह [विज्ञानमय] भी पुरुषाकार  
ही है । उस [मनामय] की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह भी  
पुरुषाकार है । उस का भ्रमा ही सिर है ऋत दक्षिण पक्ष है सत्य  
उत्तर पक्ष है योग आत्मा (मध्यभाग) है और वल पुच्छ प्रतिष्ठा है ।  
उस के विषय य ही यह श्लोक है—(१)

सि० अ०—ब्रह्म तक मन और वाणी की पहुँच नहीं है उस तक न पहुँच कर  
लौट आते हैं । जो वाँटे उस ब्रह्म को जो आनन्दमय है जानता है वह किसी सत्ता  
से नहीं डरता । मनामय कोश जो साक्षात् मन ही है प्राणमय कोश अर्थात् साक्षात्  
प्राण का आत्मा है । मनोमय कोश अर्थात् साक्षात् मन य विज्ञानमय कोश है ।  
वह भी एक पक्षी के समान है श्रद्धा उस के सिर के समान है सत्य उस के दाय पक्ष के समान है सत्य उस के दाय पक्ष के समान है ब्रह्म-मयाधि  
अथवा योग उस की आत्मा के समान है और गणपति बुद्धि उस की पूछ और  
आध्यात्मिक के समान है । इसी के अनुसार एक अर्थ येदम भी है—[१]

## पञ्चमोऽनुवाक

‘विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।  
विज्ञानं देवा सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।

विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद, तस्माच् चेन् न प्रमाद्यति,  
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते' इति ।

तस्यैव एव शारीर आत्मा य पूर्वस्य । तस्माद् वा  
एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय । तेनैव पूर्ण ।  
स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वय पुरुषविध ।  
तस्य प्रियमव शिर, मोदो दक्षिण पक्ष, प्रमोद उत्तर पक्ष,  
आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको  
भवति— ॥ १ ॥

अनु०—विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है और कर्मों का भी विस्तार  
करता है । समस्त देव ज्येष्ठ विज्ञान-ब्रह्म की उपासना करते हैं । यदि  
[साधन] विज्ञान को ब्रह्म जान जान जाय और फिर उस से प्रमाद न  
करे तो अपने शरीर के सारे पापों को त्याग कर वह समस्त कामनाओं  
(भोगों) को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है ।'

यह [विज्ञानमय] ही उस अपने पूर्ववर्ती मनोमय [कोश] का  
देही आत्मा है । उस इस विज्ञानमय से भिन्न इस का अंतरात्मा  
आनन्दमय [कोश] है । उस [आनन्दमय] से यह पूर्ण है । वह यह  
[आनन्दमय] पुरुषाकार ही है । उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारता के  
समान ही यह पुरुषाकार है । उस वा प्रिय ही शिर है मोद दक्षिण  
पक्ष है प्रमोद उत्तर पक्ष है आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा  
है । उसी के विषय में यह श्लोक है—(१)

सि० म०—जो कोई ज्ञान विज्ञान से युक्त है वही यज्ञ और अनुष्ठान कर सकता  
है । देवगण ज्ञान विज्ञान को परब्रह्म जान कर उस की उपासना करने हैं । जो कोई  
ज्ञान विज्ञान को परब्रह्म जानता है और उस विज्ञान से प्रमाद नहीं करता वह अपने  
सभी शारीरिक पापों को दूर कर अपनी सभी कामनाओं और अभिलाषाओं को प्राप्त  
कर लेता है । गन्धर्व कोश आनन्दमय कोश है जो साक्षात् आनन्द है । वह  
विज्ञानमय कोश अर्थात् साक्षात् विज्ञान में निहित है और उस का आत्मस्वामी है । वह  
की एक पक्षी के समान है प्रभ उस के शिर के समान है प्रमोद उस से मोद की प्राप्ति  
उस के दक्षिण पक्ष के समान है उस मोद का अधिकार उस के बायें पक्ष के समान है  
आनन्द उस की आत्मा के समान है और ब्रह्म उस की पूछ और आश्रयस्थान के समान  
है । इसी के अनुसार एव अन्य वेदमंत्र भी हैं—[१]



पण्डोऽनुवाकः

‘असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्;  
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद, सन्त्वमेनं ततो विदुः’ इति ।

तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

अथातोऽनुप्रश्नाः—उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती३?  
आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता ३ उ ?

सोऽकामयत्—बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत् । स  
तपस् तपत्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च । तत् सृष्ट्वा  
तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच् च त्यच् चाभवत्, निरुक्तं  
चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च,  
सत्यं चानृतं च, सत्यमभयत् । यदिदं किञ्च तत् सत्यमित्या-  
चक्षते । तदप्येव श्लोको भवति— ॥ १ ॥

अनु०—‘यदि पुरुष “ब्रह्मा असत् है” ऐसा जानता है तो यह असत्  
ही हो जाता है; और यदि ऐसा जानता है कि “ब्रह्मा है” तो [ब्रह्मवेत्ता]  
उसे सत् समझते है ।’

उस पूर्वकथित (विज्ञानमय) का यही [आनन्दमय] देही आत्मा है ।

अब इस के अनन्तर ये अनुप्रश्न हैं—क्या कोई अविद्वान् मर कर  
उस लोक को प्राप्त हो सकता है ? अथवा कोई भी विद्वान् मर कर  
उस लोक को प्राप्त हो जाता है ?

उस [ब्रह्मा] ने कामना की—‘मैं बहुत हो जाऊँ’ । उस ने तप  
किया । उस ने तप कर के यह जो कुछ है इस सब की रचना की ।  
इसे रच कर वह इसी में अनुप्रविष्ट हो गया । इस में अनुप्रवेश कर  
वह सत् और त्यत् हो गया, परिभाषित और अपरिभाषित, आश्रय और  
अनाश्रय, चेतन और अचेतन, सत्य और असत्य हो गया । यह जो कुछ  
है उसे [ब्रह्मवेत्ता] ‘सत्य’ नाम ने पुकारते हैं । उस के विषय में हो  
यह श्लोक है—(१)

वि० अ०—जो कोई ब्रह्म को समझ जानता है उस का प्रबल अस्तिव भी असत् हो जाता है, और जो कोई ब्रह्म को सत् जानता है बुद्धिमान् उस को भी सत् जानने है। पाँचवाँ बोध जो आनन्दमय बोध है और साक्षात् आनन्द है विज्ञानमय बोध के अरमा के समान है।

प्रश्न—क्या जिन अज्ञो ने ब्रह्म को नहीं जाना वे इस सीध को छोड़कर ब्रह्मतोष को प्राप्त होने हैं, अथवा ये ज्ञानी ही ब्रह्मतोष को प्राप्त होने हैं ?

उत्तर—जब ब्रह्म अनेका था तब उसे इच्छा हुई कि मैं बहुत होकर प्रबल हो जाऊँ। उस ने सब किया, इस सम्स्त जगत् को उत्पन्न किया, सम्स्त जगत् में अनुप्रविष्ट हुआ, स्वयं साधार और निराधार बना अर्थात् निर्गुण और सगुण हो गया। जिन भी सत्ता के सम्बन्ध में 'यद्' और 'बह' का प्रयोग हो सकता है और जिन भी सत्ता के सम्बन्ध में 'यद्' और 'बह' का प्रयोग नहीं हो सकता, वह दोनों ही हो गया। वह साध्य भी हो गया और निराध्य भी हो गया, मूढ भी हो गया और स्पृष्ट भी हो गया, धरत भी हो गया और अक्षर भी हो गया। पूर्ति वही सब कुछ हो गया है और उस में सभी इन्द्र निहित हो गये हैं, जगत् सबी सोम उस सत्य जावने हैं। इसी के अनुसार एक अन्य वैदमत भी है—[१]

सप्तमोऽनुवाच.

‘असद् वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सवजायत।’

तदारमानधं स्वयमकुरुत, तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते’ इति ।

यद् वै तत् सुकृत रसो वै सः । रसधं होवाय लब्ध्वाऽऽनन्दो भवति । को होवान्यात् क प्राप्यात् यदेव आकाश आनन्दो न स्यात् ? एव होवानन्दयाति । यदा होवैव एतस्मिन्नदृश्ये, ऽनात्म्ये, ऽनिरुक्ते, ऽनिरुक्ते, ऽभय प्रतिष्ठा विन्दते, अथ सोऽभयगतो भवति । यदा होवैव एतस्मिन्धुदरमन्तर कुरुते, अथ तस्य भय भवति । तत् त्वेव भयं विदुषो मन्यानस्य । तदप्येव श्लोको भवति—॥ १ ॥

१ अनु०—‘बहने यह [जगत्] असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। उस [असत्] ने स्वयं अपने को रचा, इसलिए यह सुकृत (सुरचित अथवा स्वरचित) कहा जाता है। वह जो सुकृत है वह निश्चय रस ही है।

इस रम को पाकर यह [पुरुष] आनन्दी हो जाता है। यदि यह आकाश आनन्द (आनन्दस्वरूप आत्मा) न होता तो कौन व्यक्ति जीता और कौन प्राणन-क्रिया करता ? यही तो उन्हें आनन्दित करता है। जिस समय यह [साधक] इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य, और अनाधार ब्रह्म में अमय-स्थिति प्राप्त करता है उस समय यह अभय को प्राप्त हो जाता है। और जब यह इस में थोड़ा-सा भी छेद-भेद करता है तो उसे भय प्राप्त होता है। वह [ब्रह्म] ही भेददर्शी विद्वान् के लिए भय रूप है। इसी अर्थ में यह श्लोक है—(१)

सि० ४०—जगत् की उत्पत्ति के पूर्व जब नाम और रूप नहीं था तब कुछ भी व्यक्त नहीं था। जब नामी और रूपी प्रकट हुए तब नाम और रूप भी प्रकट हुए। अर्थात् उस काल में गुणधर्म गुणी में निहित थे। जब नामी और रूपी प्रकट हो गये, तब गुणी गुणों में क्षुप्त हो गया। इस लिए गुण भी सत्य हैं। उस ने अपने को स्वयं प्रकट किया। इस लिए उसे 'सुकृत' कहते हैं, अर्थात् [उस ने] अपने को स्वयं ही भली भाँति प्रकट किया। वह सभी रसों का स्रोत है। जो ब्रह्मवेत्ता उन यथार्थ रस को जो छायात् ब्रह्म है प्राप्त कर लेता है वह सुख प्राप्त कर लेता है और आनन्दी हो जाता है। यदि वह आनन्द जो मन में निहित है न होता, तो अपानवायु और प्राणवायु को कौन गति देता ? वही आनन्दस्वरूप जो मन में है सब को आनन्दयुक्त करता है। जब ज्ञानी पुरुष उस आनन्दस्वरूप से एकीभूत हो जाते हैं तब वे निर्मय हो जाते हैं। वह ऐसा आनन्द है जो रादा एक बना में रहता है। वह निराकार है, पाणी में नहीं आता, और अनाश्रय है। जो कोई जीवात्मा को आत्मा से किञ्चित् भिन्न भी भिन्न जानता है उसे सदा भय होता है और ब्रह्म उस के लिए भय का कारण बन जाता है। जब भगवद्भाव और दासभाव बीच में आते हैं तो उस के लिए भय का कारण बन जाते हैं। इसी के अनुसार एक अन्य वेदमूल भी है—[१]

अष्टमांशुवाकः

‘भीषाऽस्माद् घातः पवते, भीषोदेति सूर्यः,

भीषाऽस्मादग्निश्च, चेन्द्रश् च, मृत्युर् घावति पञ्चमः’

इति ।

संपानन्दस्य भीमाशंसा भवति—युवा स्यात्, साधुयुवा,

ऽध्यायक, आशिष्ठो, दृढिष्ठो, बलिष्ठस्, तस्येय पृथिवी सर्वा  
वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्द । ते ये शत  
मानुषा आनन्दाः, ॥ १ ॥

अनु०—इस के भय से वायु चलता है, [इसी के] भय से सूर्य उदित  
होता है, इसी के भय से अग्नि, इन्द्र, और पाँचवाँ भूत्यु दौड़ता है । अब  
यह आनन्द की मोमासा है—युवा हो, साधु युवा, सुपठित, अत्यन्त  
आशावान्, अत्यन्त दृढ़, अत्यन्त बलिष्ठ, अब यह धन-धान्य से पूर्ण सम्पूर्ण  
पृथ्वी भी उस की हो । [उस का जो आनन्द है] वह एक मानुष आनन्द  
है । ऐसे जो सौ मानुष आनन्द है, (१)

वि० अ०—ब्रह्म के भय से ही वायु चलता है, ब्रह्म के भय से ही सूर्य उदित  
होता है, ब्रह्म के भय से ही अग्नि और देवराज इन्द्र और भूत्यु अपने अपने कार्य  
करते हैं ।

उस आनन्द का वर्णन इस प्रकार है कि जो कोई पुत्र और सुन्दर होता है  
वेदाध्यायी होता है, स्वस्वचित्त होता है, बलिष्ठ होता है, वह समग्र भूमि का स्वामी  
होता है और घनाढ्य होता है । मनुष्य के लिए इस से बढ़ कर कोई आनन्द नहीं ।  
परि सौ आनन्द एक जगह जमा करें [१]

—स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्द, श्रोत्रियस्य  
चाकामहतस्य । ते ये शत मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दा स एको  
देवगन्धर्वाणामानन्द, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत  
देवगन्धर्वाणामानन्द स एक पितृणा चिरलोकलोकानामानन्द,  
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत पितृणा चिरलोकलोका-  
नामानन्दा ॥ एक आजानजाना देवानामानन्द, ॥ २ ॥

अनु०—वही मनुष्य-गन्धर्वों का एक आनन्द है, और कामनाओं से  
अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी । वे जो मनुष्य-गन्धर्वों के सौ आनन्द हैं वही  
देव-गन्धर्वों का एक आनन्द है और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का  
भी । वे जो देव-गन्धर्वों के सौ आनन्द हैं वही निरत्यलोक में रहने वाले  
पितृगण का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी ।

वे जो चिरलोक-निवासी पितृगण के सौ आनन्द हैं वही आजानज देवताओं का एक आनन्द है, (२)

सि० अ०—तो वे उम पुत्र के एक आनन्द के बराबर होते हैं जो पुण्यकर्म द्वारा मृत्यु के अनन्तर गान का देवता गन्धर्व बन गया हो। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि उस पुत्र के सौ आनन्द, जिस ने पुण्यकर्म द्वारा गन्धर्व का पद प्राप्त किया है, एक स्थान पर जमा करें, तो वे गन्धर्व के एक आनन्द के बराबर होते हैं, जो गन्धर्व के स्वरूप में निहित हैं। उम वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि गन्धर्व के सौ आनन्दों को जो गन्धर्व के स्वरूप में निहित होते हैं एक स्थान पर जमा करें तो वे उम पुत्र के एक आनन्द के बराबर होते हैं जो चरलोक में निवास करता है और वही चिर काल तक रहता है। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि उस पुत्र के सौ आनन्द जो चरलोकस्थ हैं, एक स्थान पर जमा करें, तो वे उम पुत्र के एक आनन्द के बराबर होते हैं जिस ने पुण्य कर्म द्वारा देवलोक को प्राप्त किया है और जिसे आजानजदेव कहते हैं। [२]

—श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः—ये कर्मणा देवानपि यन्ति—, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः, ॥ ३ ॥

अनु०—और वह कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। वे जो आजानज देवताओं के सौ आनन्द हैं वही कर्मदेव देवताओं का, जो [अग्निहोत्रादि] कर्म कर के देवलोक को जाते हैं, एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। वे जो कर्मदेव देवताओं के सौ आनन्द हैं वही देवताओं का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त

१ 'मात्रानज' वे देवता हैं जिन्हें जन्म से ही देवत्व प्राप्त है।

२ 'कर्म-देव' यर्थात् कर्म से देवत्व प्राप्त करने वाले देवता।

श्रोत्रिय का भी । वे जो देवताओं के सौ आनन्द हैं वही इन्द्र का एक आनन्द है, (३)

सि० ख०—उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है । यदि कर्मदेव के सौ आनन्द एक जगह जमा करें तो वे सप्त देवताओं के एक आनन्द के बराबर होते हैं जो अपने स्वरूप से देवता बन गये हैं । उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है । यदि उन देवताओं के सौ आनन्द एक जगह जमा दिये जायें जो अपने स्वरूप से देवता बन गये हैं तो वे देवराज इन्द्र के एक आनन्द के बराबर होते हैं । [ ३ ]

—श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ४ ॥

अनु०—तथा कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी । इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं वही बृहस्पति का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी । बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापति का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी । प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्मा का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी । (४)<sup>१</sup>

सि० अ०—उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है । यदि इन्द्र के सौ आनन्दों को एक जगह जमा करें तो वे सदगुण बृहस्पति के एक आनन्द के बराबर होते हैं । उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है । यदि बृहस्पति के सौ आनन्दों को एक जगह जमा करें, तो वे प्रजापति के एक आनन्द के बराबर होते हैं । उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है । यदि

१ तुलसीय—बृहदारण्यकोपनिषद् ४.२.२३. सोर्वा के कविक उत्कर्वावकं ॥  
सिए बृहदारण्यकोपनिषद् ३.६.१ और लोपोतकित्वाहणोपनिषद् १.३ भी द्रष्टव्य है ।

प्रजापति के सो आनन्दो को एक जगह जमा करें तो वे हिरण्यगर्भ के एक आनन्द के बराबर होते हैं। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। [४]

—स यश् चाय पुरुषे यश् चासावादित्ये स एकः । स य एवविदस्मान् लोकात् प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसक्तमति, एत प्राणमयमात्मानमुपसक्तमति, एत मनोमयमात्मानमुपसक्तमति, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसक्तमति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्तमति । तदप्येव श्लोको भवति—॥ ५ ॥

अनु०—वह यह जो इस [पञ्चकोशात्मक] पुरुष में है और जो यह आदित्य में है, एक है। वह जो इस प्रकार जानने वाला है, इस लोक से निवृत्त हो कर इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस मनोमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। उसी के विषय में यह श्लोक है—(५)

सि० अ०—ब्रह्म या आनन्द जो आनन्दमय है, पुरुष का आनन्द जो हृदय में है, पुरुष का आनन्द जो सूर्य में है,—ये सभी आनन्द एक आनन्द हैं। जो कोई इस आनन्द को इस प्रकार जानता है वह ससार के बन्धन से मुक्त होकर अपने अन्नमय कोश सहित जो साक्षात् शरीर है सभी ससार को एक जानता है, अपने प्राणमय कोश सहित जो साक्षात् प्राण ही है सभी ससार को एक जानता है, अपने मनोमय कोश सहित जो साक्षात् मन ही है समस्त ससार को एक जानता है, अपने विज्ञानमय कोश सहित जो साक्षात् विज्ञान ही है और वेदानुसारी है समस्त ससार को एक जानता है, अपने आनन्दमय कोश सहित जो साक्षात् आनन्द ही है समस्त ससार को एक जानता है, और जो सत्ता आनन्दस्वरूप है उसे एकीभूत कर के निर्भय हो जाता है। इसी के अनुसार एक अन्य वेदमंत्र में भी उल्लिखित है—[५]

नवमोऽनुवाक

‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन’ इति ।

एतथं ह वाव न तपति—किमहं साधु नाकरवम् ?  
किमह पापमकरवम् ? इति । स य एव विद्वानेते आत्मानं  
स्पृणुते, उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते य एव वेद ।  
इत्युपनिषत् ॥ १ ॥

अनु०—जहाँ से, न पा कर, मन सहित बाणी लौट आती है उस ब्रह्म  
के आनन्द को जानने वाला किसी से भी भयभीत नहीं होता । उस  
[विद्वान्] को यह विचार सताए नहीं देता—मैं ने शुभ क्यों नहीं किया ?  
पापकर्म क्यों कर डाला ? जो ऐसा जानता है वह अपने को इन  
दोनों चिन्ताओं से मुक्त कर लेता है, निश्चय इन दोनों चिन्ताओं से अपने  
को मुक्त कर लेता जो ऐसा जानता है । ऐसी यह उपनिषद्  
(रहस्यविद्या) है ! (१)

सि० अ०—जो कोई ब्रह्म ने विशुद्ध आनन्द को जान लेता है, जिस तक बाणी  
नहीं पहुँच सकती और मन नहीं पहुँच सकता, वह किसी से नहीं डरता, निर्भय हो  
जाता है । पुण्य कर्म की इच्छा और पाप कर्म से भय उस ज्ञानी को नष्ट नहीं देते,  
क्योंकि ज्ञानी और ब्रह्मवेत्ता पुण्य और पाप दोनों को आत्मा जानते हैं । जो कोई ऐसा  
जानता है, वह पुण्य और पाप से [मुक्त हो कर] आत्मा हो जाता है । यह उपनिषद्  
का वचन है, अर्थात् शोपनीय रहस्य है । [१]

॥ इति ब्रह्मानन्दवत्त्वो ॥



## भृगुवल्ली

प्रथमोऽनुवाकः

भृगुर् वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार—‘अधीहि भगवो ब्रह्म’ इति । तस्मा एतत् प्रोवाच—‘अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो, वाचम्’ इति । तथं होवाच—‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म’ इति । स तपोऽप्यत । स तपस् तप्त्वा—॥ १ ॥

अनु०—वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया [और बोला—] ‘भगवन् ! मुझे ब्रह्म का ज्ञान दीजिए ।’ उस से [वरुण ने] यह कहा—‘अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, और वाक् ।’ फिर उस से कहा—‘जिस से निष्पन्न ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर जिरा से जीवित रहते हैं, विनाशोन्मुख हो कर जिस में ये लीन होते हैं, उसे विशेषरूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है ।’ तब उस (भृगु), ने तप किया और उस ने तप कर के—(१)

सि० अ०—वरुण का पुत्र पिता के पास गया और बोला—‘भगवन् ! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए ।’ पिता ने उस से कहा कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी—ये छह वस्तुएँ ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं । इस के परचात् उन्हो ने कहा कि जिस से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिस से जीवित रहते हैं, और जिस से लीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है । उसी की विज्ञासा कर और तप कर, क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति का साधन तप ही है । भृगु ने तप किया और इन्द्रिय-निग्रह किया । [१]

द्वितीयोऽनुवाकः

—अन्नं ब्रह्मेति ध्यजानात् । अन्नाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार—‘अधीहि भगवो ब्रह्म’ इति । तथं होवाच—‘तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म’ इति । स तपोऽप्यत । स तपस् तप्त्वा—॥ १ ॥

अनु०—अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर अन्न से ही जीवित रहते हैं, प्रमाण करते समय अन्न में ही लीन होते हैं। ऐसा जान कर वह फिर [अपने] पिता वरुण के पास आया [और कहा—] ‘भगवन्’ मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।’ [वरुण ने] उस से कहा—‘ब्रह्म को तप के द्वारा जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है।’ उस ने तप किया और उस ने तप कर के—(१)

नि० अ०—जाना कि अन्न ही ब्रह्म है। उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी में जीवित रहते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। यह जान कर [भृगु ने] मन में सोचा कि अन्न उत्पन्न [वस्तु] है, और कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह वैसे ब्रह्म हो सकती है? [वह] पुन पिता के पास आया और बोला कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। पिता बोले कि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। तप कर, क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति का साधन तप है। भृगु ने पुन तप आरम्भ किया। [१]

### तृतीयोजुषाक

—प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणादथेव सत्त्वित्मानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राण प्रयन्त्यभिसविशन्तीति। तद् विज्ञाय पुनरेव वरुण पितरमुपससार—‘अधीहि भगवो ब्रह्म’ इति। तर्ध होयाच—‘तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म’ इति। स तपोऽनप्यत। स तपस् तप्त्वा—॥ १ ॥

अनु०—प्राण ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय प्राण से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर प्राण से ही जीवित रहते हैं, और मरणोन्मुख होने पर प्राण में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जान कर वह फिर [अपने] पिता वरुण के पास आया [और बोला—] ‘भगवन्’ मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।’ उस से [वरुण ने] कहा—‘तू तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है।’ तब उस ने तप किया और उस ने तप कर के—(१)

नि० अ०—[उस ने] जाना कि यही प्राण ब्रह्म है। उसी से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी में जीवित रहते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं। यह जान कर

[उम ने] मा म सोचा कि प्राण उ पन्न [वस्तु] है और नि जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म कैसा हो सकती है ? [वह] पुन पिता के पास आया और बोला कि भगवन ! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए । पिता बोले कि ब्रह्म प्राप्ति का साधन तप है । तप कर, क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति का साधन तप है । शृंगु ने पुन तप आरम्भ किया । [१]

#### चतुर्थोऽनुवाक

—मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि जीवन्ति, मन प्रयन्त्यभिसविशन्तीति । तद् विज्ञाय पुनरेव वरुण पितरमुपससार— 'अग्नीहि भगवो ब्रह्म' इति । तथ होवाच—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म, इति । स तपोऽनप्यत । स तपस् तप्त्वा—॥ १ ॥

अनु०—मन ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय मन से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर मन के द्वारा ही जीवित रहते हैं, और प्रमाण करते हुए मन म ही लीन हो जाते हैं । ऐसा जान कर वह फिर पिता वरुण के पास गया [और बोला—] भगवन ! मुझ ब्रह्म का उपदेश कीजिए ।' [वरुण ने] उस से कहा—तू तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है । तब उस ने तप किया और उस ने तप करके—(१)

ति० अ०—[उम ने] जाना कि यही मन ब्रह्म है । उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं उसी में जीवित रहने हैं और उसी में लीन हो जाते हैं । वह जान कर [उम ने] मा म सोचा कि मन उपन्न [वस्तु] है और जो कि वस्तु उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म कैसे हो सकती है ? [वह] पुन पिता के पास आया और बोला कि हे भगवन ! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए । पिता बोले कि ब्रह्म प्राप्ति का साधन तप है । तप कर क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति का साधन तप है । शृंगु ने पुन तप आरम्भ किया । [१]

#### पञ्चमोऽनुवाक

—विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्धनेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञान प्रयन्त्यभिसविशन्तीति । तद् विज्ञाय पुनरेव वरुण पितरमुपससार—अग्नीहि भगवो ब्रह्म इति । तथ होवाच—'तपसा

ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' इति । स तपोऽनप्यत । स तपस् तप्त्वा—॥ १ ॥

अनु०—विज्ञान ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय विज्ञान से ही ये सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर विज्ञान से ही जीवित रहते हैं, और मरणोन्मुख हो कर विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं । ऐसा जान कर वह फिर पिता वरुण के समीप आया [और बोला—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए ।' [वरुण ने] उस में कहा—'तू तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा कर । तप ही ब्रह्म है ।' तब उस ने तप किया और तप कर के—(१)

मि० अ०—[उस ने] जाना कि यही विज्ञान ब्रह्म है । उसी में समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं उसी से जीवित रहते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं । [उस ने] यह जान कर मन में सोचा कि विज्ञान उत्पन्न वस्तु है और कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म कैसे हो सकती है ? [वह] फिर पिता के पास आया और बोला कि हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए । पिता बोले कि ब्रह्म प्राप्ति का साधन तप है । तप कर, क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति का साधन तप है । भृगु ने पुनः तप आरम्भ किया । [२]

पठोजुषाक

—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्वधेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एव वेद, प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति, प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्षेण, महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अनु०—आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं, और प्रयाण करने समय आनन्द में ही समा जाते हैं । वह यह भृगु की [जानी हुई] और वरुण की [उपदेश की हुई] विद्या परमाकाश में

१ अनुवाक २-६ में प्रतिपादिता पञ्च-कोश—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय—का जोड़ अथर्ववेद १० २ २७ अ अन्न प्राण, मन, चित और देव-कोश के रूप में विद्यमान है । अथर्ववेद १० २ ३१-३२ में 'देव कोश की 'हिरण्य-कोश' कहा गया है ।

स्थित है। जो ऐसा जानता है वह [ब्रह्म में] स्थित होता है, वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है, प्रजा, पशु, और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है, कीर्ति के कारण भी महान्। (१)

सि० अ०—[उस ने] जाना कि केवल आनन्द ही ब्रह्म है। उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। यह जान कर और केवल आनन्द में लीन हो कर इस ब्रह्मविद्या को भृगु ने उच्चतर लोकों में प्राप्त किया। जो कोई इस ब्रह्मविद्या को उसी मार्ग से जानता है जिस से भृगु ने तप और इन्द्रिय-निग्रह कर के जाना था, वह वेत्तानन्द-स्वरूप ब्रह्म हो जाता है और उसे प्रभूत अन्न प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है, उसे सन्तान और हापी-घोड़े बहुत होते हैं, उस के मुख से ज्ञान का प्रकाश फूटता है, और महान् कीर्ति वाला होता है। [१]

सप्तमोऽनुवाकः

अन्नं न निन्द्यात् । तद् व्रतम् । प्राणो वा अन्नम्,  
शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्, शरीरे प्राणः  
प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने  
प्रतिष्ठितं वेद, प्रतिष्ठितं, अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति  
प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अनु०—अन्न की निन्दा न करे। यह व्रत है। प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है। प्राण में शरीर स्थित है और शरीर में प्राण स्थित है। इस प्रकार में अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नभोक्ता होता है, प्रजा, पशु, और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है, कीर्ति के कारण भी महान्। (१)

सि० अ०—जो कोई इस कार्य में लगे हुआ है उसे चाहिए कि अन्न की निन्दा कदापि न करे। चूँकि प्राण साक्षात् अन्न है, शरीर अन्न का गोवना है, शरीर प्राण से टिका हुआ है, और प्राण शरीर से टिका हुआ है अतएव दोनों एक दूसरे के अन्न हैं। जो कोई जानता है कि दोनों एक दूसरे से प्रतिष्ठित हैं वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है, उसे प्रभूत अन्न प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है, उसे सन्तान और हापी-घोड़े बहुत होते हैं, उसने मुख से ज्ञान का प्रकाश फूटता है और वह महान् कीर्ति वाला होता है। [१]

अष्टमोऽनुवाकः

अन्नं न परिचक्षीत । तद् व्रतम् । आपो वा अन्नम्,  
ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्, ज्योतिष्यापः  
प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमग्रे प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमग्रे  
प्रतिष्ठितं वेद, प्रतिष्ठितिः, अन्नवानन्नादो भवति; महान्  
भवति प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अनु०—अन्न का त्याग न करे । यह व्रत है । जल ही अन्न है,  
ज्योति अन्नाद है । जल में ज्योति प्रतिष्ठित है, ज्योति में जल प्रतिष्ठित  
है । इस प्रकार यह अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है । जो इस प्रकार अन्न  
को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और  
अन्नाद होता है, प्रजा, पशु, और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है, कीर्ति  
के कारण भी महान् । (१)

वि० अ०—जो कोई इस कार्य में लगा हुआ है उसे चाहिए कि अन्न को कदापि  
न लेंके । चूँकि जल साक्षात् अन्न है, अग्नि अन्न का स्रोत है, और मग्न जल में  
रहती है और जल अग्नि में, अतएव ये दोनों एक दूसरे के अन्न हैं । जो कोई जानता  
है कि दोनों एक दूसरे से प्रतिष्ठित हैं वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है, उसे प्रभूत अन्न  
प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है, उसे सन्तान और हाथी-घोड़े बहुत  
होते हैं, उस के मुख से ज्ञान का प्रकाश फूटता है, और वह महान् कीर्ति वाला होता  
है । [१]

नवमोऽनुवाकः

अन्नं बहु कुर्वीत । तद् व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम्,  
आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः, प्रतिष्ठितः, आकाशे पृथिवी  
प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमग्रे प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमग्रे  
प्रतिष्ठितं वेद, प्रतिष्ठितिः, अन्नवानन्नादो भवति, महान्  
भवति, प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अनु०—अन्न को बढ़ावे । यह व्रत है । पृथिवी ही अन्न है, आकाश  
अन्नाद है । पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित है और आकाश में पृथिवी  
प्रतिष्ठित है । इस प्रकार यह अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है । जो इस  
प्रकार अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान्

और अनाद होता है, प्रजा, पशु, और ब्रह्मदेव के वारण महान् होता है, कीर्ति के कारण भी महान् । (१)

सि० अ०—चाहिए कि अपने लिए प्रचुर अन्न प्राप्त करें। पृथिवी अन्न है, भूतनाश अन्न का भोक्ता है, और भूतनाश पृथ्वी के भीतर है और पृथ्वी भूतनाश के भीतर, अतएव ये दोनों एक दूसरे का अन्न हैं। जो कोई जानता है कि दोनों एक दूसरे से प्रतिष्ठित हैं, वह भी प्रतिष्ठित होता है, उसे प्रभूत अन्न प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है उसे सन्तान और हाथी घोड़े बहुत होते हैं, उस के मुख से ज्ञान का प्रवाह फूटता है, और वह महान् कीर्ति वाला हो जाता है । [१]

### दशमोऽनुवाक

न कञ्चन वसतो प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम् । तस्माद् यया कमा च विधया बह्वन्न प्राप्नुयात् । आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद् वै मुखतोऽन्नं राद्धम्, मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते । एतद् वै मध्यतोऽन्नं राद्धम्, मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते । एतद् वा अन्ततोऽन्नं राद्धम्, अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते ॥ १ ॥

अनु०—अपने यहाँ किसी अभ्यागत वा प्रत्याख्यान (निषेध) न करें। यह व्रत है। अतः किसी न-किसी प्रकार से बहुत सा अन्न प्राप्त करें। क्योंकि वह [अन्नोपासक उस अतिथि] से 'मैंने अन्न तैयार किया है' ऐसा कहता है। जो पुरुष मुखतः सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मुखतः ही अन्न की सिद्धि होती है। जो मध्यतः सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मध्यम वृत्ति से ही अन्न की सिद्धि होती है। जो अन्ततः सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निष्कण्ट वृत्ति से ही अन्न की सिद्धि होती है । (१)

सि० अ०—वह निषेध करता है कि जो कोई उस के घर आवेश नह उस से कहेगा, 'अन्न उपस्थित है, कि उसे मना नहीं करेगा कि उस का ध्यान रखेगा, और कि जैसे भी प्रचुर अन्न पहुँच सकता है पहुँचायेगा। जो कोई जिन रीति से किसी को अन्न पहुँचाता है वह आनन्दता पड़ने पर उसी रीति से अन्न प्राप्त करता है। यदि उस ने उत्तम रीति में दिया है तो उत्तम रीति से पायेगा और यदि मध्यम रीति से दान दिया है तो मध्यम रीति में पायेगा । [१]

य एव वेद । क्षेम इति वाचि, योगक्षेम इति प्राणापानयोः, कर्मेति हस्तयो, गतिरिति पादयोः, विमुक्तिरिति पायी—इति मानुषी. समाज्ञा । अथ दैवी—तृप्तिरिति वृष्टी, वलमिति विद्युति, ॥ २ ॥

अनु०—जो इस प्रकार जानता है । वाणी में क्षेम (प्राप्त वस्तु के परिरक्षण) रूप से, योगक्षेम रूप से प्राण और अपान में, बर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से चरणों में, त्यागरूप से पायु में—यह मानुषी उपासना है । अथ दैवी उपासना कही जाती है—तृप्तिरूप से वृष्टि में, बलरूप से विद्युत् में, (२)

• ति० अ०—जो शक्ति वाणी में है, जो शक्ति प्राण और अपान में है हाथ की एक और पाँव की गति में है, जो शक्ति पायु में है, चाहिए कि उसे भी ब्रह्म जानकर उपासना करे । यह उपासना अह्वारम है, अर्थात् शरीर में ध्यान । प्राणियों की सभी से जो सुख मिलता है चाहिए कि उसे भी ब्रह्म जान कर उपासना करें । विद्युत् में जो प्रकाश है, चाहिए कि उसे भी ब्रह्म जानकर उपासना करें । [२]

—यश इति पशुषु, ज्योतिरिति नक्षत्रेषु, प्रजातिर-मृतमानन्द इत्युपस्थे, सर्वमित्याकाशे । तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत, प्रतिष्ठावान् भवति । तन् मह इत्युपासात्, महान् भवति । तन् मन इत्युपासीत, मानवान् भवति ॥ ३ ॥

अनु०—यश के रूप में पशुओं में, ज्योति के रूप से नक्षत्रों में, पुतादि प्रजा, अमृतत्व, और आनन्दरूप से उपरत्व में, तथा सर्वरूप से आकाश में वह ब्रह्म सब की प्रतिष्ठा (आधार) है—इस भाव से उपासना करे । इस से [उपासक] प्रतिष्ठायान् होता है । वह मह [नामन व्याहृति अथवा तेज] है—इस भाव में उपासना करे । इस से [उपासक] महान् होता है । वह मन है—इस प्रकार उपासना करे । इस से [उपासक] मानवान् (मनन करने में समर्थ) होता है । (३)

ति० अ०—यश शब्द में जो यश है, नश्वरों में जो प्रकाश है, स्त्री के सयोग में जो आनन्द है, भोग्यवान् पुत्र की प्राप्ति में जो आनन्द है—जो पुत्र पिता की मृत्यु के परवान् पिता की कामना पूर्ण करता है—, और उम समय जो आनन्द प्राप्त होता है, मृतावाग जो सब की विपत्ति का आधार है [उस के द्वारा ब्रह्म की उपासना करे] ।



यदि [कोई] ब्रह्म को मंत्र की स्थिति का आधार जानकर उपासना करे तो वह सब की स्थिति का आधार हो जाता है, यदि ब्रह्म को महान् अनवर उपासना करे तो सब में महान् होता है, यदि ब्रह्म को मन अनवर उपासना करे तो ज्ञान-विज्ञान-भूवंश आत्मा की जानता है । [३]

तन् नम इत्युपासीत, नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मेत्युपासीत, ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मण, परिमर इत्युपासीत, पर्येण म्रियन्ते द्विपन्त. सपत्ना, परि येऽप्रिया भ्रातृव्या । स यश् चाय पुरुषे यश् चासावादित्ये स एकः ॥४॥

अनु०—वह नम है—इस भाव से उपासना करे । इस से काम्य पदार्थ उस के प्रति विनम्र हो जाते हैं । वह ब्रह्म है—इस प्रकार उपासना करे । इस से वह ब्रह्मनिष्ठ होता है । वह ब्रह्म का परिमर है—इस प्रकार उपासना करे । इस से उस से द्वेष करने वाले उस के प्रतिपक्षी मर जाते हैं, [तथा वे भी] जो अप्रिय भ्रातृव्य (भाई के पुत्र) होते हैं । वह जो इस पुरुष में है और वह जो इस आदित्य में है एक है । (४)

सि० अ०—जो कोई इसी ब्रह्म को नमस्कृत्य जानता है उस के प्रति सभी नमन करते हैं और कामनाएँ भी उस के प्रति नमन करती हैं । जो कोई इसी ब्रह्म को स्वामी जानकर नमन करता है वह भी सब का स्वामी हो जाता है । जो कोई इसी ब्रह्म को महावान् (परिमर) जानकर, जिस में विद्युत्, वर्षा, चन्द्र, सूर्य, और अग्नि लीन हो जाते हैं, उपासना करता है उस के समस्त भक्ति-भक्ति के शब्द वृत्तों को प्राप्त होते हैं । इस उपासना को लोक<sup>१</sup> कहते हैं, अर्थात् इन्द्रियों के देवताओं की उपासना । उस ब्रह्म को जिस के विषय में उल्लेख किया गया है कि सभी वस्तुओं को ब्रह्म जान कर उपासना करे—उस ब्रह्म की ओर मूर्ध्नि में जो प्रकाश है तथा हृदय में जो प्रकाश है उसे एक जाने । [४]

स य एवचित्, अस्माल् लोकान् प्रेत्य, एतमन्नमयमात्मान-  
मुपसङ्क्रम्य, एत प्राणमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एत मनोमयमात्मान-  
मुपसङ्क्रम्य, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एतमानन्दमय-  
मात्मानमुपसङ्क्रम्य इमाल् लोकान् कामाप्नो, कामरूप्यनुसञ्चरन्,  
एतत् साम गायत्रास्ते—हा ३ वु. हा ३ वु. हा ३ वु ॥ ५ ॥

अनु०—वह जो इस प्रकार जामनेवासा है इस लोक से निवृत्त हो, पर, इस अन्नमय आत्मा को सक्रान्त कर, इस प्राणमय आत्मा को सक्रान्त कर, इस मनोमय आत्मा को सक्रान्त कर, इस विज्ञानमय आत्मा को सक्रान्त कर, इस आनन्दमय आत्मा को सक्रान्त कर, इन लोको मे कामाग्नी (कामचारी) और कामरूपी हो कर विचरता हुआ यह सामगान करता है—हा ३ वु, हा ३ वु, हा ३ वु । (५)

सि० अ०—अन्नमय कोश को जो अन्न ही है समस्त जगत् के स्थूल शरीर के साथ, प्राणमय कोश को जो प्राण ही है समस्त जगत् के प्राण के साथ, मनोमय कोश को जो मन ही है समस्त जगत् के मन के साथ, वेदानुसारी विज्ञानमय कोश को जो विज्ञान ही है समस्त जगत् के विज्ञान के साथ, और अपने आनन्दमय कोश को जो आनन्द ही है समस्त जगत् के आनन्द के साथ एक जाने, समस्त लोकों को आत्मा जान कर और आत्मा हो कर जगत् मे रहे, और [वस<sup>१</sup>] सारे अन्न उस के अन्न हो जावेंगे और वह जो रूप चाहे धारण कर सकेगा । और वह इस मन्त्र को जो साक्षात् ब्रह्म है सदा ध्वनि-पूर्वक गाये—हा ३ वु, हा ३ वु, हा ३ वु । [५]<sup>१</sup>

अहमन्ममहमन्ममहमन्मम्, अहमन्नादो३, ऽहमन्नादो३, ऽहमन्नाद, अहर्धं श्लोककृदहर्धं श्लोककृदहर्धं श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य, पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ता३भासि । यो मा ददाति स इदेव मा३वा । अहमन्ममन्ममदन्तमा३सि । अह विश्व भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर् न ज्योती. य एव वेद । इत्युपनिषत् ॥ ६ ॥

अनु०—मैं अन्न (शोण्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ । मैं ऋत(सम्पत्कृष्टि)मे प्रथम जन्मधारी हूँ, देवताओं से पूर्व अमरत्व वा केन्द्रस्वरूप । जो [अन्नस्वरूप] मुझे [अन्नापियो को] देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है । [जो मुझ अन्नस्वरूप को दान न करता हुआ स्वयं भोगता है उस] अन्न भक्षण

१ 'सिरे अन्नवर' मे मात्र १ और ६ गिता दिये गये हैं । अनुवाद मे उन्हें पृथक् कर दिया गया है ।

करने वाले को मैं अग्ररूप से भक्षण करता हूँ ।<sup>१</sup> मैं इस सम्पूर्ण भुवन को अभिभूत करता हूँ । जो इस प्रकार जानता है उसे भूय के समान प्रवाश प्राप्त होता है । ऐसी यह उपनिषद् [ब्रह्मविद्या] है । (६)

सि० अ०—मैं अन्न, मैं अन्न, मैं अन्न, मैं अन्न का भोक्ता, मैं अन्न का भोक्ता, मैं अन्न का भोक्ता, मैं सर्वकर्ता, मैं सर्वकर्ता, मैं सर्वकर्ता, मैं समस्त साकार और निराकार मे प्रथम, मैं समस्त देवताओं मे प्रथम, मैं समस्त अमरताओं का मूल । मैं अन्न हूँ । जो कोई बहुत देता है उस ने मुझे उत्तम रीति से दिया, जो कोई मुझे न दे कर अकेले खाता है वह मुझे नहीं खाता, मैं उसे खाता हूँ । मैं समस्त जगत् हूँ, और जिस लोक मे सभी बसते हैं मैं उस का अभिभव करता हूँ । जो कोई मुझे इस प्रकार जानता है वह सूर्य के समान तेजस्वी और ज्योतिर्मय हो जाता है । यह गोपनीय रहस्य उपनिषद् है । [६]

॥ इति भृगुवत्सी ॥

शान्तिपाठ

ॐ श नो<sup>१</sup> मित्, श वर्हणुः, श नो<sup>१</sup> भवत्वयंमा,  
श नु इन्द्रो बृहस्पति, श नो विष्णुरुक्मः ।

नमो ब्रह्मणे । नमस् ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि ।  
त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि, ऋत वदिष्यामि, सत्य वदिष्यामि ।  
तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्ति. । शान्ति. !! शान्ति: !!!

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषत् समाप्ता ॥

<sup>१</sup> मुत्तनीय—ऋग्वेद १०.११७ ६, अथर्ववेद ३.२४ ५, शतपथब्राह्मण ११.५.६.२;  
मनुस्मृति ३ ८१, ११७-११८; मनुस्मृतिसिद्ध, पृ ५, गीता ३ १३; धीमन्मगवत  
७.१४.८ ।

# ऐतरेयोपनिषद्

(ऋग्वेदीयैतरेयारण्यक २४-६)

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् ।  
आविरावीर् म एधि । वेदस्य म आणीस्थ । श्रुत मे मा  
प्रहासी । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् सन्दधामि । ऋत वदिष्यामि,  
सत्य वदिष्यामि । तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु  
मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।।

अनु०—मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में स्थित हो । तुम  
मेरे समक्ष आविर्भूत होओ । तुम मेरे प्रति वेद को लाओ । मेरा ध्वज  
किया हुआ नष्ट न हो । अपने इस अध्ययन के द्वारा मैं रात और दिन  
को एक कर दूँ । मैं ऋत बोलूँगा, सत्य बोलूँगा । वह मेरी रक्षा करे,  
वह वक्ता की रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे ।

त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

## प्रथमोऽध्यायः

प्रथम खण्ड

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।<sup>१</sup> नान्यत् विश्वं  
मिपत् । स ईक्षत—लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

१ यह वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् १४१ में भी आता है ।

अनु०—पहले यह [जगत्] एक भाव आत्मा ही था, अन्य कुछ भी सक्रिय नहीं था। उस ने ईक्षण (विचार) किया—लोकों की रचना करें। (१)

मि० अ०—समस्त मृष्टि ने पूर्व आत्मा अर्चना था, अन्य कुछ नहीं था। आत्मा ने इच्छा की कि जगत् को करें। [१]

स इमांस् लोकानसृजत—अम्भो, मरीचीद्, मरमापः ।  
अदोऽम्भः, परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा; अन्तरिक्षं मरीचयः; पृथिवीं  
मरः; या अधस्तात् ता आपः ॥ २ ॥

अनु०—उस ने इन लोकों की रचना की—अम्भ, मरीचि, मर, और आप। 'अम्भ' वह है जो द्युलोक से परे है और द्युलोक जिस की प्रतिष्ठा (आधार) है, अन्तरिक्ष 'मरीचि' है; पृथिवी 'मर' है; और जो नीचे है वह 'आप' है। (२)

मि० अ०—[उस ने] इन समस्त लोकों को उत्पन्न किया। पहले उस ने चार सत्ताएँ रचीं—अम्भ, मरीचि, मर, और आप। अम्भ जल है, जिस का आधार-स्थान द्युलोक के परे है; मरीचि अन्तरिक्ष-लोक है, जो द्युलोक के नीचे है, मर पृथ्वी-लोक है, जहाँ प्राणी मरते हैं, आप जल है, जो पृथ्वी-लोक के समस्त तलों के नीचे रहता है। [२]

स ईक्षत—इमे नु लोका, लोकपालान्नु सृजा इति ।  
सोऽद्भ्य एव पुरुष समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥ ३ ॥

उस ने ईक्षण (विचार) किया—ये तो लोक हुए, अब लोकपालों की रचना करें। उस ने जल ही से पुरुष निकाल कर अवयवयुक्त किया। (३)

मि० अ०—पुन उस ब्रह्म ने इच्छा की कि इन जगत् की तो मैं मृष्टि कर चुका, अब इन के पालन की भी मृष्टि करें, ताकि पालकों के अभाव में जगत् विचार न जाए। अतएव उस ने इच्छा की कि लोकपालों की मृष्टि करें जो जगत् के पालक हैं। [उस ने] जल में स एव अवयवयुक्त विषाद् पुरुष निकाला। [३]

तमभ्यतपत् । तस्याभितप्तस्य मुख निरभिद्यत यथाऽण्डं,  
मुखाद् वाग्, वाचोऽग्निः ; नासिके निरभिद्येता, नासिकाभ्या प्राणः,  
प्राणाद् वायुः, अक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्या चक्षुश्, चक्षुप

आदित्य , कर्णौ निरभिद्येता, कर्णाभ्या श्रोत्र, श्रोत्राद् दिश ,  
त्वच् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतय ,  
हृदय निरभिद्यत, हृदयान् मनो, मनसश् चन्द्रमा, नाभिर्  
निरभिद्यत, नाभ्या अपानो, ऽपानान् मृत्यु , शिरश्च निरभिद्यत,  
शिरश्चाद् रेतो, रेतस आप ॥ ४ ॥

अनु०—उस [विराट् पुरुष] के प्रति उस ने तप किया । उस  
तप [पिण्ड] से अण्डे के समान मुख निकला, मुख से वाक और वाक्  
से अग्नि, नासिकारन्ध्र निकले नासिकारन्ध्रो से प्राण, और प्राण से वायु;  
नेत्र निकले नेत्रो से चक्षु (चक्षुरिन्द्रिय) और चक्षु से आदित्य, कान  
निकले, कानों से श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्र से दिशाएँ तत्त्वा निकली, त्वचा  
से लोम और लोमों से ओषधि वनस्पतिआ, हृदय निकला, हृदय से मन,  
और मन से चन्द्रमा नाभि निकली, नाभि से अपान, और अपान से  
मृत्यु, शिरन निकला शिरन से वीर्य और वीर्य से आप । (४)

सि० अ०—उस के लिए ब्रह्म ने इच्छा की कि मुख उत्पन्न हो । दूढ़ जाने  
योग्य अण्ड के समान मुख निकला । उस मुख से वाणी प्राप्त हुई और वाणी से वाणी  
का देवता अग्नि प्रकट हुआ । उस छिद्र के अनन्तर नासिका के दो छिद्र प्रकट हुए ।  
नासिका से श्वास प्रश्वास प्रकट हुआ और श्वास प्रश्वास से श्वास प्रश्वास का देवता  
वायु प्रकट हुआ । उस छिद्र के अनन्तर दो नेत्र प्रकट हुए चक्षुरिन्द्रिय प्रकट हुई  
और चक्षु से चक्षु का देवता सूर्य प्रकट हुआ । उस छिद्र के अनन्तर दो श्रोत्र  
प्रकट हुए श्रोत्र से श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुई और श्रोत्रेन्द्रिय से श्रोत्रेन्द्रिय की देवता  
दिशाएँ प्रकट हुई । उस के अनन्तर उस की त्वचा से स्पर्शेन्द्रिय प्रकट हुई शरीर के  
लोम उत्पन्न हुए और उस से ओषधि वनस्पतिआ प्रकट हुई । उस के अनन्तर हृदय  
प्रकट हुआ । उस के पश्चात् हृदय में मन प्रकट हुआ और मन से उस का देवता  
चन्द्रमा प्रकट हुआ । उस के अनन्तर नाभि प्रकट हुई जिस के चारों ओर प्राण और  
अपान परस्पर आबद्ध हैं । उस के अनन्तर मतमूर्तोत्पत्ति के दो अवयव प्रकट हुए उस  
के अनन्तर प्रजननेन्द्रिय प्रकट हुई और उस से वीर्य प्रकट हुआ और उस वीर्य से उस  
का देवता जस प्रकट हुआ । [४]

## द्वितीय खण्ड

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन् ।  
तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमद्बुवन्नायतन न-  
प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

अनु०—वे ये [इस प्रकार] रवे हुए देवगण इस महासमुद्र में पड़ गये । उस [पिण्ड] को [परमात्मा ने] क्षुधा-पिपासा से संयुक्त कर दिया । [तब] उन [इन्द्रियाभिमानी] देवताओं ने उस से कहा—हमारे लिए कोई आश्रयस्थान वतसाइए, जिस में स्थित हो कर हम अन्न भक्षण कर सकें । (१)

सि० अ०—यही देवता जो उत्पन्न हुए, लोका के पान्त है, लोको की उत्पत्ति से भवसागर के बंधन में पड़ गये क्षुधा और पिपासा के बशीभूत हो गये, और आत्मा से बोले कि हमारे लिए स्थान वतलाओ जहाँ रहकर हम अन्न अन्न ग्रहण करें । [१]

ताभ्यो गामानयत् । ता अब्रुवन्—न वै नोऽयमलमिति ।  
ताभ्योऽश्रमानयत् । ता असृवन्—न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

अनु०—उन देवताओं के लिए गाय ले आया । वे बोले—‘बिल्कुल नहीं, यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है’ । [फिर वह] उन के लिए घोड़ा ले आया । वे बोले—‘बिल्कुल नहीं, यह [भी] हमारे लिए पर्याप्त नहीं’ । (२)

सि० अ०—[उस ने] गाय की आहुति प्रस्तुत की, जिस में प्रवेश कर [य देवता] अन्न अन्न ग्रहण करें । देवता बोले कि यह हमारे योग्य नहीं है । [उस ने] घोड़े की आहुति प्रस्तुत की, जिस में प्रवेश कर [वे देवता] अन्न-अन्न ग्रहण करें । देवता बोले कि यह भी हमारे योग्य नहीं है । [२]

ताभ्य पुरुषमानयत् । ता अब्रुवन्—सुकृतं घतेति । पुरुषो  
वाव सुकृतम् । ता अब्रुवन्—यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

अनु०—[तब वह] उन के लिए पुरुष ले आया । वे बोले—‘यह सुन्दर बना है निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है’ । [उस ने] उन से कहा—‘अपने-अपने आयतन (आश्रयस्थान) में प्रवेश कर जाओ’ । (३)

सि० अ०—उस के परमात् [उस ने] मनुष्य की वाक्य प्रस्तुत की, जिस शरीर में प्रवेश कर [वे] अन्न-जल ग्रहण करें। देवता बोले कि हम उत्तम आश्रय पा गये, क्योंकि शुभ कर्मों का कर्ता इसी के सदा होता है। उस के अनन्तर आत्मा ने देवताओं से कहा कि अपने-अपने आयतन में प्रवेश कर जाओ। [३]

अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश् चक्षुर् भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कणौ प्राविशप्रोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशश्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा श्लिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

अनु०—अग्नि वाणी हो कर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण हो कर नासिका-रन्ध्रों में प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षुरिन्द्रिय हो कर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ श्रवणेन्द्रिय हो कर कानों में प्रविष्ट हुईं, ओषधि और वनस्पति लोम हो कर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन हो कर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान हो कर नाभि में प्रविष्ट हुईं, जल वीर्य हो कर श्लिश्न में प्रविष्ट हुआ। (४)

सि० अ०—अग्नि देवता वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु देवता प्राण बन कर नासिका में प्रविष्ट हुआ, सूर्य देवता चक्षुरिन्द्रिय बन कर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ, दिग्देवता श्रवणेन्द्रिय बन कर श्रोत्र में प्रविष्ट हुआ, ओषधि-वनस्पति का देवता लोम बन कर त्वचा में प्रविष्ट हुआ, चन्द्र देवता मन बन कर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु का देवता अपान बन कर नाभि में प्रविष्ट हुआ, और जल का देवता वीर्य बन कर श्लिश्न में प्रविष्ट हुआ। [४]

तमशनायापिपासे अन्नूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अन्नवीदेतास्वेव वा देवतास्वाभजाभ्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद् यस्य कस्यै च देवतायै हविर् गृह्यते भागिन्यावेवास्या-मशनायापिपासे भवत ॥ ५ ॥

अनु०—उस (परमात्मा) से दुग्धा-पिपासा ने कहा—‘हमारे लिए आश्रय बतलाइए’। [तब उस ने] उन से कहा—‘तुम दोनों को मैं इन्हीं देवताओं में भागी करूँगा’। अतः जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है उस में ये दुग्धा-पिपासा भी भागी होती ही है। (५)



सि० अ०—अब वे देवता अपने-अपने आयतनों में प्रविष्ट हो गये, तब क्षुधा और पिपासा ने आत्मा से कहा कि हमारे खाने की भी व्यवस्था करो। आत्मा बोला कि तुम्हें इन्हीं देवताओं से मागी करता हूँ और किंतु मैं अपना भाग इन्हीं समय में प्राप्त करूँ। जो कोई देवताओं को हवि देता है, क्षुधा और पिपासा उन में मागी बन कर अपना भाग प्राप्त करती हैं। इस का कारण यह है कि क्षुधा और पिपासा के बिना देवता हवि स्वीकार नहीं करते। [१]

॥ इति प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥

तृतीयः खण्डः

स ईक्षत—इमे नु लोकाश् च लोकपालाश् च, अन्नमेभ्यः  
सृजा इति ॥ १ ॥

अनु०—उस परमात्मा ने ईक्षण किया—ये लोक और लोकपाल तो हो गये, [अब] इन के लिए अन्न रचूँ। (१)

सि० अ०—स्रष्टा ने सोचा कि मैं ने सोव-सोकान्तर और लोकपाल तो उत्पन्न कर लिये और उन्हें क्षुधा और पिपासा भी दे दी, [अब] इन के भोजन के लिए भी कुछ उत्पन्न करना चाहिए। [१]

सौज्योऽभ्यतपत् । ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत ।  
या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

अनु०—उस ने आपो (जलो) के प्रति तप किया। उन अभितप्त आपो से एक मूर्ति उत्पन्न हुई। यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वही अन्न है। (२)

सि० अ०—[उस ने] जल की चिन्ता की और उस जल से एक मूर्ति उत्पन्न की जो भस्कर थी और चर थी। और जो मूर्ति उत्पन्न हुई वही अन्न हुई। [२]

तदेतत् सृष्टं परादित्यजिघासत् । तद् वाचाऽजिघृक्षत् । तन्  
ना शक्नोद् वाचा ग्रहीतुम् । यद् धैनद् वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य  
हैवाक्षमतप्स्यत् ॥ ३ ॥

अनु०—[लोकपालों के आहारार्थ] रचे गये उस इस अन्न ने [उन की ओर से] मुँह फेर कर मागना चाहा। तब उस (आदिपुरुष) ने उसे वाणी द्वारा ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह उसे वाणी से ग्रहण न

कर सका । यदि वह इसे वाणी से ग्रहण कर लेता तो मनुष्य अन्न को बोल कर ही तृप्त हो जाया करता । (३)

सि० अ०—अन्न ने जब जाना कि मैं सब का भण्य हूँ तो वह भागा । उस पुरुष ने जिस में ईन्द्रियाँ हैं, देवता प्रविष्ट हुए में चाहा कि अन्न को वागिन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे [किन्तु] नहीं कर सका । यदि उस ने अन्न वागिन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लिया होता तो अन्न का नाम ने कर ही बरखा तृप्त हो जाया करता । अन्न विदित हुआ कि वागिन्द्रिय द्वारा अन्न नहीं ग्रहण किया जा सकता । [३]

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् । तन् नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम् ।  
स यद् धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राप्य हैवाश्रमन्नप्स्यत् ॥ ४ ॥

अनु०—[फिर] उस ने इसे प्राण से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] इसे प्राण से ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे प्राण से ग्रहण कर लेता तो मनुष्य अन्न के प्रति प्राणक्रिया करके ही तृप्त हो जाता । (४)

[उस ने] चाहा कि अन्न घ्राणिन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे नहीं कर सका । यदि अन्न घ्राणिन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लेता तो अन्न की गंध में ही प्राप्ता तृप्त हो जाया करता । [४]

तच्च चक्षुषाजिघृक्षत् । तन् नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम् ।  
स यद् धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवाश्रमन्नप्स्यत् ॥ ५ ॥

अनु०—उस ने इसे नेत्र से ग्रहण करना चाहा, [परन्तु] नेत्र से ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे नेत्र से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाया करता । (५)

सि० अ०—चाहा कि अन्न चक्षुर्निन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे नहीं कर सका । यदि अन्न चक्षुर्निन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लेता तो अन्न के वर्ण में प्राप्ता तृप्त हो जाया करता । [५]

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् । तन् नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम् । स  
यद् धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवाश्रमन्नप्स्यत् ॥ ६ ॥

अनु०—उस ने इसे श्रोत्र से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह श्रोत्र से ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे श्रोत्र से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न को सुनकर ही तृप्त हो जाता । (६)

सि० अ०—चाहा कि अन श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे न कर सवा । यदि अन श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लेता, तो श्रोत्र अन शब्द के श्रवण मात्र से तृप्त हो जाया करता । [६]

तत् त्वचाऽजिघृक्षत् । तन् नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुम् । स यद् धेनत् त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्तप्यत् ॥ ७ ॥

अनु०—उस ने इसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह त्वचा से ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे त्वचा से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न को स्पर्श कर के तृप्त हो जाया करता । (७)

सि० अ०—चाहा कि अन स्पर्शेन्द्रिय से ग्रहण करे न कर सवा । यदि अन्न स्पर्शेन्द्रिय से ग्रहण कर लेता तो स्पर्श अन के स्पर्श मात्र से तृप्त हो जाया करता । [७]

तन् मनसाऽजिघृक्षत् । नाशक्नोन् मनसा ग्रहीतुम् । स यद् धेनन् मनसाऽग्रहैष्यद्, ध्यात्वा हैवान्नमत्तप्यत् ॥ ८ ॥

अनु०—उस ने इसे मन से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह मन से ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे मन से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न का ध्यान कर के ही तृप्त हो जाया करता । (८)

सि० अ०—चाहा कि अन मन में ध्यान द्वारा ग्रहण करे न कर सका । यदि अन मन में ध्यान द्वारा ग्रहण कर लेता तो ध्याता अन के ध्यान से ही तृप्त हो जाया करता । [८]

तत् छिश्नेनाजिघृक्षत् । तन् नाशक्नोच् छिश्नेन ग्रहीतुम् । स यद् धेनच्च छिश्नेनाग्रहैष्यद्, विसृज्य हैवान्नमत्तप्यत् ॥ ९ ॥

अनु०—उस ने इसे शिश्न से ग्रहण करना चाहा, [परन्तु] वह शिश्न से ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे शिश्न से ग्रहण कर लेता तो मनुष्य अन्न का विसर्जन कर के ही तृप्त हो जाता । (९)

सि० अ०—चाहा कि अन्न प्रजननेन्द्रिय से ग्रहण करे न कर सका । यदि अन्न प्रजननेन्द्रिय से ग्रहण कर लेता तो [स्त्री से] समागम करने वाला समागम प्राप्त कर के ही [अन्न से] तृप्त हो जाता । [९]

तदपानेनाजिघृक्षत् । तदावयत् । सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद् वायु । अन्नायुर् वा एष यद् वायु ॥ १० ॥

अनु०—[फिर] उस ने इसे अपान से ग्रहण करना चाहा । [और] इसे ग्रहण कर लिया । वह यह अग्न का ग्रह (ग्रहण करनेवाला) है जो वायु है । [जो] अग्नायु (अन्न द्वारा जीवन धारण करने वाला) [प्रसिद्ध] है वह यह वायु ही है । (१०)

नि० अ०—चाहा कि अन्न को अपानवायु द्वारा ग्रहण करे जो प्राण इन घर मुख में रहता है । [तब उस ने] ग्रहण कर लिया और खाया । अन्न का ग्रहीता और भोजी यही अपानवायु है, और अपानवायु का जीवन यही अन्न है । [१०]

स ईक्षत—कथं न्विद भदुते स्यादिति ? स ईक्षत—कतरेण प्रपद्या इति ? स ईक्षत—यदि वाचाऽभिव्याहृत, यदि प्राणेनाभि-प्राणित, यदि चक्षुषा दृष्टं, यदि श्रोत्रेण श्रुतं, यदि त्वचा स्पृष्टं, यदि मनसा ध्यातं, यद्यपानेनाभ्यपानित, यदि शिषेण विसृष्टमथ कोऽहमिति ? ॥ ११ ॥

अनु०—उस ने ईक्षण किया—‘यह [पिण्ड] मेरे बिना कैसे रहेगा ?’ यह सोचने लगा—‘मैं किस मार्ग से [इस में] प्रवेश करूँ ?’ उस ने विचारा, ‘यदि [मेरे बिना] वाणी से बोल लिया जाय, यदि प्राण से प्राणन-क्रिया कर ली जाय, यदि चक्षु से देख लिया जाय, यदि त्वन से सुन लिया जाय, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया जाय, यदि मन से चिन्तन कर लिया जाय, यदि अपान से अपान-क्रिया कर ली जाय, [और] यदि शिषेण से विसर्जन कर लिया जाय, तो मैं जीन रहा ?’ (११)

नि० अ०—इस ने पुनः सोचा कि वह सब तो मैं ने उत्तर कर दिया, किन्तु मेरे बिना इन सब का व्यवहार कैसे बनेगा । मैं किस मार्ग से शरीर में प्रवेश करूँ ? सोचा कि मेरे लिए कोई विशिष्ट मार्ग होना चाहिए । वाचिन्द्रिय अपना कार्य मुख-मार्ग से करती है, प्राणैन्द्रिय अपना कार्य नाभिमार्ग-मार्ग से करती है, चक्षुरिन्द्रिय अपना कार्य नेत्र-मार्ग से करती है, श्रोत्रेन्द्रिय अपना कार्य श्रोत्र-मार्ग से करती है, त्वचैन्द्रिय अपना कार्य त्वचा-मार्ग से करती है, मन अपना कार्य विचार-मार्ग से करती है, अपानवायु अपना कार्य एव विशेष मार्ग से करता है, अवयव-वर्गों का अपना कार्य अपने मार्ग से करता है । इन के बीच क्या क्या कार्य हैं ? ये कार्य तो इन के हैं जिन का उल्लेख हुआ है । [११]

स एतमेव सीमान विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत । संप  
विदृतिर् नाम द्वास्, तदेतन् नान्दनम् । तस्य तय आवसथास्,  
त्रय स्वप्ना—अयमावसथो, ज्यमावसथो, ज्यमावसथ इति ॥ १२ ॥

अनु०—वह इस सीमा (मूर्दा) को ही विदीर्ण कर इसी के द्वारा  
प्रवेश कर गया । वह यह द्वार 'विदृति' नामवाला है, यह नान्दन  
(आनन्द) है । इस के तीन आवसथ (वासस्थान) और तीन स्वप्न  
हैं—यह आवसथ [नेत्र], यह आवसथ [कण्ठ], यह आवसथ  
[हृदय]<sup>३</sup> ॥ (१२)

सि० अ०—एव आत्मा ने [वेशविद्यासन] माँग का जो मूर्दा भाग पर होती है और  
तिर के बाला को दो भागों में विभक्त करती है वेश कर मस्तक के मूल द्वार से शरीर में  
प्रवेश किया । इसी कारण इस द्वार ने विदृति नाम पाया अर्थात् विदीर्ण किया हुआ ।  
इस द्वार को आनन्दस्थान भी कहते हैं अर्थात् आनन्द भाग । अय द्वार इन्द्रिया के प्रवेश  
द्वार है, जो [इन्द्रिया] भूतों के समान हैं । यह आनन्द भाग आत्मा का प्रवेश द्वार  
है जो [आत्मा] सब का ईश्वर है । शरीर में इस द्वार से प्रवेश करने वाले ईश्वर  
के तीन वास-स्थल हैं जो तीन अवस्थाएँ हैं । यही घर है यही घर है यही घर है,  
अर्थात् [वह] जाग्रत अवस्था में शरीर में रहता है स्वप्न में भी शरीर में रहता है  
और सुषुप्तक सुषुप्ति में भी शरीर में रहता है ॥ [१२]

स जातो भूतान्यभिव्यक्ष्यत्—किमिहान्य वावदिपदिति ?  
स एतमेव पुरुष ब्रह्म ततममपश्यत्—इदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

अनु०—[इस प्रकार शरीर में प्रवेश कर के जीवरूप से] उत्पन्न  
उस परमेश्वर ने भूता पर दृष्टि दीक्षायी [और सोचा—] यहाँ अर्थ किसे  
की बात की जाय ? और मैं ने इसे देख लिया है इस प्रकार उस न इस  
पुरुष को ही पूर्णतम ब्रह्मरूप से देखा । (१३)

सि० अ०—जब वह आत्मा इस द्वार में प्रवेश कर ब्रह्मभूता से ससुप्त होता है  
तब उस जीवात्मा कहल है । [उस पुरुष ने] इस के अवतार सोचा कि क्या मैं नहीं

१ जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को यहाँ 'स्वप्न' कहा गया है ।  
वास्तविक जाग्रदवस्था तो कल्पानां की अवस्था है ।

२ यहाँ तीनों आवसथों के नामकरण से ब्रह्मोपनिषद्, तन्मयाध्याय, और  
आनन्दगिरि का अनुगमन किया गया है । शङ्कराचार्य के अनुसार ये आवसथ क्रमशः  
दक्षिण नेत्र मतमन, और हृदयस्थान हैं जो क्रमशः जाग्रत स्वप्न, और सुषुप्ति से  
सम्बद्ध हैं ।

जीवात्मा है या कोई और है। [वह] ब्रह्म के पास गया, जिस ने उसे उपदेश दिया और [उस ने] इसी जीवात्मा को विद्याकाश के समान सर्वत्र व्याप्त जाना। [१३]

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम । तमिदन्द्र सन्तमिन्द्र,  
इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा, परोक्षप्रिया  
इव हि देवा ॥ १४ ॥

अनु०—इसलिए उस का नाम 'इदन्द्र' हुआ, वह 'इदन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। 'इदन्द्र' होने पर ही उसे परोक्षरूप से इन्द्र कहकर पुकारते हैं। क्योंकि देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं, देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं। (१४)

सि० अ०—जब आत्मा ने यह सब प्राप्त कर लिया तो इस का नाम पडा इन्द्र का देता अर्थात् [उस ने] इन सब को सब पर देखा। चूंकि देवता परोक्ष भजन पटाव करते हैं अतः उहो ने इस इन्द्र को इन्द्र कहा। देवताओं को यह प्रिय है कि, बचन परोक्ष रूप से बोलें बचन परोक्ष रूप से बोलें। [१४]

इति प्रथमाध्याये तृतीय खण्ड

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

## द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम खण्ड

पुरुष ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद् रेत  
तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस् तेज सभूतमात्मन्येवात्मानु विभ्रति ।  
तद् यदा स्त्रिया सिञ्चत्यथैनज् जनयति । तद्रस्य प्रथम  
जन्म ॥ १ ॥

अनु०—यह [आत्मा] पुरुषशरीर में ही पहले गम होता है। यह जो प्रसिद्ध बीर्य है वह [पुरुष ने] सम्पूर्ण अङ्गों से उत्पन्न तेज अपने में ही अपने को धारण करता है। फिर जिस समय वह इसे स्त्री में सींचता है तब इसे [गम रूप में] उत्पन्न करता है। यह इस का पहला जन्म है। (१)

१ अन्तिम वाक्य बृहदारण्यकान्वित ४२२ ऐतरेयब्राह्मण ३२३ २७३०, भाष्यभाष्य १११७ में भी आता है। यह द्विचित्र पाठ अद से शुनपचब्राह्मण ६११२, ११ में भी द्रष्टव्य है।

सि० अ०—प्रथम गम जो उत्पन्न होता है पिता की पीठ में वीर्य के रूप में रहता है। वीर्य शरीर के सभी अंगों और अवयवों का सार है। वीर्य पिता की पीठ में उस के बिना ही जो पेट में रहता है अपनी रक्षा स्वयं करता है और जब पिता की पीठ से माता के पेट में आता है तब वह माता से एकीभूत हो कर [उस की] कुक्षि में स्थित हो जाता है। अतः यह प्रथम जन्म है। [१]

तत् स्त्रिया आत्मभूत मच्छति, यथा स्वमङ्ग तथा ।  
तस्मादेना न हिनस्ति । साऽस्यैतमारमानमत्र गत भावयति ॥ २ ॥

अनु०—जिस प्रकार [स्त्रिणादि] अपने अङ्ग होते हैं उसी प्रकार वह वीर्य स्त्री के आत्मभाव (सादारम्य) को प्राप्त हो जाता है। अतः वह उसे पीछा नहीं पहुँचाता। अपने उदर में बसे हुए उस (पति) के इस आत्मा का वह पोषण करती है। (२)

सि० अ०—जैसे माता के अन्तः अवयव होते हैं वैसे ही वह भी एक अवयव होता है। चूँकि पति स्वयं वीर्य बनकर स्त्री की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ है अतः वह स्त्री को हानि नहीं पहुँचाता, क्योंकि वह स्वयं वही बना हुआ होता है। [२]

सा भावयित्री भावयितव्या भवति । त स्त्री गर्भं विभर्ति ।  
सोऽग्र एव कुमार जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स यत् कुमार  
जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषा लोकाना सन्तत्या ।  
एव सन्तता हीमे लोका । तदस्य द्वितीय जन्म ॥ ३ ॥

अनु०—वह [गर्भभूत पति का] पालन करने वाली [गर्भिणी स्त्री अपने पति द्वारा] पालनीया होती है। [गर्भिणी] स्त्री उस गम का पोषण करती है। वह (पिता) पहले ही, जन्म के पहले ही [उस] कुमार का पोषण करता है। वह जो जन्म के पूर्व ही कुमार का पोषण करता है इन लोकों (पुत्र-पौत्रादि) के विकास से वह अपना ही पोषण करता है। इसी प्रकार इन लोकों का विकास होता है। यही इस का दूसरा जन्म है। (३)

सि० अ०—[वह] स्त्री पर नृपा रहता है। स्त्री भी जन्म का पालन और पोषण करती है क्योंकि पति ही उस में प्रविष्ट हुआ होता है। चूँकि जब स्त्री पति का पालन और पोषण इस प्रकार करती है तब पति को भी चाहिए कि वह स्त्री का पालन और पोषण करे। गर्भिणी कुक्षि में पुत्र का पालन और पोषण करती है और

पति स्तुति प्रार्थना और वेद विहित नियत कर्मों द्वारा पुनरोत्पत्ति के पूर्व और उत्पत्ति के पश्चात् उस का पालन करता है। पिता जो पुत्र का माता की कुक्षि में और जन्म के अनन्तर वेद के विद्यान के अनुसार पालन करता है, वस्तुतः अपना ही पालन करता है, क्योंकि इन कर्मों द्वारा लोक में उसे सन्तान अधिव होती है। जब माता ने प्रसव किया तब इस लोक में दूसरा जन्म हुआ। [३]

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्य प्रतिधीयते। अयास्यायमितर  
आत्मा कृतकृत्यो बयोगतः प्रंति। स इत प्रयन्नेव पुनर् जायते।  
तदस्य तृतीय जन्म ॥ ४ ॥

। अनु०—इस [पिता] का यह [पुत्ररूप] आत्मा पुण्यकर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रतिनिधिरूप से स्थापित किया जाता है। तदनन्तर इस का यह अन्य (पितृरूप) आत्मा कृतकृत्य हो वयोवृद्ध हो कर [यहाँ से] वृक्ष कर जाता है। [यहाँ से] कूच करते ही वह पुन जन्म लेता है। यही इस का तीसरा जन्म है। (४)

सि० अ०—जब पुत्र इस लोक में पिता का कार्य सम्पादित है, तो पिता कर्मों से निवृत्त हो जाता है। जब पिता वृद्ध हो कर और इस लोक को त्याग कर परलोक गिरा जाता है तो तीसरा जन्म होता है। यही पिता जो पहले अपनी ही पीठ में धीरे धीरे की कुक्षि में प्रविष्ट होता है और इस लोक में पधारता है, परलोक-गमन करता है। [५]

तदुक्तमृषिणा—

‘गर्भे नु सन्नन्वेरामवेदमह देवाना जनिमानि विश्वा।  
पात मा पुर आयसीररक्षन्ध श्वेनो जवसा निरदीयम् ।’  
इति। गर्भं एवंतच् छ्यानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

अनु०—यही बात ऋषि ने भी कही है—‘मैं ने गर्भ में रहते हुए ही इन देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया है। मैं सेंबड़ों लोहमय शरीरों द्वारा अवस्थित था। अब मैं श्वेन पक्षी के समान बाहर निकल आया हूँ। वामदेव ने गर्भ में शयन करते समय ही ऐसा कहा था। (५)

१ श्रुति ४ २० १। किन्तु वेद में ‘सप्त’ जगती ‘सप्त’ है। वेद में पुनर्जन्म-विद्यान का समान मह प्रथम स्पष्ट नहीं है।



सि० अ०—वेदमंत्र में इसी के अनुसार [उल्लिखित] है—वामदेव ने कहा, मैं माता की कुक्षि में सभी इंद्रियों के देवताओं के जन्म का हाल जानता था और मैं भी जन्म और अमृत्य शरीरों के बन्धन में जो सोहे के पिण्डों के समान थे बंध गया था। उन्हें मैं ने ब्रह्मर्षि की शक्ति से तोड़ कर श्येन पक्षी के समान जो जाल की टुकड़े टुकड़े कर [खुली] हवा में उड़ जाता है, जन्मों और सोहे के पिण्डों के उस बन्धन से निवृत्त कर मुक्त हो गया। और वामदेव वह वचन माता की कुक्षि में बोला था। [५]

स एव विद्वानस्माच्च छरीरभेदादूर्ध्वं उत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गं  
लोकं सर्वान् कामानाप्लावामृतं समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

अनु०—यह [वामदेव ऋषि] ऐसा ज्ञान प्राप्त कर इस शरीर के नाश के अनन्तर उत्क्रमण कर अतोन्दीय स्वर्ग लोक में सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर अमर हो गया, [अमर] हो गया। (६)

सि० अ०—जो कोई वामदेव के समान इस बचन को समझ लेता है वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो कर अमर के लोका में पहुँचकर अमर होकर मुक्त हो जाता है। [६]

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

## तृतीयोऽध्यायः

प्रथम खण्ड

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे ? कतर स आत्मा ? येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाच व्याकरोति; येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

अनु०—हम जिस की उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है ? वह कौन सा आत्मा है ? जिस से [प्राणी] देखता है, जिस से सुनता है, जिस से गन्धों को सूँघता है, जिस से वाणी का विस्तार करता है, जिस से स्वादु-अस्वादु का ज्ञान करता है। (१)

सि० अ०—यद्यो ऋषीश्वर इन्द्र हो कर एक दूसरे से चाहे कि प्राण, इन्द्रिय, और उन के देवताओं में से जो शरीर में स्थित हैं, आत्मा कौन है, कि हम उस की

१ अर्थात् पूर्वोक्त परमात्मा अथवा जीवात्मा ?

उपासना करे ? एक देव चरणों के मार्ग से प्रविष्ट हुआ है और एक देव गिर के मार्ग से, इन दोनों में मेरे आत्मा कौन है ? उनका ने जाना कि निश्चय ही आत्मा वह है जिस से [पुरुष] देखता है, जिस से सुनता है, जिस से गूँघता है, जिस से धोलाता है, और जिस से छट्टे-भोटे का स्वाद पद्वानता है । [१]

यदेतद् हृदय मगश् चेतत् । सज्ज्ञानमाज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान मेधा, दृष्टिर्, धृतिर्, मतिर्, मनीषा, जूति, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुरसुः, कामो, वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

अनु०—यह जो हृदय है वही मन है । सज्ज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, काम, और वश ये सभी प्रज्ञान के नाम हैं । (२)

ति० अ०—हृदय उसी का नाम है, मन उसी का नाम है, सज्ज्ञान उसी का नाम है, अज्ञान उसी का नाम है, विज्ञान उसी का नाम है, प्रज्ञान उसी का नाम है, संयामत्य का विवेक उसी का नाम है, स्वाधी उसी का नाम है, जीवनदाता उसी का नाम है, धृति उसी का नाम है, संकल्प उसी का नाम है, भोला उसी का नाम है, भक्त उसी का नाम है, स्वास्थ्यवर्द्धन उसी का नाम है, स्मृति उसी का नाम है, और ये सभी नाम [उसी के हैं] । उस का नाम सालात् प्रज्ञान है । [२]

एष ब्रह्मैष इन्द्र, एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा; इमानि च पञ्च महाभूतानि—पृथिवी, वायुराकाश, आपो, ज्योतीर्पि—इति; एतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेताराणि चाण्डजानि च; जाह्नवानि च, स्वेदजानि, चोद्भिज्जानि, चाश्वा; गावः; पुष्टपा; हस्तिनो—यत्किञ्चेद प्राणि, जङ्गम च, पतत्रि च यच्च च स्थावर सर्वं तत् प्रज्ञानेद्रम्, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेद्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञान ब्रह्म ॥ ३ ॥<sup>१</sup>

अनु०—यह ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही ये [अग्नि आदि] सारे देव, यही—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और तेज—पाँच भूत है, यही क्षुद्र जीव से युक्त उन के बीज, अग्न्यान्व, अप्यद्वज,

जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गौ, मनुष्य, हाथी—जो कुछ भी यह जङ्गम (पर से चलनेवाले) और पक्षी है, जो भी स्थावर (वृक्ष, पर्वत, आदि) है वह सब प्रज्ञानेत्त है, प्रज्ञान म ही स्थित है। लोक प्रज्ञानेत्त है, प्रज्ञा ही उस का आश्रय है, प्रज्ञान ही ब्रह्म है। (३)

सि० अ०—यही ब्रह्मा है, वही इन्द्र है वही प्रजापति है, वही समस्त देवता है। वही पञ्च महाभूत है या जब अग्नि, वायु पृथ्वी, और आकाश [ब्रह्माने] हैं। वही छोटे बीज और भव्य जो कुछ पृथ्वी से निकलता है, जड़ से निकलता है कुक्षि से निकलता है जो कुछ गन्ध है—सब वही है। अश्व गौ मनुष्य, हाथी, पशु-पक्षी, जन्म-स्थायर—सब वही है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होता है, उसी में रहता है, और उसी में लीन हो जाता है। वही जगत् को गति देता है, और यही ससार ब्रह्म है। [३]

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्मात् लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके  
सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतं समभवत्, समभवत् ॥ ४ ॥

अनु०—यह (यामदेव) इस पर्यन्त आत्मा से ही इस लोक से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोक में समस्त कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो गया, [अमर] हो गया। (४)

सि० अ०—जब यह जीवात्मा पूर्ण ब्रह्मवेत्ता हो जाता है और अपने को जान लेता है तो वह इस ससार से भुक्त हो कर परतोन विद्यारता है और सभी कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो जाता है। [४]

॥इति तृतीयेऽध्याये प्रथम खण्ड ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् ।  
आविरावीर् म एधि । वेदस्य म आणीस्थः । श्रुत मे मा  
प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् सन्दधामि । ऋतं वदिष्यामि,  
सत्यं वदिष्यामि । तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु  
मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अनु०—मेरी वाणी मन मे स्थित हो, मन वाणी मे स्थित हो । तुम  
मेरे समक्ष आविर्भूत होओ । तुम मेरे प्रति वेद को लाओ । मेरा ध्वज  
किया हुआ नष्ट न हो । अपने इस अध्ययन के द्वारा मैं रात और दिन  
को एक कर दूँ । मैं ऋत बोलूँगा, सत्य बोलूँगा । वह मेरी रक्षा करे,  
वह वक्ता की रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे ।

त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

सि० अ०—वह शान्तिपाठ जो इस उपनिषद् का आरम्भ करने और समाप्त  
होने पर किया जाता है यह है—

मेरी वाणी मेरे मन मे प्रतिष्ठित हो, मेरा मन मेरी वाणी मे प्रतिष्ठित  
हो, वाणी का सार मुझ पर प्रकट हो और प्रतिदिन बढे । हे मन और वाक् ! तुम  
मार्ग-दर्शक बनो, मैं ने वेद से जो सुना है वह विस्मृत न हो, वेदाध्ययन द्वारा हम दिन  
और रात्रि को एक देखूँ । इसे अपने कर्मों का फल कहता हूँ और सत्य कहता हूँ ।  
यह मेरा रक्षक और आचार्य होवे ।

इत्यंतरेयोपनिषत् समाप्ता

ॐ

## श्वेताश्वतरोपनिषद्

(कृष्णयजुर्वेदीया)

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुमवतु । सह वीर्यं करवा-  
वहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्ति । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥ १ ॥

अनु०—[परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-  
साथ रक्षा करे । हम दोनों का साथ-साथ पालन करे । हम  
साथ-साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करे । हम दोनों का पढा हुआ  
तेजस्वी हो । हम दोनों द्वेष न करे ।

त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

### प्रथमोऽध्यायः

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म ? कुत स्म जाता ?

जीवाम केन ? क्व च राप्रतिष्ठा ?

अधिष्ठिता, केन सुधेतरेषु

वर्तमाने ब्रह्मविदो । व्यवस्थाम् ? ॥ १ ॥

ॐ ब्रह्मवेत्तानोग बहते हैं—[जगत् वा] कारणभूत ब्रह्म क्या है ?  
हम किस में उत्पन्न हुए हैं ? किस के द्वारा जीवित रहने हैं ? वहाँ  
स्थित हैं ? जोर है ब्रह्मविद्गण । हम किस के द्वारा मुख-दुग्ध में  
प्रतिष्ठित हो न ब्यवस्था (गमाग्यात्ता) का अनुवर्तन करते हैं ? (१)

वि० अ० ब्रह्म व त्रिमायु समस्त होकर बहने लगे—गतात् जो उत्पन्न हुआ  
है उस का उत्पन्न कारण ब्रह्म है या कुछ और ? हम प्राणी वहाँ में प्रकट हुए  
हैं, तब से बहते हैं, किस की शक्ति जोर सामर्थ्य में त्रिमायुवाप बहते हैं, और किस  
के द्वारा हम मुख-दुग्ध में पड़ते हैं ? इस सब का मूल क्या है ? आओ उस मूल  
का पता लगाएँ । [१]

काल, स्वभावा नियतिर यदृच्छा,  
भूतानि, योनि पुरुष इति चिन्त्या ।  
सयोग एषा न त्वात्मभावाद

आत्माऽप्यनीश सुखदुःखहेतो ॥ २ ॥

अनु०—काल स्वभाव नियति यदृच्छा भूत और पुरुष—ये [कारण के रूप में] विचारणीय है। [अच्छा इन में से कोई एक अथवा पृथक् पृथक् प्रत्येक तो सब का कारण हो नहीं सकता] आत्मा के अधीन होने के कारण इन का सयोग भी [कारण] नहीं [माना जा सकता]। जीवात्मा भी सुख दुःख के [अधीन होने के] कारण [सब का] अधीश्वर नहीं है। (२)

सि० अ०—यह जो बात उठी कि जगत् की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म है या कोई और [उस पर] मोक्ष ने कहा कि यह कान ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है जिस से वह उत्पन्न होता है जिस में वह स्थिति रहता है जिस में वह दीन हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि [जगत्] स्वत आता है स्वत रहता है और स्वत जाता है। अब समुदाय कहता है कि सृष्टि का कारण नम है। कुछ लोग कहते हैं कि स्रष्टा सो है किन्तु उस में जगत् स्वत उत्पन्न हो गया है। एक समुदाय कहता है कि सब का उत्पादक महाभूत है और कि जो भी है वह महाभूत से उत्पन्न हुआ है। एक अब समुदाय कहता है कि सब का उत्पादक तीनों गुणों की साम्यावस्था है जिसे प्रकृति कहते हैं। अब और समुदाय कहता है कि जगत् की उत्पत्ति का कारण पुरुष है जिसे द्विरण्यवध कहते हैं। विचार करना चाहिए कि ये सब सृष्टि के कारण हो सकते हैं या नहीं। एक समुदाय तो कहता है कि जित वा वगन हुआ है उन सब का सयोग ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। यह सब निष्पत्ति है इसलिए कि इन का सयोग किसी विशेष कारण में होता है। ये कैसे उत्पत्ति के कारण हो सकते हैं क्या कि ये तो भोग के कारण और भोगा है? दूसरे इसलिए कि जीवात्मा ही उत्पत्ति का कारण क्यों नहीं हो सकता जो भोगा है और ये जिस के भोग के माधन है? [किंतु] वह भी उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उस सुख और दुःख दाना की प्राप्ति होती है अतः उस के लिए कोई और होना चाहिए जो उसे सुख और दुःख का भोग करावे [१]

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर निगूढाम—

य कारणानि निखिलानि तानि

कालात्मयुक्ता यद्यतिष्ठत्येक

॥ ३ ॥

अनु०—उन्होंने ध्यानयोग का अनुवर्तन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया—जो (परमात्मा) कि अकेले ही काल से लेकर आत्मा पर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठाता है । (३)

सि० अ०—वे ब्रह्मवादी इन सभी मता की उपस्थापना करने अपने भीतर ध्यान-मग्न हो गये । [ध्यानावस्था में उन्होंने] कहा कि जगत की उत्पत्ति का कारण यह सत्ता है जो प्रकाशस्वरूप है और जिस की शक्ति तीनों गुणों से आच्छन्न है । वहीं एक मात्र सत्ता जगत् की उत्पत्ति का कारण है जिस की यह महिमा है, और जो बाल से लेकर जीवात्मा तक जिन तत्त्वों का उल्लेख हुआ है उन सब को शक्ति प्रदान करती है । [३]

तमेकर्नेमि, निवृत्त, पोडशान्त,  
शताधरि विशतिप्रत्यराभि,  
अष्टकै पङ्क्तिर् निखरूपं कपाश,  
निमार्गभेद, द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

अनु०—उसे [हम एक चक्र जानते हैं जिस में] एक रेखि है,<sup>१</sup> तीन वृत्त (टापर) हैं,<sup>२</sup> सोलह अन्त हैं,<sup>३</sup> बीस प्रत्यरों<sup>४</sup> सहित पचास अरों<sup>५</sup> हैं, छह अष्टकों<sup>६</sup> सहित एक बहुरूपी पाश है,<sup>७</sup> तीन पृथक्-पृथक् मार्ग<sup>८</sup> हैं, दो निमित्तों<sup>९</sup> वाला एक मोह (अज्ञान) है । (४)

१ प्रकृति । २ त्रिगुण, अर्थात् सत्य, रजस, और तमस । ३ पञ्चमहाभूत, पञ्चभूतानिन्द्रिया, पञ्चकर्मेन्द्रिया, और एक उभयेन्द्रिय (मन) । ४ पञ्चशतानिन्द्रिया, पञ्चकर्मेन्द्रिया, और इन में दस विषय ५ पचास भाव सांख्यशास्त्रिका ४६-५१ में परिणमित हैं । ये हैं—पाँच विषय (तम, मोह, अहामोह, तामिष, और अन्ध-तामिष), अठ्ठाईस अशक्तियाँ (अहिरापण, स्थान-शक्ति का नाश, अग्राय, जिह्वा-शक्ति का नाश, प्राणेन्द्रिय की विवशता, मूर्कता, लूनापन, पशुता, नपुंसकता, पुरीय-शक्ति का नाश, और बुद्धि की मन्दता से होने वाला ग्यारह बुद्धि-पद, जो प्रकार के बुद्धियों के विषय, और आठ प्रकार के सिद्धियों के विषय); सो बुद्धिओं (प्रकृति-बुद्धि, उपादान-बुद्धि, काल-बुद्धि, मास्य बुद्धि, पार-बुद्धि, सुषार-बुद्धि, पारापार-बुद्धि, अनुत्तमात्म, और उत्तमात्म), आठ सिद्धिओं (ऋ, शब्द, अरययन, तीनों प्रकार के दुःखों का विपाद, मुहूर्त्तप्रति, और दान) । ६ अष्टधा प्रकृति, आठ पातुरे, आठ सिद्धिओं, आठ भाव, आठ देव, और आठ ऐतुव्य ७ तृणा ८ पम, अग्रमं, और हान ९ पुण्य-पस और पाप-पत ।

मि० अ०—उन्हो ने माया को देखा जिस से पचास तत्त्व निष्पन्न होते हैं—दस इन्द्रियाँ, उनसे दस विषय, इन्द्रिया ने दस देवता, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन के चार देवता, इन के चार विषय, और स्वप्न, जाग्रत, और सुषुप्ति के तीन देवता । माया जब ब्रह्म से अन्वित हुई तब जबत् का कारण बनी । जबत्, माया, और ब्रह्म परस्पर समुक्त हुए तो इस संयोग को ब्रह्मचक्र कहते हैं, अर्थात् ब्रह्म का चक्र जो पूरना रहता है । माया रथ के चक्र की भाँति है । दृष्टि, स्थिति, और प्रलय के तीन घर्मे पहिले के तीन बुद्धो [टापरो] के समान हैं और परस्पर समुक्त हैं । पाँच प्राण, मन, और दस इन्द्रियाँ उन पंद्रह तत्त्वों के समान हैं जो उस वृत्त में परस्पर जुड़ी होती हैं । पचास तत्त्व जो शरीर के लिए आवश्यक हैं उन पचास वस्तुओं के समान हैं जो रथ चक्र की भाँति के चारों ओर सजे होते हैं । सास के चारों ओर महीने और आठ दिशाएँ उन बीस प्रत्यक्षों के सदृश हैं जिन से जोड़ों को सुबुद्ध करते हैं । इस ब्रह्मचक्र में अज्ञातसि तत्त्व हैं, जो हैं—स्वप्न, चर्म, मीस, कपूर, मेद, अस्थि, मज्जा शुक्र [-धारवष्टक], धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवीर्य, अनैश्वर्य [-आवाष्टक], ब्रह्म, सत्ता, अवगुणा, शीघ्र, मय, अनायास, अहंकार, और अस्पृहा [-गुणाष्टक] अष्ट निद्रियाँ विष्णु अग्निमा, महिमा, सविमा गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और कशित्व कहते हैं, पंच महाभूत, महत्तत्त्व, तीनों गुणों की साम्यावस्था और अहंकार [प्रवृत्त्यष्टक] ब्रह्मा, प्रजापति, सभी देवता, पञ्चवै, मल, राक्षस, पित्राण और पिशाच [देवाष्टक] । एक काम का जाल है जिस में सभी आवद्ध हैं और जिनमें तीन माय हैं—प्रथम ब्रह्म-लोक की प्राप्ति का मार्ग, द्वितीय स्वर्ग लोक की प्राप्ति का मार्ग, और तृतीय मल लोक की प्राप्ति का मार्ग । उस में एक ही निमित्त है जिस का परिणाम सुख और दुःख है । उन ब्रह्मादिपों ने उस सत्ता को देव लिया था जो जबत् की उत्पत्ति का कारण है । और उन्हो ने इन तत्त्वों को ब्रह्मचक्र में देखा जो उस [सत्ता] का लोक है । [४]

पञ्चस्रोतोऽम्बु, पञ्चगोत्र्युग्रवक्रा,  
पञ्चप्राणोमि, पञ्चबुद्ध्यादिभूषाम्,  
पञ्चावर्ता, पञ्चदुर्लभवेगा,  
पञ्चाशद्भेदा, पञ्चपर्वमिधौम ॥ ५ ॥

अनु०—पाँच स्रोतों वाले जल से जो युक्त है, पाँच उद्गमस्थानों के कारण जो उग्र और बक्र है जिस में पञ्चप्राणरूप तरङ्ग हैं, जो पाँच प्रकार के जानों आदि का मूल है, जिस में पाँच आवर्त (चक्र) हैं, जो



पाँच प्रकार के दुःखस्वी ओषो के वेग से युक्त है, जो पाँच पर्वों वाली और पचास भेदों वाली<sup>१</sup> [नदी] है उस को हम जानते हैं। (५)

सि० अ०—जैसे जगत् ब्रह्मचर्य है, वैसे ही ब्रह्ममाया एक नदी के समान है। पच ज्ञानेन्द्रियाँ उस के पाँच स्रोत हैं जो जगत् नदी से प्रवाहित हुए हैं। पच महाभूत उस के आयतों (भँवरों) के समान हैं। पच प्राण उस की तरंगों के समान हैं। भूह्वार जो पचज्ञानेन्द्रिय-स्वरूप है उस के उद्गम के समान है। पच स्थूलभूत उस की लहरों के समान हैं। पच अवस्थाएँ—अर्थात् माता की कुक्षि में निवास, माता की कुक्षि से नि सरज, रक्षावस्था, जरावस्था, और मृत्यु जो महादुःख हैं उस नदी के ओषवेग के समान हैं। पचाम अक्षर, कोई भी बात जिन के बाहर नहीं है और जिन के अतिरिक्त दूसरा अक्षर नहीं है, उन शास्त्रों के समान हैं जो नदी से फूटती हैं। पाँच प्रकार की अविद्या—अर्थात् तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, और अन्धतामिस्र<sup>२</sup>—उस नदी के पर्वों के समान हैं। ब्रह्मवादियों ने इस नदी को इसी रूप में वर्णित किया है। [५]

सर्वाजीवे सर्वसंख्ये बृहन्ते  
अस्मिन् हसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे,  
पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा,  
जुष्टस् ततस् तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

अनु०—इस (जीव) अपने को और नियन्ता [परमात्मा] को पृथक् मानकर सब के जीवनभूत और सब के आश्रयभूत इस महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमित रहता है, और जब उस का प्रसाद प्राप्त करता है तब अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। (६)

१ पञ्चवक्त्रेश २ शङ्कराचार्य के आद्य में पचास की व्याख्या नहीं हुई है।

३ वाराणसीके शब्द हैं—‘पञ्च विस्मे अविद्या हि शुद्ध-ए जुरथो, च मिदन्ते कुत्सो, च नादानी-ए जुरथो, च नादानी-ए कुत्सो वासव’। ये शब्द नितान्त अशुद्ध हैं। उस का तात्पर्य विषयेय के पाँच भेदों से प्रणीत होता है जिन की पचना ईश्वररूप की साहचर्यरिक्त (४८) में की गयी है। हम ने तदनुसार ही अर्थ दिया है। अविद्या के पाँच भेद योगसूत्र (२.३) में यत्तत्तत्तये गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश, जो ही सांख्यसारिका में विप्र शब्दावली में लगाने गये हैं।

सि० ४०—उन ब्रह्मायिष्या ने इस ब्रह्मचक्र की उत्पत्ति का कारण और रिपति का कारण और उस में सब के प्रत्यय का अर्थ तथा महान् जीवात्मा को जिस का नाम इस है उस में अमिष्य जाता है। यह जीवात्मा जब उस सखरण बरता रहता है जब तब वह अपने को सब को परिचायित करने वाता अग्र्या में भिन्न समक्षता रहता है। जब जीवात्मा परमात्मा से एक हो जाता है तो अमर हो जाता है। [६]

उद्गीतमेतत्—परम तु ब्रह्म,  
तस्मिन् त्वय<sup>१</sup>—सुप्रतिष्ठा ऽक्षर च ।  
अत्रान्तर ब्रह्मविदो विदित्वा  
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता ॥ ७ ॥

अनु०—यह गाया गया है कि ब्रह्म ही परम [सत्ता] है। उस में तीनो स्थित है। वह [इन की] सुप्रतिष्ठा और अविनाशी है। इस का अन्तर जान कर ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म में तीन और तमस हो जन्म मरण से मुक्त हो जाते हैं। (७)

सि० ४०—सभी उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म परम है और स्वयम्भू है। जीवात्मा माया और जगत् उस ब्रह्म में ही स्थित है। इस लिए ब्रह्म सब से बड़ा है और जिन वेदों ने इसे जान लिया है कि इन तीन में के प्रत्येक उसी में तीन होते हैं व शरीर के बंधन से मुक्त हो कर उसी में लीन हो जाते हैं। [७]

समुक्तमेतत् क्षरमक्षर च  
व्यक्ताव्यक्त भरते विश्वमीश ।  
अनीजश् चात्मा वध्यते भोक्तृभावाज्  
ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ॥ ८ ॥

अनु०—ईश्वर परस्पर मिले हुए इस क्षर अक्षर और व्यक्ताव्यक्तरूप विश्व का पोषण करता है। परतत् जीव भोक्तृभाव के कारण [उस में] वध्यता है और परमात्मा को जान कर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है। (८)

सि० ४०—निविशेय और मविशेय जब एक हुए तब यह जगत् प्रकट हुआ। यह जगत् दो प्रकार का है—व्यक्त और अव्यक्त। वह सभी यन्त्रापत्तन जगत्

का धारण करने वाला है और तब इस से अनिष्ट और इस जगत् का धारण मात्र है। जब तक माधन अपने को नहीं पहचानता तब तक भोगों के बंधन में पड़ा रहता है और समझता रहता है कि मैं ही खाता हूँ, मैं ही पीता हूँ, और मैं ही मोता हूँ। जब उस ने अपने को जान लिया और समझ लिया कि मैं ब्रह्म हूँ तब वह गुणों और गरीबों के बंधन में मुक्त हो जाता है। [८]

ज्ञाज्ञी

द्वावजावीशनीशा-

वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।

अनन्तश् चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता ।

तय यदा विन्दते, ब्रह्मेतत् ॥ ९ ॥

अनु०—ये [ईश्वर और जीव] दोनों अजन्मा हैं और हैं [क्रमशः] सर्वज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश। एव अजा [प्रकृति] [भी] है जो भोक्ता (जीव) के लिए भोगसम्पादन में नियुक्त है। आत्मा विश्वरूप, अनन्त, और अकर्ता है। जब इस त्रिव [ईश्वर, जीव, और प्रकृति] की उपलब्धि होती है, तो वही ब्रह्म है। (९)

ति० अ०—परमात्मा और जीवात्मा वाला नित्य हैं। परमात्मा सवज्ञ है और जीवात्मा अल्पज्ञ। परमात्मा स्वतन्त्र है और जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं है। वह माया जो ब्रह्म की इच्छा का धर्म है अनादि है किन्तु अवत नहीं है। वह प्राणियों को भोग प्रदान करती है। परमात्मा अवत है। सारा जगत् उसी का रूप है। और यद्यपि सारा जगत् उसी का रूप है तथापि वह अकर्ता है अर्थात् वह कुछ भी नहीं करता। जो कोई माया, जीवात्मा और परमात्मा इन तीनों सत्ताओं को इस रूप में जानता है वह केवल ब्रह्म हो जाता है। [९]

क्षर

प्रधानममृताक्षर

हर

क्षरात्मानासीशते

देव

एक ।

तस्याभिध्यानाद् योजनात्, तत्त्वभावाद्

भूयश् चान्ते विश्वमायानिर्वृत्ति ॥ १० ॥

अनु०—परिणामी प्रकृति और अविनाशी तथा अपरिणामी—क्षर और आत्मा—ये हर सज्जक एव देव नियमित करता है। उस के पुन पुन चिन्तन से, योग करने से तत्त्व की भावना करने से अन्त में विश्वरूप माया की निवृत्ति हो जाती है। (१०)

मि० ४०—माया सक्षीय और नश्वर है जीवात्मा अतीव और अधिनाशी है । जीवात्मा ज्ञान की शक्ति से माया जो नश्वर है और जीवा मा जो नश्वर नहीं है इन दोनों का स्वामी वह ज्योति स्वरूप और अद्वैत मत्ता है । जो कोई उसे यथावत जानता है और अपने को उस से एक कर लेता है वह स्वरूपस्थ हो जाता है भ्रम को हटा देता है माया के बधन से निजल जाता है और उस ज्योति स्वरूप को सत्ता को जान लेता है । वह सभी माया ज्ञान वज्ञान के बधन अहंकार वासना द्वेष और मय से मुक्त हो जाता है और उस मुक्ति से हमारे जोबो में जन्म और मृत्यु से छुटकारा पा लेता है । [१०]

ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानि,  
क्षीणं बलेशं जन्ममृत्युप्रहाणि ।  
तस्याभिध्यानात् तृतीय देहभेदे  
विश्वैश्वर्यं, केवल आप्तकाम ॥ ११ ॥

अनु०—परमात्मा का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण बधना का नाश हो जाता है और बलेशो का क्षय हो जाने पर जन्म मृत्यु की निवृत्ति हो जाती है । उस का ध्यान करने से शरीरपात के अनन्तर सर्ववैश्वर्यमयी तृतीय अवस्था की प्राप्ति होती है [और फिर जीव] आप्तकाम हो कर कैवल्यपद को प्राप्त हो जाता है । (११)

मि० ४०—[पुरष] जब उस सब-व्यापक और अद्वैत सत्ता को जान लेता है तब स्वर्गलोक और नरकलोक से मुक्त हो कर इसी लोक में अपनी समस्त वासनाओं को साध पशुष कर सप्रसन्न मृष्टि के स्वामी की प्राप्ति कर के शरीर छोड़ने के समम तृतीय लोक अवर्णित ब्रह्मलोक में निवास करता है । तबस्त शरीर और प्राण का मध्य एक सत्ता है जो गुप्त रहस्यों को जानती है और निय है । वही सब के जानने योग्य है और उस के सिवा कुछ नहीं है । [११]

एतज ज्ञय नित्यमेवात्मसस्थ  
नात पर वेदितव्य हि किञ्चित् ।  
भोक्ता, भोग्य प्रलितार च मत्वा  
सर्व प्रोक्त—त्रिविध ब्रह्ममेत ॥ १२ ॥

अनु०—अपने में सबदा स्थित इस ब्रह्म को ही जानना चाहिए । इस से बढकर और कोई जानव्य नहीं है । भोक्ता (जीव) भोग्य

(जगत्), और प्रेरक (ईश्वर) को जान लेने के अनन्तर सब कुछ कहा हुआ हो जाता है—यह त्रिविध ब्रह्म है । (१२)

मि० ४०—श्वेताश्वतर ने कहा कि मेरे मुख ने मुझे समझाने के लिए यह उपदेश किया कि जीव भोक्ता है, जिस से वह उत्पन्न होता है वह भाषा है, और इन दोनों का प्रेरक ब्रह्म है । [१७]

बह्लेर् यथा योनिगतस्य मूर्तिर्  
न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः,  
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्,  
तद् वोभय वै प्रणवेत् देहे ॥ १३ ॥

अनु०—जिस प्रकार अपने आश्रय [काष्ठ] में स्थित अग्नि का रूप दिखायी नहीं देता और न [उस के] लिङ्ग (गूश्मस्वरूप) का ही नाश होता है, और फिर इन्धनरूप वारण के द्वारा ही उस का ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार दोनों [ब्रह्म और जीव] का देह में प्रणय के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है । (१३)

मि० ४०—बाण्ड में अग्नि है किन्तु उस का रूप दिखायी नहीं देता, और अग्नि का गुण-धर्म अर्थात् उत्पत्ति और धुआँ भी काष्ठ में विद्यमान है और ये भी दिखायी नहीं देते । किन्तु केवल इसलिए कि दिखायी नहीं देते यह नहीं कहा जा सकता कि बाण्ड में वे सब नहीं हैं । उसी बाण्ड को यदि दूसरे बाण्ड से रगड़ा जाय तो अग्नि, धुआँ, और उत्पत्ति प्रकट हो जाते हैं । उसी प्रकार नरीर में अज्ञान भी है और वह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म भी है, किन्तु दिखायी नहीं देता । जब तब प्रणय के उप में मन को गति नहीं दी जाती तब तब वह ब्रह्म प्रकट नहीं होता । [१३]

स्वदेहभरणि कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्  
ध्याननिर्मथनाभ्यामाद् देवं पश्येत् निगूढयत् ॥ १४ ॥

अनु०—अपने देह को भरणि और प्रणय को उत्तरारणि कर के ध्यानरूप मन्थन के अभ्यास में परमात्मा को छिपी हुई [अग्नि] के समान देखे । (१४)

मि० ४०—अपने मन को उत्तरारणि करे और प्रणय को उत्तरारणि । प्रणय के ध्यान में अभ्यास को उत्तरारणि के रूप में सेने हुए [गायत्र] उस योनि-रूप

सत्ता को देख सत्ता है [अथवा] मानो उस व्यक्ति के पूबजाने खजाना छुपा रखा है और वह उसे नहीं पाया । [१४]

तिलेषु तैल, दधिनीव सर्पि-  
 राप स्रोतस्वरणीषु चाग्नि ।  
 एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ  
 सत्येनैव तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

अनु०—जिस प्रकार तिल में तैल, दही में घृत स्रोतों में जल, और काष्ठों में अग्नि होती है उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे बारबार देखने का प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मा में ही दिखायी देता है । (१५)

सि० अ०—ब्रह्म सब में निहित और पूरा है—जैसे तल तिल में भी दही में जल घालू और उदयमस्थान में और अग्नि काष्ठ में विद्यमान है वैसे ही वह भूताना में । [साधक] आत्मा को तप और तप द्वारा देख रता है । [१५]

सर्वव्यापिनमात्मान, क्षीरे सर्पिरिवापितम्  
 आत्मविद्यातपोमूल, तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥  
 तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ १६ ॥

अनु०—आत्मविद्या और तप जिस का मूल है उस सर्वव्यापी आत्मा को [साधक] दूध में विद्यमान घृत के समान [देखता है] । वही ब्रह्म का परम रहस्य है वही ब्रह्म का परम रहस्य है । (१६)

सि० अ०—आत्मा सब में व्याप्त है जैसे घी दूध में । तपस्या और ज्ञान आत्मा की प्राप्ति के बीज है । सभी उपनिषदों का मार वही परब्रह्म है । [१६]

## द्वितीयोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथमं मनस् तत्त्वाय सविता धियः ।

अग्नेर् ज्योतिर् निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥

अनु०—सविता देवता ने पहले मन और बुद्धि को सत्य के लिए अग्नि की ज्योति को जानकर उसे पृथिवी से निकाला । (१)

सि० अ०—परमार्थ-सत्य की प्राप्ति का मार्ग यह है, इन्द्रिया और मन के निग्रह की सूर्यस्थानी कर ने समस्त जगत् की नैसर्गिक अग्नि स्वरूप ब्रह्मानन्द की ज्योति को आत्मसात् कर के अन्तरिक्षलोक को उत्त प्रकाश से प्रकाशित करे । [१]

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितु सवे ।

मुवर्गेयाय शक्यता ॥ २ ॥

अनु०—हम स्वर्ग और शक्ति के लिए एकाग्र मन से सविता देवता की प्रेरणा में [वर्तमान] हैं ।

सि० अ०—यह महिमा तप के ब्रह्माय से प्राप्त हुई, जिस का अनुष्ठान अधिष्ठ किया गया । अब भी जो बार्द तप करना चाहे उसे इस स्तुति का पाठ कर के सूर्यदेव से साहाय्य की प्रार्थना करनी चाहिए । [२]

युक्त्वाय मनसा देवान् मुवर् यतो धिया दिवम् ।

बृहज् ज्योतिः करिष्यत सविता प्रमुवानि तान् ॥ ३ ॥

अनु०—बुद्धि द्वारा ज्योतिर्मय बुलोक को जाने वाले देवों (इन्द्रियों) को वन में करने वाले मन से गविता प्रेरित करे, ताकि वे बृहत् ज्योति उत्पन्न कर सकें । (३)

सि० अ०—स्तुति यह है ज्योतिर्मय सूर्य की महत्त्वात्ता से तप का सामर्थ्य प्राप्त हो जिस से मैं ब्रह्मलोक में पहुँच कर मुक्ति लाभ करूँ । मया मा गच्छी श्रद्धा द्वारा एकाग्रता प्राप्त करे । सूर्य अग्निरूप है कि स्वर्गलोक में देवताओं के सम्मुख गमन करने के लिए अपने मार्ग पर उबारना करने वाली पहुँच जाऊँ, क्योंकि सूर्य ही स्वर्ग का द्वार है । [३]

१ इस अध्याय के प्रथम पाँच मंत्र तैत्तिरीयसंहिता (४.१.१-५) और त्रिष्टुप् पाठांतर ॥ यजुर्वेद (११.१-२) से लिये गये हैं । ये यजुर्वेद से सप्तम-पादम (१.३.१-१२६) से भी उद्धृत हुए हैं ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो

विप्रा<sup>१</sup> विप्रस्य बृहतो विपश्चित ।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक

इन् मही देवस्य सवितुं परिप्लुति ॥ ४ ॥<sup>२</sup>

अनु०—महाज्ञानी विप्र ने विप्र मन को वश में करते है, बुद्धि को वश में करते है। एक प्रज्ञावित् ने होतृसाध्य [यज्ञादि] क्रियाओं का विधान किया है। सवितृदेव की स्तुति बड़ी है। (४)

सि० अ०—जो ब्राह्मण इन्द्रियों को वश में कर के अपने मन की सूर्य में एकाग्र करते हैं उन ब्राह्मणों में से जो तपस्या को पूर्ण कर लेता है उसे सूर्य अपनी किरणों के मार्ग से ब्रह्मलोको पहुँचा देता है, क्योंकि सूर्य ही पुण्यकर्मों के फल को प्राप्त कराने वाला है। अतएव सूर्य भद्रेय कोर स्वर्गीय है। ब्रह्मलोको की प्राप्ति होने तक—[४]

युजे वा ब्रह्म पूर्वं नमोभिर्  
विश्लोक येतु पथ्येव मूरे ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा,

आ ये धामानि दिव्यानि तस्यु ॥ ५ ॥<sup>३</sup>

अनु०—मैं तुम्हारे पुरातन स्तोम में [तुम्हें] नमस्कार करता हुआ तपस्य होता हूँ। सूर्य के पथ की भाँति मेरा यह श्लोक (स्तुतिपाठ) लोक में फैले। समस्त अमृत के पुत्र ध्वज करे, वे भी जो दिव्य धामों में पहुँच गये है। (५)

सि० अ०—मैं अग्नि, सूर्य, और ब्रह्म की ज्योति की एक कर के जानूँ। मुझे ऐसी शक्ति प्राप्ति हो कि मैं तेरी उपासना और स्तुति कर सकूँ। तेरी जो स्तुतिओं वहाँ उसे शक्ति प्रदान शक्तिगण मुझे, जो हिरण्यकर्म से उत्पन्न है और दिव्य धामों में निवास करते है। [५]

१ पूर्वलिपि में अचित सदमों र अचित, यह मर अश्वेद (५.८१ १), यजुर्वेद (५.१४ और ११.४), शतपथब्राह्मण (३.५.३ ११, १२) में भी द्रष्टव्य है।

२ वाच्य अश्वेद मर में पुरा होता है।

३ अश्वेद की आदि में दी हुई लिपि में अचित मदमों के अतिरिक्त, यह मर अश्वेद (१०.१३.१) और यजुर्वेद (११.४) में भी पाया जाता है। यह वादांतर के माय अपर्यवेद (१८ ३.३६) में भी द्रष्टव्य है।



अग्निर् यत्ताभिमथ्यते, वायुर् यत्ताधिरुध्यते,  
सोमी यत्तातिरिच्यते, तत्त सजायते मन ॥ ६ ॥

अनु०—जहाँ अग्नि का मन्थन किया जाता है, जहाँ वायु का प्रयोग होता है, और जहाँ सोमरस की अधिकता होती है, वही मन की प्रवृत्ति होती है । (६)

शि० अ०—य धाम य है जहाँ अग्नि का पिण्ड प्रजायमान है जहाँ वायुमण्डल प्रतिष्ठित है, जहाँ से पद्ममा बडवा पडता है और चन्द्रमा की उस ज्योत्स्ना में मन प्रकटित होने है । [६]

सविता प्रसवेन जुपेत ब्रह्म पूर्णम् ।  
तत्त योनिं कृणवसे, न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥ ७ ॥

अनु०—सविता देवता की प्रेरणा से उस चिरन्तन स्तोम का सेवन करना चाहिए । तुम उस ब्रह्म में निष्ठा (समाधि) करो, पूर्व वर्म तुम्हें लिपायमान करने वाला नहीं होगा । (७)

शि० अ०—जुँजि ब्रह्म स सर्वप्रथम मूर्त्य की उत्पत्ति हुई है, इसलिये मूर्त्य की प्रसन्न कर ताकि उक्त की सहायता से तू ब्रह्म तब पहुँच सके । मूर्त्य की ज्योति के मध्य ब्रह्म की जान कर उपामना कर । यदि तू समझे की मूर्त्य की उपामना में ब्रह्म की ज्योति तक तू नहीं पहुँचिगा, तो ऐसा नहीं । वह ब्रह्म तुम से अपने की छिपाता नहीं, प्रकृत मूर्त्य की ज्योति के रूप में तुम पर प्रकट हुआ है । आशिव ज्योति साक्षात् परम ज्योति है । [७]

चिरन्तं स्थाप्य समं शरीर,  
हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य,  
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्  
स्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

अनु०—[चिर, शरीर, और वस्तु स्थल—इन] तीनों की उँचा रखते हुए, शरीर को सीधा रख मन के द्वारा इन्द्रिया की हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् ब्रह्म रूप जीवा के द्वारा सम्पूर्ण भयानक जनप्रवाहों को पार कर जाता है । (८)

सि० अ०—सूर्य की सहायता से ब्रह्म में ध्यान लगाते के समय पद्मासना लगा कर वक्ष स्थल, तिर, और धीमा की ऊँचा रखने हुए दृष्टि सीधी रखें, अंगों की गति न दे, तबस्त इन्द्रियों को मन का वश में कर के हृदय गुहा में स्थित ब्रह्म का ध्याना करे, और अन्त करण में जो भयावह वायाओं की नदी प्रवाहित हो उस ब्रह्म की ही मोटा कर के पार कर जाए । [८]

प्राणान् प्रपीडयेह सयुक्तचेष्ट  
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।  
दुष्टाश्चयुक्तमिव बाहमेन  
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्त ॥ ९ ॥

अनु०—[साधक को चाहिए कि] इसी शरीर में प्राणों का निरोध कर और चेष्टाओं को समाहित कर जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाय तब नासिकारन्ध्र द्वारा उसे बाहर निपाल दे । और फिर वह विद्वान् पुरुष दुष्ट अश्व से युक्त रथ के सारथि के समान सावधान हो कर मन को वश में करे । (९)

सि० अ०—द्वैत योग यह है कि प्राणायाम करे और उस के अनुरूप जिस भोजन, पान, और निद्रा का विधान है उस का पालन करे । जब प्राणायाम द्वारा उस स्थान पर पहुँच जाय जहाँ अग्न कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता, तब एक मासिका, रन्ध्र से प्राण की धीरे धीरे छोड़े और मासिका और मुख से सँत न ले । जिस प्रकार किसी रथ के घोड़े उद्धत हों और उस का सारथी पूरी कुशलता से उसे मार्ग पर ले चले, उसी प्रकार इस साधना का अनुष्ठान करने वाले को चाहिए कि प्राणों को सावधान रखे, तबि मन उसे कुशल कर ले जाय । [९]

समे, शुची, शर्करावह्निवालुका-  
विवर्जिते, शब्दजलाश्रयादिभि,  
मनोऽनुकूले, न तु चक्षुपीडने,  
गुहानिवाताश्रयणे, प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अनु०—जो समतल, पवित्र शर्करा, अग्नि, और द्रव्य में रहित तथा शब्द, जल, और आश्रयादि से भी शून्य हो, मनुष्य के अङ्गुष्ठ के

कि नेत्रों को पीड़ा देने वाला, ऐसे गुहा आदि वायुशून्य स्थान में [मन को] युक्त करे । (१०)

सि० अ०—जिस भूमि पर सायंक आसन ग्रहण करे वह नीची-ऊँची न हो, उस पर मजिन्ता न हो, उस पर बालू न हो, भूमि उष्ण भी न हो, वह धूलि धूसर न हो, वहाँ उग के धान तथा बोसाहन न पहुँच सके, वह लोगों के रास्ते में न पड़ती हो । जहाँ भी उस के मन को शान्ति मिले, जिस स्थान के देखने से उस के नेत्रों को कष्ट न हो, जिस गुफा में वायु का शोका न भाये, वही आसन ग्रहण कर के योग-साधना करनी चाहिए । [१०]

नीहारधूमाकारानिलानलाना

खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्

एतानि रूपाणि पुर सराणि

ग्रहण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

अनु०—योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले बुद्धि, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), विद्युत्, स्फटिकमणि, और चन्द्रमा का अनुभव होता है । इन के रूप ग्रहण की अभिव्यक्ति करने वाले हैं । (११)

सि० अ०—माधव के अन्तःकरण पर प्रथम साधना में कदा भी अभिव्यक्ति के लक्षण ये हैं कि कभी तो उस के ध्यान में बुद्धि के समान अंधकार आ जाता है, कभी उस के ध्यान में सूर्य के समान अंधकार आ जाता है, कभी उस के ध्यान में सूर्य के समान प्रकाश आ जाता है, कभी उस के ध्यान में अग्नि का प्रकाश आ जाता है, कभी उस के ध्यान में वायु का शोका आता है, कभी उस के ध्यान में जुगनू आता ही जाता है, कभी उस के ध्यान में विद्युत् की चमक का प्रकाश आ जाता है, कभी उस के ध्यान में स्फटिक मणि की स्पष्टता और चमक आ जाती है, और कभी उस के ध्यान में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना आ जाती है । [११]

पृथ्व्यप्येजोऽनिलरो समुत्थिते,

पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते,

न तस्य रोमो, न जरा, न मृत्यु,

प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् ॥ १२ ॥

अनु०—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश की अभिव्यक्ति होने पर, योग के पञ्चात्मक गुण के प्रवृत्त होने पर, जिसे योगाग्निमय शरीर

प्राप्त हो गया है उसे न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है, और न मृत्यु ही होती है । (१२)

सि० अ०—योग में आठ विषय निर्धारित हैं (अर्थात् आठ जगत् का विधान है), जिन में से पांच का उल्लेख हुआ । अथ तीव्र जो योग है उन में से एक धारणा है, और धारणा का अर्थ है एक विशेष सत्त्व से चित्त को बाँध देना । उस का प्रकार यह है कि पहले चित्त का पृथ्वी में संवर्धन करे और समझे कि पृथ्वी महाभूत में ही है, फिर चित्त का जल में संवर्धन करे और समझे कि जल महाभूत में ही है इस के अनन्तर चित्त का अग्नि में संवर्धन करे और समझे कि अग्नि महाभूत में ही है इस के अनन्तर चित्त का वायु में संवर्धन करे और समझे कि वायु महाभूत में ही है, इस के अनन्तर चित्त का भूतलकाश में संवर्धन करे और समझे कि भूतलकाश में ही है । जब इन की धारणा सिद्ध हो जाती है तो साधक उद्भूत हो जाता है । जो कोई इस धारणा में सिद्ध हो जाता है उसे रोग और जरा नहीं सताती और उस तक मृत्यु नहीं पहुँचती, क्योंकि उस का शरीर विग्रह योगाग्निमय हो गया होता है । [१२]

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,

वर्णप्रसाद, स्वरसौष्ठवं च,

गन्ध सुभो, सूत्रपुरोपमल्प

योगप्रवृत्तिं प्रथमा वदन्ति ॥ १३ ॥

अनु०—शरीर का हल्कापन, नीरागता विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक काम्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगन्ध, और मल मूत्र की मृदुता—[इन्हे] योग की पहली सिद्धि कहते हैं । (१३)

सि० अ०—इस धारणा में सिद्ध पुरुष [का शरीर] हल्का और सूक्ष्म हो जाता है तथा सदा स्वस्थ रहता है । उस का मन विभी और उत्साहमान नहीं होता उस का मुख कातिमय हो जाता है उस का स्वर मधुर हो जाता है उस के शरीर में दुर्गन्ध नहीं होती और उस में मुल्य जाता है उस के मन मूल में मृदुता हो जाती है । यह योग की पहली सिद्धि का लक्षण है । [१३]

यथैव विम्व मृदयोपलिप्त

तेजोमय भ्राजते तत् सुधान्तम् ।

तद् वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही

एक वृत्तार्थो भवते वीतशोक ॥ १४ ॥

अनु०—जिस प्रकार मिट्टी से मलिन हुआ बिम्ब (दर्पण आदि जिस में कुछ प्रतिबिम्बित हो) मिट्टी घुस जाने पर तेजोमय हो कर चमकने लगता है, समी प्रकार देहधारी जीव जात्मतत्त्व का साक्षात्कार पर अद्वितीय, कृतकृत्य, और शोकरहित हो जाता है । (१४)

मि० ४०—जिस प्रकार स्फटिक पर मिट्टी चिपका दी जाय और उस का तेज मिट्टी से चिपक जाने के कारण प्रदीप्त न हो और जब उसे धो डालें तो उस की चमक प्रकट हो जाय, उसी प्रकार मूल जीवात्मा ब्रह्म का तेज है जो अविद्या और भ्रान्ति की मृत्तिका के कारण प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जब उसे तप और ज्ञान से शुद्ध करते हैं तो वह ब्रह्म-तेज प्रकाशित और प्रकट हो जाता है । उस [मायिक] का शोक दूर हो जाता है । उस के कार्य और स्वभाव उस पर पूर्ण हो जाते हैं [अर्थात् वह वृत्त-मय हो जाता है,] । उस के लिए कोई मनस्य शेष नहीं रहता और वह अद्वितीय हो जाता है । [१४]

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व  
दीपोपमेनेह युजत. प्रपश्येत्,  
अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वेर् विशुद्ध  
ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापैः ॥ १५ ॥

अनु०—जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाशस्वरूप आत्मभाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा, निश्चल, और समस्त तत्त्वों से विशुद्ध देव की जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है । (१५)

मि० ४०—जीवात्मा की उद्योति की दीप बना कर और पवित्र ब्रह्म का साक्षात्कार कर के उस से एकीभूत हो जाना चाहिए । यह मूल-सत्ता अजन्मा है, निश्चल है, समी में विशुद्ध है, और प्रकाशस्वरूप है । [तात्पर्य] उन्हे जान कर पापों के सम्पूर्ण बन्धन से मुक्त हो जाता है । [१५]

एष ह देव प्रदिशोऽनु सर्वा,  
पूर्वा ह जात, स उ गर्भे अन्तः,  
स एव जान, स जनिष्यमाण,  
प्रत्यङ् जनाम् तिष्ठति सर्वतोमुख ॥ १६ ॥

अनु०—यह देव ही सम्पूर्ण दिशा विदिशा की ओर उन्मुख है, यही पहले उत्पन्न हुआ था, यही गर्म के भीतर है, यही उत्पन्न हुआ है, यही उत्पन्न होने वाला है, यह समस्त जीवों में प्रतिष्ठित और सर्वतोमुख है । (१६)

ति० अ०—वह ब्रह्म समस्त दिशा विदिशा में व्याप्त हो कर स्थित है, सब से पहले प्रकट हुआ है, समस्त जगत् के भीतर बड़ी है, ओ भी हुआ है बड़ी है, जो भी है बड़ी है, जो भी होगा बड़ी है । हे मनुष्यो ! चाहे जिस ओर देखो उधर ही उस का मुख है । [१६]

यो देवो अग्नी, यो अप्सु, यो विश्व भुवनमाविवेश,  
य ओपधीषु, यो वनस्पतिषु, तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १७ ॥

अनु०—जो देव अग्नि में है, जो जल में है, जिस में सम्पूर्ण भुवन को व्याप्त कर रखा है, जो ओपधि और वनस्पतिओं में है, उस देव को नमस्कार है, नमस्कार है । (१७)

ति० अ०—अग्नि में जो प्रकाश है वह बड़ी है । जल में जो प्रकाश है वह बड़ी है । उस का प्रकाश सभी लोकों में व्याप्त है । उस का प्रकाश सभी ओपधि-वनस्पतिओं में व्याप्त है । उस प्रकाशस्वरूप सत्ता को नमस्कार ! नमस्कार ! [१७]

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

## तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभि,  
सर्वाल् लोकानीशत ईशनीभि.,  
य एवंक उद्भवे सम्भवे च  
य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ १ ॥

अनु०—जो एक जालवान् (मायावी) [अपनी] ईश्वरीय शक्तिओं से शासन करता है, जो [अपनी] ईश्वरीय शक्ति से सभी लोकों का शासन करता है, जो ही [उन में] उद्भव और विवास में अवस्था [स्थित रहता है]—उसे जो जानने हैं वे जमर हो जाते हैं । (१)

सि० अ०—जो एकमात्र सत्ता है, जिस में द्वैत नहीं है जो विविध प्रकार की शक्तिशा से सब का शासन करता है, जो सभी लाका और सभी प्राणियों पर अपनी ही शक्ति से शासन करता है वह सब के आविर्भाव के पूर्व एव था और आविर्भाव काल में भी एव ही है। जो कोई इस अद्वैत सत्ता को जानता है वह अमर हो जाता है । [१]

एको हि रुद्रो—न द्वितीयाय तस्थुर्—

य इमां लोकोनीशत ईशनीभि,

प्रत्यङ् जनास् तिष्ठति, सञ्चुकोचान्तकाले

समृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥ २ ॥

अनु०—रुद्र एक ही है—[जानी] दूसरे के लिए नहीं होते—जो [अपनी] ईश्वरीय शक्तियों द्वारा इन लोकों का शासन करता है, [जो] प्राणियों के समस्त स्थित है, जो समस्त लोकों की रचना कर पालन करते हुए प्रलयकाल में उन्हें समेट लेता है । (२)

सि० अ०—वह रुद्र एक है जो सब का सहर्ता है। उस के सद्गुण कोई और नहीं। वह अपनी ही सामर्थ्य से समस्त लोकों का स्वामी है। वह महाप्रलय में समस्त लोका का अपने भीतर लय कर लेता है और समस्त लोकों को उन लोकों के भीतर जो कुछ है उस के साथ उत्पन्न कर के एव उस के अनन्तर [उन का] पालन कर के अपने में लीन कर लेता है । [२]

विश्वतश्चक्षुरुत,

विश्वतोमुखो,

विश्वतोबाहुरुत,

विश्वतस्पात् ।

स चाहुभ्या धमति<sup>१</sup> स पतन्नैर्

चावाभूमी जनयन् देव एक ॥ ३ ॥<sup>२</sup>

अनु०—[वह] सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर भुजाओं वाला, और सब ओर पैरों वाला है। वह एकमात्र देव चुनीक और पृथ्वी की रचना करता हुआ दोनों भुजाओं और पंखों (पंखों) से शब्द करता है । (३)

<sup>१</sup> कुल्लनिय शब्दे १०७०२।

<sup>२</sup> शब्दे १०८१३ यदुर्वेद २७१० शब्दवेद १३०२६ तैत्तिरीयसंहिता ४६३६ तैत्तिरीयारण्यक १०११६ मैत्रायणीयानि ७१०७ (अन्तिम बार इसी पर डि० च० पाठवेद के साथ) ।

सि० अ०—सभी जोर उसी के नेत्र हैं सभी बार सभी के मुख हैं सभी ओर उसी को मुजार्ते हैं सभी जोर उसी के पैर हैं। वह सभी से अपने हाथ से बाध कराना है, सभी पशिया को पया से उठाना है। पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न कर व उन के मध्य वह अनेका प्रकाशित हो रहा है। [३]

यो देवाना प्रभवश् चोद्भवश् च,  
विश्वाधिपो, रद्रो, महर्षि,  
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं,  
स नो बुद्ध्या शुभया सयुक्तनु ॥ ४ ॥<sup>१</sup>

अनु०—जो देवताओं का उद्गम और उत्स है, [जो] जगत्पति, रद्र, और सर्वज्ञ है, जिस ने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था, वह हम शुभ बुद्धि से सयुक्त करे। (४)

सि० अ०—सभी देवता उसी के आर्तिभूत हुए हैं और सभी देवता उसी से चीन शने हैं। वह सभी ज्ञाता का स्वामी है और सभी सोना का सहर्ता भी है। वह महामानी है। उसी ने सब से पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया। वह एवमास प्रकाशस्वरूप सत्ता जिस ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया है हम ज्ञान प्राप्ति करायें ताकि हम जानें कि हम कही हैं। [८]

या ते रद्र ! शिवा तनूरघोरापापकाशिनी  
तया तस् तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचारक्षीहि ॥ ५ ॥<sup>२</sup>

अनु०—हे रद्र ! हे गिरिशन्त (पर्वतो में बसने वाले) ! तुम्हारी जो मङ्गलमयी, शान्त, और पुण्यप्रवाशिनी मूर्ति है, उस मङ्गलमयी मूर्ति के द्वारा तुम [हमें] देखो। (५)

सि० अ०—हे रद्र ! सकलहारक ! तुम्हारा जो रूप भगवन्मय है भयावह नहीं है पापा का नाशक है जिस रूप से वायु-रूप होता है और संताप पथत में मग्न होता है उसी रूप से हम पर दृष्टिपात कर। [३]

यामिषु गिरिशन्त ! हस्ते विभर्ष्यस्तवे  
शिवा गिरिन्त ! ता कुरु, मा हिष्ण सी पुरुष जगत् ॥ ६ ॥<sup>३</sup>

१ किञ्चित् पाठान्तर से ४१२ अथर्ववेदीय महाभारतपुनिषद् १०३।

२ किञ्चित् पाठान्तर से यजुर्वेद १६२।

३ यजुर्वेद १६३।



अनु०—हे गिरिशन्त ! हे गिरिज (पवता के रक्षक) ! तुम प्रहारार्थ अपने हाथ में जो बाण धारण किये रहते हो उसे मङ्गलमय करो, किसी पुरुष या पशु की हिंसा मत करो । (६)

सि० अ०—हे महाशीलवासी ! उस बाण से हमारा मंगल कर और अपने माम के किसी पथिक पर उस बाण का प्रहार न कर अर्थात् अपने माम के प्रति अमानि न बना । [६]

तत पर, ब्रह्मपर, बृहन्त,  
मथानिदाय सर्वभूतेषु गूढम्,  
विष्वत्स्यैक परिचेष्टितार-  
भीश त ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥ ७ ॥

अनु०—उस [सद्र, जगत अथवा हिरण्यवर्ग] से परे जो परब्रह्म है महान है जो समस्त प्राणियों में उन के शरीर के अनुसार छिपा हुआ है, तथा विश्व का एक मात्र आच्छादक है उस परमेश्वर को जान कर [जीयमण] अमर हो जाते हैं । (७)

सि० अ०—वह परब्रह्म है हर रूप में वही रूप धारण किये हुए है उस में अन्तर्हित है समस्त जगत में व्याप्त है । उस अग्नि जिस वस्तु में व्याप्त होती है उसे अपने ही रूप का कर देती है उसी प्रकार वह भी जिस किसी वस्तु में व्याप्त होता है उसे अपने ही रूप का कर देता है । ईश्वर को इन प्रकार जान कर मनुष्य अमर हो जाता है । [७]

वेदाहमेत पुरप, महान्त-  
मादित्यवर्ण, तमस परस्तात् ।  
तमेव विदित्वाऽति भृशुमेति,  
नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

अनु०—मैं इस अपानातीत प्रवाशम्यरूप महान् पुरुष को जानता हूँ । उस ही जान कर [पुरुष] मृत्यु को धार करता है परमपद में लिए भाई और माग नहीं है । (८)

सि० अ०—श्वेताश्वतरो ने शिष्यों से कहा कि मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ। यह महान् पुरुष ज्योतिमय सूर्य के समान है और अज्ञानान्धकार से परे। जो कोई इस प्रकार जानता है वह मृत्यु को तर कर, अमर हो कर, अक्षत रहता है उस तक पहुँच जाता है। उस की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। [८]

यस्मात् पर नापरमस्ति किञ्चिद्,  
यस्मान् नाणीयो न ज्यायोऽस्ति वश्चित्,  
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्,  
तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

अनु०—जित से उत्कृष्ट और कोई नहीं है, जिस से छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है, जो धुलोक में वृक्ष के समान अकेला निश्चलभाव से स्थित है, उसी पुरुष ने इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है। (९)

सि० अ०—हिरण्यगर्भ ने बड़ी कोई और सत्ता नहीं है। कोई भी सत्ता या तत्व उस से बड़ा नहीं है। और उस से सूक्ष्मतर भी कोई सत्ता नहीं है। वह एक वृक्ष है, सीधा और निश्चल। समस्त जगत् में वह वृक्ष अकेला है। उस में समस्त जगत् पूर्ण है और वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। [९]

ततो यदुत्तरतर तदरूपमनामयम् ।

य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्त्यथेरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ १० ॥

अनु०—उस से जो उत्कृष्टतर है वह अरूप और अनामय है। उन्हे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं, अन्य तो दुःख को ही प्राप्त होते हैं। (१०)

सि० अ०—जो हिरण्यगर्भ से उत्कृष्टतर है वह निराकार और निर्गुण है। यही निर्गुण जगत् के प्रारम्भ के समय एकात्म सगुण हो जाता है और जगत् के लय हो जाने पर एकात्म निगुण। वह निगुण दुःख से शून्य है। [१०]

सर्वानिन्शिरोग्रीव , सर्वभूतगुहाशय ,

सर्वव्यापी स भगवास्, तस्मात् सर्वगत शिव ॥ ११ ॥

अनु०—वह भगवान् समस्त मुखों वाला, समस्त शिरो वाला, और समस्त ग्रीवाओं वाला है, वह समस्त जीवों के अन्तःकरण में स्थित और सर्वव्यापी है। इसलिए [वह] सर्वगत और भज्यस्वरूप है। (११)

१ अन्तिम वाक्य बृहदारण्यक उपनिषद् ८.८.१४ में भी प्राप्त हुआ है।

सि० अ०—गमस्त जानन उसी के जानन हैं, गमस्त सिर उसी के सिर हैं, गमस्त घीवाए उसी की घीवा हैं। वह सभी प्राणियों की हृदय-गुहा में निहित है, सर्वव्यापक है, उपास्य है। इसी कारण वह जानन्दस्वरूप सर्वगत है। [११]

महान् प्रभुर् वं पुरुषः, सत्त्वस्यैव प्रवर्तकः।

सुनिर्मलामिमा प्राप्तिमीशानो, ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥<sup>१</sup>

अनु०—यह पुरुष महान्, परमसमर्थ, इस निर्मल प्राप्ति के उद्देश्य से भक्त करण को प्रेरित करने वाला, सब का नियन्ता, प्रकाशस्वरूप, और अविनाशी है। (१२)

सि० अ०—वह प्रभुओं का प्रभु है और सर्वत्र पूर्ण है। वह सभी प्राणियों का प्रेता है। यह परम भुक्ति का स्वामी है, ज्योति स्वरूप है, और अव्यय है। [१२]

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो, जन्तरात्मा,

सदा जनानां हृदये सनिविष्टः,

हृदा, मन्वीशो, मनसाऽभिव्यक्तः।

य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ १३ ॥<sup>२</sup>

अनु०—यह पुरुष अङ्गुष्ठमात्र, अन्तरात्मा, सर्वदा बीयो के हृदय में स्थित; और हृदय, बुद्धि, और मन द्वारा निष्पन्न (अथवा प्रकाशित) है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। (१३)

सि० अ०—चूंकि वह मनुष्य के भक्त करण में, जिता के भीतर विद्यमान आराधन पुरुष के अङ्गुष्ठ के आकार का है, स्थित है, अतः उसे 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' कहते हैं। अगमों वह आराधन के परे हैं। चूंकि वह समस्त प्राणियों के हृदय में उन के हृदयावाच के बराबर है, अतः वह उन मनीषा से जाना जाता है जो हृदय को अभिहित विषय हूँ है। जो कोई उसे जान लेता है वह अमर हो जाता है। [१३]

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥<sup>३</sup>

<sup>१</sup> 'मनीषा' अर्थात् बुद्धि प्रदीपना है जैसा ८१७ और कटापर्विद् ७३८ में प्रयुक्त हुआ है। <sup>२</sup> तुलसीय ८१७ कटापर्विद् ७३१७, १७, २३, १७१

<sup>३</sup> आनन्द १०८०१, यजुर्वेद ३११ भाग १६१८, अथर्ववेद १६.६.१, तैत्तिरीयारण्यक ३.१२१—कही कही सिन्धु पाठानुसृत का मध्य।

अनु०—पुरुष सहस्र शिर, सहस्र नेत्र, और सहस्र चरणों वाला है। वह भूमि को सब ओर से व्याप्त कर उस का दस अंगुल अतिक्रमण कर के स्थित है। (१४)

सि० अ०—उम ध्रुव के अनन्त निर है, बाह्य और आन्तरिक अनन्त नत्र है, और वह समस्त महाभूता को व्याप्त कर के दस अंगुल ऊपर रहता है—नाभि स वसु स्थल के भीतर हृदय तक। [१४]

पुरुष एवेदं सर्वं, यद् भूत यच् च भव्यम्,  
उतामृतत्वस्येशानो, यदन्नेनातिरोहति ॥ १५ ॥<sup>१</sup>

अनु०—जो कुछ भूत और भविष्यत् है एवं जो अन्न के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है वह सब पुरुष ही है, तथा वही अमृतत्व का भी प्रभु है। (१५)

सि० अ०—जो कुछ दिखायी देता है, जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह पुरुष ही है। वह योगदाता है। वह माया अर्थात् वासनाया से बहुरूप भासता है। जो कुछ माया के कारण ध्रुव प्रतीत होता है वह भी वही है। [१५]

सर्वतः पाणिपाद तत्, सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्,  
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥<sup>२</sup>

अनु०—[उस के] सब ओर हाथ-पाद हैं, सब ओर आँखें, शिर, और मुख हैं, [वह] सर्वत्र कर्णों वाला है, एवं लोक में सब को व्याप्त कर के स्थित है। (१६)

सि० अ०—सभी ओर उस के हाथ हैं सभी ओर उस के पैर हैं सभी ओर उस के नेत्र हैं सभी ओर उस के शिर हैं सभी ओर उस के मुख हैं सभी ओर उस के कान हैं। वह सब को व्याप्त किये हुए है। [१६]

सर्वेन्द्रियगुणाभास, सर्वेन्द्रियविवर्जितम्,<sup>३</sup>  
सर्वस्य प्रभुमीशान, सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ १७ ॥

१ अथ १०.६०२, अथर्ववेद २१.२ सामवेद १६०० अथर्ववेद १६.६४, वैतिरीयारण्यक ३.१२१—किञ्चित् पाठान्तर के साथ।

२ गीता १३.१३।

३ यह चरख गीता १३.१४ में भी आता है।

अनु०—[वह] समस्त इन्द्रिय-गुणों के रूप में अवभासित होता हुआ भी समस्त इन्द्रियों से रहित है, सब का प्रभु, शासक, और सब का बड़ा आश्रय है । (१७)

नि० अ०—वह समस्त इन्द्रिया और इन्द्रिय ज्ञाना को प्रकाशित करता है और समस्त इन्द्रिया से परे है । सब का स्वामी, सब का ईश्वर, और सब की धारण करी है । (१७)

नवद्वारे पुरे' देही हृत्सो लेलायते वहि ।

वशी सर्वस्य लोकस्य स्यावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

अनु०—सम्पूर्ण स्थावर-जगम जगत् का स्वामी यह हस्त (परमात्मा) सब द्वार वाले [देहरूप] पुर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा किया करता है । (१८)

ति० अ०—यह सब का क्षेत्र है । अनुष्व का शरीर एक नगर है जिस के नौ द्वार हैं । उस में जीवामा है जिस का नाम हस्त है । वह आग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था, और तुरीयावस्था इन चार अवस्थाओं में विहार करता है । यद्यपि यह इन चार अवस्थाओं में विहार करता है, तथापि वह सभी से परे, निमित्त, और बाह्य है । सभी जगम और स्थावर उस के अधीन हैं । (१८)

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,

पश्यत्यचक्षुः, स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता ।

तमाहुरम्य पुरुष महान्तम् ॥ १९ ॥

अनु०—यह हम-साँव से रहित हो कर भी वेगवान् और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन हो कर भी देखता है, शर्णरहित हो कर भी श्रुता है । यह ज्ञातव्य को जानता है, किन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है । उसे आदि, पूर्ण, एवं महान् पुरुष कहा है । (१९)

नि० अ०—यद्यपि उस के हाथ और पैर नहीं हैं, तथापि वह ग्रहण करता और करता है, और ब्रह्म है और दण्डा है, जान नहीं है और श्रुता है । यह सभी ज्ञातव्य विषय का ज्ञाता है और उस का ज्ञाता कोई नहीं । यह सर्वत्र पूरा है और सब का मूल है । महान्त का अर्थ उसे सब से बड़ा कहो है । (१९)

अणोरणीयान्, महतो ः महीयान्,  
आत्मा गुह्यायां निहितोऽस्य जन्तोः ।  
तमकृतुं पश्यति बीतशोको  
धातुः प्रसादान् महिमानमीशम् ॥ २० ॥<sup>१</sup>

अनु०—यह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा इस जीव के अन्तःकरण में निहित है । उस एकत्वज्ञान्य महिमानम ईश्वर को जो विघाता की कृपा से देखता है वह शोकरहित हो जाता है । (२०)

सि० अ०—वह सभी व्यापको में व्यापक है और ब्रह्म से सुश्रुत है । वह हृदय-गुहा में बसना है । आत्मा ऐसा ही है । वह अकाम है । वह हमारी ओर कृपाश्रुति रखे । जो कोई उस का दर्शन कर लेता है वह शोकरहित हो जाता है । वह ईश्वर है जो साक्षात् साहाय्य-स्वरूप है । [२०]

वेदाहमेतमजरं, पुराणं,  
सर्वस्मानं, सर्वगत विभुत्वात्,  
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य  
ब्रह्मवादिनो हि, प्रवदन्ति नित्यम् ॥ २१ ॥

अनु०—ब्रह्मवेत्ता जिस के जन्म का अभाव बतलाते हैं और जिसे नित्य कहते हैं उस जराशून्य पुरातन सर्वस्मा को, जो विभु होने के कारण सर्वगत है, मैं जानता हूँ । (२१)

सि० अ०—श्वेताश्वतर ने अपने शिष्यों से कहा मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो पुरातन है, अजर है, सर्वस्मा है, सर्वगत है, और विभु है । उसे जानने वाला पुरुष किसी भी लोक में जन्म नहीं लेता । उस के विषय में ब्रह्मवादियों का कहना है कि उस का न अदि है और न अन्त, और कि वह नित्य है । [२१]

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

## चतुर्थोऽध्यायः

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्  
वर्णानेकान् निहितार्थो दधाति  
वि चेति चान्ते विश्वमादौ स देव ।

स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु ॥ १ ॥

अनु०—जो एक अवर्ण हो कर भी विविध शक्तियाँ व याग स और किसी गुप्त प्रयोजन से नाना वर्ण धारण करता है और जिस अपन आदि और अन्त रूपी सत्ता में विश्व तीन हो जाता है वही देव है । वह हम पुन बुद्धि से समुक्त कर । (१)

ति० अ०—ब्रह्म एकमात्र सत्ता है । उस में काश्च एक वही किन्तु अपनी विविध प्रकार की शक्तियाँ व योग स विविध प्रकार व रंगों का व्यक्त करता है । उस में जो कुछ उत्पन्न किया है उस सब का अन्त अपन में सब कर व पुन अपन में प्रवृत्त करता है । अवेलावत्तर न वही—वह एकमात्र ग्याति स्वरूप सत्ता है । पुन वह मान प्राप्त करा दे जिस स में जानने लगे कि मैं वही हूँ । (१)

तदवाग्निम्, तदादित्यस्, तद् वायुस्, तद् चन्द्रमा,  
तदेव धुन, तद् ब्रह्म, तदापस् तत् प्रजापति ॥ २ ॥<sup>१</sup>

अनु०—वही अग्नि है वही सूर्य है वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही गुन (गुड) है, वही ब्रह्म है वही जन है वही प्रजापति है । (२)

ति० अ०—वही अग्नि है वही सूर्य है वही वायु है वही अतोमय है अर्थात् कुर्मी (देवायन) । वही हिरण्यगर्भ है वही वरुण है अर्थात् जल का देवता वही प्रजापति है अर्थात् ममन्त मृष्टि का देवता । (२)

त्य स्त्री त्व पुमानसि, त्व पुमान् उत वा कुमारो,  
त्व जीर्णो दण्डन यञ्चमि, त्व जातो भवमि विश्वतामुग्र ॥ ३ ॥<sup>१</sup>

अनु०—तू स्त्री है तू पुरुष है तू ही कुमार या कुमारी है तू ही वृद्ध हो कर दण्ड व संहार करता है तू ही [प्राञ्चरूप में] उत्पन्न हान पर सयतामुग्र (अथवा बहुरूप) हो जाता है । (३)

<sup>१</sup> म ३४६ २० १ (दि० ज १ पाठो ६ स) ।

२ म ३४६ १० ७ ।

नि० ४०—इस के अनंतर श्वेताश्वतर ने कहा—तू स्त्री है, तू पुण्य है, तू कुमार है, तू कुमारी है, तू ही बुद्ध हो कर दण्ड के सहारे मनुष्य को कुमार्य पर डाल देता है ।<sup>१</sup> तू ही आविर्भूत हो कर सर्वत्र प्रतिभात हो रहा है । [३]

नील पतङ्गो, हरितो, लोहिताक्षस्,  
तडिद्गर्भं, ऋतव, समुद्रा ।  
अनादिमत् त्व, विभुत्वेन वर्तसे,  
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

अनु०—तू ही नीलवर्ण भ्रमर, हरितवर्ण, लाल आँखोंवाला, मेघ, [प्रोष्मादि] ऋतु, और [सप्त] समुद्र है । तू अनादि है, सर्वत्र व्याप्त हो कर स्थित है, तथा तुझ ही से समस्त भुवन उत्पन्न हुए हैं । (४)

नि० ४०—श्याम वर्ण का पक्षी तू ही है हरितवर्ण का पक्षी तू ही है, लाल आँखों वाला पक्षी तू ही है, विजलियों वाला चारल तू ही है, उह ऋतुओं वाला तू ही है, समस्त समुद्र तू ही है, जिस का आदि नहीं है वह तू ही है, जिस का अन्त नहीं है वह तू ही है, समस्त लोक चौका तर तेरे ही द्वारा आविर्भूत हुए हैं, और तेरा ही रूप है । [४]

अजामेका, लोहितशुक्लकृष्णा,  
वह्नी प्रजा मृजमाना सरूपा  
अजो ह्येको जुपमाणोजुशेते,  
जहात्येना भुक्तभोगामजोज्य ॥ ५ ॥<sup>१</sup>

अनु०—अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित, शुक्ल, और कृष्ण वर्ण की अजा (बकरी-प्रभृति) को एक अज (बकरा-जीव)

१ 'मनुष्य को कुमार्य पर डाल देता है', यह भूत कारणीयावय 'मर्त्यं रा व गतं भी अन्वाजी का अनुवाद है । उपनिषद् का मूल वाक्य है 'वर्णने वञ्चति । इस में जो वञ्चति किया है उस में वारा की वञ्चना कर दी है । 'वञ्च' यातु का अर्थ गमन करना भी होता है, और यहाँ यहाँ अभिप्रेत है, ठगना या उन्मार्गगामी करना नहीं । अस्तु, सा भ्रम की शक्याचार्य ने टीका नहीं की है ।

२ यहाँ नीलो जल जण्ड रज्जु स्वर और नयन की प्रतीति हैं । दा अज्ञो में से पर है जीवात्मा और दूसरा परमात्मा । वह नर निम्न पशुभेद से वैतिरीपायक (१० १०५) में भी आता है ।



सेवा करता हुआ भोगता है [और एव] दूसरा जब उस भुक्तभागा (भोगी हुई) का त्याग देता है । (५)

ति० ब०—माया तेरी ही इच्छा है बनादि, अनेली । उस के तीन वण हैं—अर्थात् लाल श्वेत और श्याम । तेरी इच्छा के तीन गुण हैं जिस से भूतो में तीन गुण आविर्भूत हुए हैं । जीवात्मा नित्य है अद्वैत है । माया जो तेरी इच्छा शक्ति है उस से एक हो कर विद्यमान है । जीवात्मा ही परमात्मा हो जाता है जब जानी उस [माया] का भोग कर के उस से मुक्त हो जावे है । [५]

द्वा सुपुर्णा सुयुजा सखाया  
समान वृक्ष परि पस्वजाते ।  
तयोर्न्य पिप्पल स्वाद्वत्त्य-  
नशनम्रन्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥

अनु०—साथ साथ रहने वाले दो पक्षी सखा एव ही वृक्ष का आश्रय कर के रहते हैं । उन में एव तो स्वादिष्ट पिप्पल (बर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न कर के केवल देखता रहता है । (६)

ति० ब०—जो पक्षी हैं जो पुरुष और उन के प्रतिबिम्ब के समान प्रतिभात होते हैं । उस में मे अत्येव एक दूसरे का सखा है । ये एव ही शरीर-बुध पर विराजमान हैं । उन में स जो प्रतिबिम्बस्वरूप है वह उस बुध के फलस्वरूप बर्मफल का उपभोग करता है दूसरा उपभोग नहीं करता और द्रष्टा मात्र है । [६]

समाने वृक्षे पुरपो निमग्नो  
अनीशया शोचति मुह्यमान ।  
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीश-  
मस्य महिमानमिति वीतशोक ॥ ७ ॥

अनु०—[ईश्वर के साथ] एव ही वृक्ष स सदाय जीव दीनता के कारण मोहित हो कर शोक करता है । वह जिस समय अपन स भिन्न आनन्द स्वरूप ईश्वर और उस की महिमा का देखना है उस समय शोक-रहित हो जाता है । (७)

गि० अ०—जो कर्मफल को प्राप्ति के लिए उस मृदा में धातवत् हो जाता है और अपने स्वामी को भूल जाता है वह प्रमाद और अज्ञान के कारण शोकानुस हो जाता है और अपने परमेश्वर को जान लेता है [और यह भी] कि मैं जीवात्मा और प्रतिविम्ब मात्र हूँ और वह पक्षी हूँ जो परमात्मा है तो वह शोक रहित हो जाता है। [७]

नृचो अक्षरे परमे व्योमन्,  
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निपेदुः ।

यस् त न वेद किमृचा करिष्यति ?

य इत् तद् विदुस् त इमे समासते ॥ ८ ॥<sup>१</sup>

अनु०—जिस में समस्त देवगण प्रतिष्ठित हैं उस अक्षर परव्योम में ही [वेद की] मन्थार्य स्थित है। जो उस को नहीं जानता वह वेदों से ही क्या कर लेगा ? जो उसे जानते हैं वे तो ये सम्मत् रूप से स्थित हैं। (८)

गि० अ०—वह जो अक्षय और विदुः चिदावयव हैं उगी में समस्त वेद और देवता प्रतिष्ठित हैं। जो कोई उसे नहीं जानता उसे मत्ता वेद से क्या लाभ होगा। जो लोग उसे जान जाते हैं वे परमानन्दस्वरूप हो कर उसी में स्थित हो जाते हैं। [८]

छन्दासि, यज्ञा, क्रतवो, व्रतानि,  
भूत, भव्य, यच् च वेदा वदन्ति—  
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् ।

तस्मिण् चान्यो मायया समिरुद्धः ॥ ९ ॥

अनु०—वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान, तथा और भी जो कुछ वेद वर्तताते हैं—वह सब मायावी ईश्वर इस [अक्षर] से ही उत्पन्न करता है। और उस (प्राञ्ज) में ही माया से अन्य (जीवात्मा) बंधा हुआ है। (९)

गि० अ०—अतने भी वेद हैं, जिनने भी बण हैं जिनने भी दास हैं, जिनने भी दास हैं जो भी हुआ है, जो भी होया, वेदों ने जो भी आये हैं, वह सब उगी में आविर्भूत हुआ है। उस ने अपनी माया द्वारा जो उसी की इच्छा है वह सब आविर्भूत किया है और उन आविष्कारों (पुरुषों) में बंध कर रद्द गया है। [९]

माया तु प्रकृति विद्यान्, मायिन तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतैस् तु व्याप्त सर्वमिद जगत् ॥ १० ॥

अनु०—प्रकृति को तो माया जानना चाहिए और महेश्वर का मामावी । उसी के अवयवभूता [अशस्वरूप जीवो] से यह समस्त जगत् व्याप्त है । (१०)

वि० अ०—माया तीनो गुणों का संयोग और साम्यावस्था है और इस माया तथा इच्छा का स्वामी मायी है अर्थात् महेश । समस्त जगत् उस के प्रतिबिम्बों से भरा हुआ है । [१०]

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको,

यस्मिन्निद स च वि चैति सर्वम्,

तमीशान, वरद, देवमीडध

निचाय्येमा शान्तिमत्यन्तमति ॥ ११ ॥

अनु०—जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिस में यह सब सम्भव प्रकार से सम्भव हो कर लीन हो जाता है उस सवनिष्ठा पर देने वाले स्तवनीय देव का साक्षात्कार कर के [साधक] इस परम शान्ति को प्राप्त होता है । (११)

वि० अ०—पराधी के बीचों-बीच वह अकेला है । ने सब प्रलय-काल में उसी में लीन हो जाते हैं और सब काल में उस से निष्पन्न हो जाते हैं । वह ईश्वर वरदाता है । योनिमय है स्तवनीय है । जो कोई उसे इस रूप में निश्चित करके यह जान लेता है कि मैं यही हूँ वह मोक्षरूपी परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है । [११]

यो देवाना प्रभयश् चोद्भवश् च,

विश्वाधिपो, रदो, महर्षि,

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमान,

स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु ॥ १२ ॥

अनु०—जा देवताओं का उद्गम और उस है [जो] जगत् का स्वामी, रद और रावण है जिस ने हिरण्यगर्भ का उत्पन्न होते देखा था, वह हमें बुद्धि से सयुक्त कर । (१२)

सि० अ०—समस्त देवता उसी से आविर्भूत हुए हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। वह सब से बड़ा है उस से बड़ा कोई नहीं। वह रुद्र है, अर्थात् सब का सदायक है। वह महाज्ञानी है। उस ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखा था। वह सत्ता मुझे उस पवित्र बुद्धि को प्राप्त करा दे जिस से मैं जानने लग जाऊँ कि मैं वही हूँ। [१२]

यो देवानामधिपो,  
यस्मिँल् लोका अधिथिता,  
य ईशे अस्य द्विपदश् चतुष्पद  
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥<sup>१</sup>

अनु०—जो देवताओं का स्वामी है, जिस में लोक आधित है, जो इस द्विपद एव चतुष्पद [प्राणिवर्ग] का शासन करता है उस आनन्द-स्वरूप देव की हम हवि के द्वारा उपासना करें। (१३)

सि० अ०—समस्त देवताओं के रहस्यों का ज्ञाता वही है। समस्त जगत् उसी में स्थित है। वही समस्त द्विपदों और चतुष्पदों का स्वामी है। श्वेताश्वतर ने कहा कि मैं उसी सत्ता के लिए समस्त पुण्यों का अनुष्ठान करता हूँ। ऐसी सत्ता को छोड़ कर मैं किस देवता का यजन करूँ ? [१३]

सूक्ष्मातिसूक्ष्म, कलिलस्य मध्ये  
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्,  
विश्वस्यैक परिवेष्टितार,  
ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४ ॥<sup>२</sup>

अनु०—मूढम से भी सूक्ष्म, कलिल के मध्य जगत के स्रष्टा, विश्व के एकमात्र आच्छादक शिव को जान कर [शिव] परम शान्ति प्राप्त करता है। (१४)

१ इस मंत्र का उत्तरार्द्ध अथर्ववेद १०.१२.१३ में भी आता है। कस्मै देवाय का अर्थ 'निम्न देवता की' तथा 'अनाद' के लिए देवता की भी हो सकता है।

२ विश्विष्णु पाठांतर ने साथ ५.१३ तीसरा पाद ३० और ८१६। यहाँ 'कलिल' का अर्थ 'बल्लराम' (प्रोटीप्लास्म) हो सकता है अथवा मूर्ष्टि का मूल उपादान त्रिमे अथर्ववेद १०.१२.६३ में बलिल कहा गया है। कहीं यह कलिल अथवा 'मलिल' हो तो कुनानी दर्शन का हिली (Hyle) नहीं है ? हिली शरीर में टूटना हो गया है।

सि० अ०—वह मूर्ध्नातिमूर्ध्ना है। वह समस्त जगत् में व्याप्त है। वह समस्त जगत् का रचयिता है। समस्त विविध रूप उसी के रूप हैं। वह समस्त जगत् को व्याप्त कर के स्थित है। लोग उस आनन्दस्वरूप को जान कर परम शान्ति प्राप्त कर लेते हैं। [१४]

स एव काले भुवनस्य गोप्ता,  
विश्वाधिपः, सर्वभूतेषु गूढः ।  
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च च,  
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५ ॥

अनु०—वह काल में विश्व का रक्षक है, [यही] विश्व का स्वामी है, [यही] समस्त भूतों में अन्तर्हित है। जिस में ब्रह्मर्षि और देवगण तल्लीन हैं, उसे इस प्रकार जान कर [पुरुष] मृत्यु के पाशों को काट डालता है। [१५]

सि० अ०—वह एक समय जगत् का अपने भीतर ही पावन करता है। वह विश्व का स्वामी है। वह समस्त प्राणियों में अन्तर्हित है और गुह्य रहस्यों का ज्ञाता है। समस्त ब्रह्मर्षि और देवता उस का ज्ञान हो जाने के कारण उस से एकीभूत हो जाते हैं और उस को अपना ही स्वरूप जानते हुए मृत्यु के पाश को काट डालते हैं। [१५]

घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं,  
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्,  
विश्वस्यैवं परिवेष्टितारं  
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापीः ॥ १६ ॥

अनु०—घृत के ऊपर रहने वाले उस के सार भाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म और सभी भूतों में अन्तर्भाव रूप से स्थित जानकर तथा विश्व के एक मात्र आच्छादक देव शिव को जान कर [पुरुष] समस्त बन्धनों में मुक्त हो जाता है। [१६]

सि० अ०—जिस प्रकार घृत अत्यन्त सूक्ष्म होता है उसी प्रकार वह गंगा गूढतत्वा की सीमा है। वह समस्त भूतों में अन्तर्निहित है, आनन्दस्वरूप है, और समस्त जगत् में व्याप्त है। जो कोई उग्र प्रकाशस्वरूप और अद्वैत गत्ता को जान लेता है वह समस्त बन्धनों से छूट जाता है। [१६]

एष देवो विश्वकर्मा; महात्मा;  
सदा जनानां हृदये सनिविष्टः;  
हृदा, मनीषा, मनसाऽभिवृत्तः ।  
य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ १७ ॥<sup>१</sup>

अनु०—यह देव जगत्कर्ता; महान् आत्मा; और सर्वदा समस्त जीवों के हृदय में अन्तर्निहित; हृदय, मन, और बुद्धि द्वारा निष्पन्न (अथवा प्रकाशित) है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। [१७]

सि० अ०—वह एकमात्र ज्योतिर्मय सत्ता समस्त जगत् का उत्पादक है। वही एकमात्र महात्मा है। वह प्राणियों के अन्तःकरण में सदा सनिविष्ट है। उस के अनिरुद्ध सब कुछ का नियंत्रण करते हुए कुछ प्रज्ञा द्वारा अपने को तद्रूप जान कर उसे प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग उसे जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। [१७]

यदाऽतमस् तन् न दिवा न रात्रिर्,  
न सन् न चासञ्; छिव एव केवलः ।<sup>२</sup>  
तदक्षरं, तत् सवितुर् वरेण्य,<sup>३</sup>  
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

अनु०—जिस समय तमस् नहीं रहता, उस समय न दिन रहता है न रात्रि, न सत् रहता है न असत्; एकमात्र शिव रह जाता है। वह अविनाशी और सवितृ-देव का वरिष्ठ [रूप] है, तथा उसी से पुरातन प्रज्ञा का प्रसार हुआ। (१८)

सि० अ०—जब अज्ञान का अन्वयाभाव हो जाता है, तब न रात्रि होती है न दिन, न तमस् होता है और न मिथ्या—<sup>४</sup> एकमात्र वही आनन्दस्वरूप सत्ता होती है। वह अम्व्य है। उस का प्रकाश सूर्य में भी बड़ा है। प्रज्ञा की शक्ति देने वाला वही है। [१८]

१ तुलनीय ३ १३, कठोपनिषद् ६ ६ ।

२ तुलनीय छान्दोग्योपनिषद् ३ ११ ३, = ४ १-२ ।

३ तुलनीय ऋग्वेद ३ ६२ १० (गायत्रीमन्त्र) ।

४ उपनिषद् के 'सत्' और 'असत्' का अनुवाद 'सत्ता' और 'असत्ता' होना चाहिए था, कि 'सत्य' और 'मित्य' ।

नैनमूर्ध्वं, न तिर्यञ्च, न मध्ये परिजग्रभत् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश ॥ १९ ॥<sup>१</sup>

अनु०—उसे न ऊपर से, न इधर-उधर से, न मध्य में कोई ग्रहण कर सका है । जिस का नाम महद्यश (महान् यश वाला) है उस ग्रह की कोई प्रतिमा (घरावरी करने वाला) नहीं है । [१९]

ति० अ०—उसे न तो ऊपर कह सकते हैं और न अधर, नीर न उसे मध्य ही कह सकते हैं । उसे दिशा भी नहीं कह सकते । उस के बराबर कुछ नहीं है । उस का नाम 'महद्यश' है । [१९]

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य,

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा हृदस्य मनसा य एन-

मेव विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ २० ॥<sup>२</sup>

अनु०—इस का स्वरूप दृष्टि में नहीं ठहरता, न इसे कोई नेत्र द्वारा देख सकता है । जो इस हृदयस्थित परमात्मा का हृदय और मन से इस प्रकार जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं । (२०)

ति० अ०—जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह उस का रूप नहीं है । उसे नेत्रों से देख ही नहीं सकते । उस समस्त अनिश्चर के निषेध द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है अपना अपने को तद्रूप जानकर ही उसे प्राप्ति किया जा सकता है । जो सोम इस प्रकार जानते हैं वे अमर हो जाते हैं । [२०]

अज्ञात इत्येव कश्चिद् भीरु प्रपद्यते ।

रुद्र यत् ते दक्षिण मुख तेन मा पाहि नित्यम् ॥ २१ ॥

अनु०—हे रुद्र ! तुम अज्ञान हो, इसलिए कोई [गुप्त जैसा] भय से शीतर पुष्प तुम्हारी शरण लेता है [और कहता है कि] तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उस से मेरी मर्मादा रक्षा करो । (२१)

ति० अ०—शीतरुद्र न रुद्र किं प्रमाद और अज्ञान के भय में उन नित्य सदा भी शरण नश हैं । हे रुद्र अपना मुख शरण ! अपने उस रूप में जो शताश का हरण करने में समर्थ है तू अज्ञान के दुःख में मेरी भय रक्षा कर । [२१]

१ मनुईद ३० २ ३ (मन० का टावर चरण और मन० ३ का पूर्व चरण) ।

२ क० विदुः ३ ३ (पाण्डित्य के साथ) कश्चिद्वैदिक-द्विधापरोपनिषद् १ १ ।

मा नन् तोवे तनय, मा न आयुषि  
मा नो गोपु, मा नो अश्वेषु रीरिष ।

घोरान् मा नो रुद्र ! मामितो वधीर्,

हविष्मन्त सदमित् त्वा हवामहे ॥ २२ ॥<sup>१</sup>

अनु०—हे रुद्र ! तुम कुपित हो कर हमारे पुत्र पीत आयु पी और अश्वों में घात न करना । क्रोध में हमारे घोड़ों का भी वध न करना । हम हव्य-सामग्री से युक्त हो कर सर्वदा ही तुम्हारा आवाहन करते हैं । (२२)

मि० अ०—मेरे पुत्र-पीत मरी आयु मेरे पशुओं की हानि न पहुँचे—उन का गुम और भग्न हो । हे सर्वेश्वर ! मेरे और मत्स्यधारी बौद्धाओं का वध न कर मेरे पापों के कारण मुझ पर क्रोध न कर । हम हव्य-सामग्री हव्य में दे कर इस लक्ष्मी में तेरा आवाहन करते हैं । [२२]

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

### पञ्चमोऽध्यायः

द्वे असरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते,  
विद्याविद्ये निहिते यत्र शूठ ।

क्षर त्वविद्या ह्यमृत तु विद्या,  
विद्याविद्य ईशते यस्य तु सोऽन्य ॥ १ ॥

अनु०—अविनाशी और अनन्त परब्रह्म में दो हैं जहाँ विद्या और अविद्या दोनों गुप्त रूप से निहित हैं । [उन में] क्षर अविद्या है अमृत विद्या है तथा जो विद्या और अविद्या का सात्तन करता है वह कोई और है । (१)<sup>१</sup>

<sup>१</sup> इतिभूत् पाठान्तर के साथ ऋग्वेद ११४८ चतुर्वेद १६ १६ तैत्तिरीयमहिता ४५ १० ३ ।

२ विद्या अविद्या और ब्रह्म के त्रिक का द्वारस्थ संकेत हमें अथर्ववेद ११ ८ २३ और मनुवेद ४० १२ १४ अथवा ईशोपनिषद् ९—११ में प्राप्त होता है । यह त्रिक गोतोक्त त्रिक स्वर पुण्य अक्षर पुण्य और उत्तम पुण्य/पुरुषोत्तम (गीता १५ १७ १८) ॥ तुलनीय है ।



सि० अ०—दा अक्षर गताएँ हैं जिन का नाश नहीं होता—एक ज्ञाना जीवात्मा और दूसरा भगानी जीवात्मा। ये दोनों अनन्त हैं। ब्रह्म इन दोनों से बना है और उस में विद्या और अविद्या प्रत्येक निहित है। अविद्या नश्वर है और विद्या अविनाशी ब्रह्म जो विद्या और अविद्या का अखिप्छाता है वह इन दोनों से परे है। [१]

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको—

विश्वानि रूपाणि योनीश् च सर्वा—

ऋषिं प्रसूत कपिलं यस् समग्रे

ज्ञानैर् विभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥<sup>१</sup>

अनु०—जो अवेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है—समस्त रूपों और समस्त योनिआ का—तथा जिस ने सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न कपिल ऋषि का ज्ञान सम्पन्न किया था और जन्म लते हुए भी देया था [वही विद्या और अविद्या से भिन्न उन का शासक है]। (२)

सि० अ०—यही एकमात्र सत्ता छोटी और बड़ी सबस्त योनिआ में निहित है। कपिल ज्ञानी जो ऋषि है सब से पूर्व उत्पन्न हुए थे। वह सत्ता कपिल को विविध प्रकार के ज्ञान पिपास से सम्पन्न करती है। कपिल ज्ञानी को ही जो उक्त सत्ता से उत्पन्न हुए थे सब की उत्पत्ति का कारण जानना चाहिए। [२]

एवैव जालं बहुधा विकुर्वन्

नस्मिन् क्षेत्रे सहरत्येष देव ।

भूय सृष्ट्वा पतयस्<sup>२</sup> तथेश

सर्वाधिपत्यं मुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

अनु०—इस संहार क्षण में यह देव एक एक जाल को अनेक प्रकार बिछा कर [अन्त में] सहार करता है। यह महात्मा ईश्वर ही [पला के आरम्भ में] प्रजापतिआ को पुन उत्पन्न कर सब का आधिपत्य करता है। (३)

१ मंत्र ४१२ का तुलना करो पर कपिल और विष्णुपराय मन्त्र वाचक प्रयोग हो रहे हैं। मंत्र ३४ भी तुलनीय है।

२ पतय का अर्थ गिराया। ये मूर्तिवि आदि प्रजापति किया है। पाठ कटी-कटी पतय मिलता है जो अविच्छिन्न सत्ता का लक्षण है। मन्त्र बड़ी शक्ति है। अनेक १० १२ ३ में द्विगुणपराय (Demiurges) के जन्म से आया है ३। अन्त की सृष्टि में सहायक हुए थे।

वि० अ०—यह कथोक्तिस्वरूप विष्णु सत्ता विष्णु का ज्ञान होता है और उस से भूत-तत्त्व सब समेट कर विष्णु की साम्यावस्था में लीन कर देता है। गुण वह प्रकृतस्वरूप महात् आत्मा और ईश्वर जगत् में समस्त प्रजापतिओं को उत्पन्न कर के सब का शासन और आधिपत्य करता है। [३]

सर्वं दिश ऊर्ध्वमधश् च तिर्यग्  
प्रकाशयन् भ्राजते महत्तज्जान्,  
एष स देवो भगवान् वरेण्यो  
योनिस्वभावाद्यधिष्ठित्येषा ॥ ४ ॥

अनु०—जित प्रकार सूर्य ऊपर, नीचे, तथा इधर-उधर समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार वह ईश्वर, सम्भोजनीय भगवान्, अनेका ही जन्म यों वातों का नियमा करता है। (४)

वि० अ०—जित प्रकार सूर्य सब प्रकाश है और समस्त ऊर्ध्व अध, और तिर्यग् दिशाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार वह अक्षर, महिमानवी, पयोनिर्मेय और वरेण्य सत्ता छोटी और बड़ी समस्त योनिओं में त्रिविध हो कर प्रत्येक को अपने स्वभाव में प्रकाशित और प्रतिष्ठित करती है। [४]

यद् च स्वभावात् पचति विषयमोनि,  
पाच्यंश्च च सर्वान् परिणामयेद् य,  
सर्वमेतद् विषयमधिष्ठित्येषो,  
गुणाश्च च सर्वान् विनियोजयेद् य ॥ ५ ॥

अनु०—जो स्वभावात् को परिपक्व करता है और विषय का मूल है, जो पाच्यो (परिणामयोग्य वस्तुओं) को परिणत करता है, जो अनेका ही इस सम्पूर्ण विषय का नियमा करता है जो [स्वर्गादि] समस्त गुणों को उस से बाधों में विपुल करता है [यह परब्रह्म है]। (५)

वि० अ०—वही सत्ता जो सब की उत्पत्ति का कारण है समस्त भूत का उन से स्वभावों में अनुसार गन्त करके हृत्त उन्हें प्रकाश कर प्रवृत्त देती है और उन्हें त्रिविध रूप और स्वभाव का करता था-मी है उस अन्व रूप और स्वभाव का कर देती है। वही समस्त जगत् का पालन है और वही तीर्त गुणों का प्रवर्त भी है। [५]

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढ,  
 तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।  
 ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद् विदुस्,  
 ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

अनु०—वह वेदा के गुह्यभाग उपनिषदों में निहित है उस वेद-योनि [परमात्मा] को ब्रह्मा जानता है। जो पुरातन देव और ऋषिगण उसे जानते थे वे सद्रूप हो कर अमर ही हो गये थे। (६)

मि० अ०—वह सत्त वैदिक उपनिषदों में जो गोपीय रहस्य हैं निहित हैं। ब्रह्मा उस ब्रह्म को अपना उत्पादक जानता है। पूर्व काल के देवगण और ऋषिगण में से जो भी उस ब्रह्म को जान गये वे सद्रूप हो कर अमर हो गये। [६]

गुणान्वयो य, फलकर्मकर्ता,  
 कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता,  
 स विश्वरूपस् त्रिगुणस्, त्रिवर्त्मा,  
 प्राणाधिप सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

अनु०—जो गुणा [सरस्व रजस और तमस] से सम्बद्ध फलप्रद यम का कर्ता, और उसी विषये हुए यम का उपभाग करन वाला है वह विभिन्न रूपा वाला त्रिगुणमय, [धम अधम और ज्ञान नाम के] तीन भागों से गमन करने वाला प्राणा या अधिष्ठाता अपने कर्मों के अनुसार संचरण करता है। (७)

मि० अ०—जो कोई त्रिगुण की साम्भाव्यता से अपने को अविन परदा है वह फल देने वाला कर्मों का कर्ता होता है अपने कर्मों का यम का स्वाद भी स्वयं चखता है और विविध योनिधा में जन्म उठा है। उस जीवात्मा के तीन भाग हैं। यत् प्राण वा गति म अपने कर्मों के अनुसार आत्मिकर सोचा को प्राप्त होता है। [७]

अगुप्टमादो रवितुल्यरूप  
 सङ्कल्पाहङ्कारमवितो य,  
 गुह्येण गुणेनात्मगुणन चैव  
 आराधमात्रा ह्यपरोऽपि दृष्ट ॥ ८ ॥

अनु०—जो अँगूठे के बराबर, सूर्य के समान ज्योति स्वरूप, सबत्प और अहंकार से युक्त, तथा बुद्धि और शरीर के गुणों से भी युक्त है, वह अल्प (जीव) भी आर की नोक के बराबर आकार वाला देखा गया है। (८)

सि० अ०—वह जीवात्मा पुष्प के अँगूठे के बराबर हृदय रश्मि के मध्य विद्यमान है और सूर्य के समान अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, किन्तु मन के कारण अहंकार और सकल्प के बन्धन में पड़ गया है। वही प्रकाश जो पुष्प के अँगूठे के बराबर है कनिष्ठ सूक्ष्म प्राणियों के अन्त करणों में सुई के बराबर है। [८]

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च  
भागो जीवः स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

अनु०—केश के सौ भागों में विभक्त अग्रभाग का जो सौवाँ भाग है [अर्थात् बाल की नोक का दसहजारवाँ भाग] उस जीव को उस के बराबर जानना चाहिए, और [फिर भी] वह अनन्त ही सिद्ध होता है। (९)

सि० अ०—कनिष्ठ प्राणियों के अन्त करण में, जिस से भी वह सूक्ष्मतर है, उस का परिमाण ऐसा है कि एक बाल की नोक के सौ भाग किये जायें और उन सौ भागों में से एक के पुन सौ भाग कर दिये जायें। [अर्थात् जीव बाल की नोक के दस हजारवाँ भाग के बराबर है।] [वस्तुतः] वह प्राणियों में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विद्यमान है<sup>१</sup>। वही जीवात्मा महान् भूतों में उन भूतों के अन्त करण के अनुरूप अवस्थित है। जब वह अपने को पहचान लेता है तो अन्त हो जाता है। [९]

नैव स्त्री, न पुमानेव, न चैवाय नपुंसकः ।

यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥ १० ॥

अनु०—यह न स्त्री है, न पुरुष है, और न नपुंसक ही है। यह जो जो शरीर धारण करता है उसी-उसी से आविष्ट रहता है। (१०)

सि० अ०—यह जीवात्मा स्त्री भी नहीं है पुरुष भी नहीं है नपुंसक भी नहीं है—यह जिस शरीर में प्रवेश करता है उसी शरीर के अनुरूप नाम ग्रहण करता है। [१०]

१ इस के आग के दो वायव्यों को लेकर फिर से ज्वर ॥ एक नये मंत्र की परिचयना की गयी है।

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्

ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।

कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही

स्थानेषु

रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥ ११ ॥

अनु०—सङ्कल्प, स्पर्श, और दर्शन के मोह से तथा अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि और जन्म होते हैं। यह देही [विभिन्न] योनियों में उन कर्मों के अनुसार एक के बाद दूसरा रूप धारण करता है। (११)

सि० अ०—शरीर मन के सबल्य और स्पर्श की इच्छा के कारण देखन और दान का विचार मन में लाने के कारण सर्वाङ्गित होता है, और अन्न और जल ग्रहण करने से जो शुक बनना है वही शरीर की उत्पत्ति का कारण होता है। मृत्यु के अन्तर्गत वही जीवात्मा कर्मों के अनुसार शरीर धारण कर के कर्मफल का स्वाद भजता है। [११]

स्यूलानि, सूक्ष्माणि, वहूनि चैव

रूपाणि देही स्वगुणैर् दृणोति ।

क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां

सयोगहेतुरपरोऽपि दृष्ट ॥ १२ ॥

अनु०—जीव अपने गुणों (पाप-गुण्यो) के द्वारा स्पूस, सूक्ष्म, और अनेक शरीरों का धारण करता है। उन के परवर्ती सयोग (देहान्तरप्राप्ति) का भी हेतु कर्म के गुण और अपने ही गुण के रूप में देया गया है। (१२)

सि० अ०—सीमा गुणों की आत्मसात् कर के जीवात्मा प्रत्येक अवस्था में स्पूस और सूक्ष्म शरीर ग्रहण करता है। पुण्य और पाप कर्मों में जो फल मिलना है तथा उपायना में जो फल मिलना है, उसी के कारण स्पूस और सूक्ष्म शरीरों का योग होता है। साक्षात् शरीर ग्रहण करने का दूसरा कारण है कर्माशय, जो अन्तःकरण में मुद्रित हो जाता है। [१२]

अनाद्यनन्त कनिनस्य मध्ये,

निश्चम्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैव पञ्चिष्टितार

ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापैः ॥ १३ ॥

१ मुद्रित २, ३ १५, ३ ३, ४ १८, ८ १६, ६ १३ १

अनु०—बलित के मध्य अनादि, अनन्त, विश्व के बहुरूपी रचयिता, विश्व के एकमात्र आच्छादक देव को जान कर [जीव] समस्त पापों से मुक्त हो जाता है । (१३)

ति० अ०—यह जान आदि है न अन्त । वह समस्त सागर वन म साक्षी रूप में स्थित है और समस्त जगत् का उत्पादक है । उस के रूप अनन्त हैं । वह समस्त जगत् को अपने में परिवर्तित किये हुए हैं । वह भूत और उपोनिषद् हैं । जिस किमी को इस प्रकार जान और बोध हो जाता है वह समाप्त बन्धनों और पापों से मुक्त हो जाता है । [१३]

भावब्राह्मणीशास्त्र, भावाभावपर शिवम्,  
पलासर्गकर देव ये विदुस् ते जहुस् तनुम् ॥ १४ ॥

अनु०—भावब्राह्म, अनिनेत (नामन), सृष्टि और प्रलय करने वाले, शिवस्वरूप, एव वसाभा की सृष्टि करने वाले इस देव को जो जान लेते हैं वे शरीर [के बन्धन] को त्याग देते हैं । (१४)

ति० अ०—यह शुद्ध सत्ता अतर्कण की शुद्धता और प्रकाश से जानी जाती है । उस का स्पर्श भी नहीं है और नाम भी नहीं है । वह पालक और सहारक है और ज्ञान-रूपक है । वह निस्व दृष्टा के जगत् की सृष्टि करता है । जो लोग इस उपोनिषद् सत्ता को इस प्रकार जान लेते हैं वे शरीर को त्याग देते हैं । [१४]

॥ इति पञ्चमाध्याय ॥

## पष्ठोऽध्यायः

स्वभावमके कवयो वदन्ति,  
काल तयाज्ये, परिमुह्यमाना ।  
देवस्यैष महिमा तु लोके  
येनेद भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम ॥ १ ॥

अनु०—वर्त मोहग्रस्त विद्वान् स्वभाव को [कारण] वतसाते हैं और दूसरे पान को । यह तो भगवान की महिमा है जिस से यह ब्रह्मचक्र घूम रहा है । (१)

सि० अ०—जिस प्रकार मकड़ी स्वेच्छा से अपने मे से तन्तुओं का जाल बुनती है और [उस से] अपने को आवृत कर उसी में रहती है उसी प्रकार वह एकमात्र ज्योति स्वरूप और अखर सत्ता गुणत्व की साम्यावस्था का अनुवात अपने में से स्वतः प्रकाशित कर स्वयं को उस में आवृत कर के स्थित है। वह अव्यय सत्ता अपने को हम प्रदान करे अर्थात् हम अपने रूप का कर दे। [१०]

एको देव, सर्वभूतेषु गूढ,  
सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा,  
कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास,  
साक्षी चेता, केवलो, निर्गुणश् च ॥ ११ ॥

अनु०—देव एक है, समस्त प्राणियों में निहित, सर्वव्यापक, समस्त भूतो का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, साक्षी, चेतन, केवल, और निर्गुण। (११)

सि० अ०—यह एकमात्र प्रवाहरवरूप देव समस्त भूतो में अन्तर्निहित है सर्वव्यापक है समस्त भूतो का अन्तरात्मा है समस्त कर्मों के जन्म का विधाता है। समस्त भूत उसी में बसते हैं। वह सब का साक्षी है ज्ञानस्वरूप है केवल है और निर्गुण है। [११]

एको, वशी, निष्क्रियाणां बहूना-  
मेक बीज बहुधा य करोति  
तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरास्  
तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

अनु०—जो एक, स्वतन्त्र, परमात्मा बहुतोंसे निष्क्रिय तत्त्वों के एक बीज को अनेक रूप में देता है, अपने अन्तःकरण में स्थित उस [देव] को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हें ही नित्यसुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं। (१२)

सि० अ०—गणी उस के वश में हैं। वही एक मात्र सत्ता बीज से स्थावर और अगम योजिमा को विविध रूप में उद्भाषित करती है। जो जानें उस सत्ता को आत्मरूप देखते हैं आश्चर्य सुख उही का है न कि दूसरे का। [१२]

१. यत्तु शब्द निष्क्रिय पाठान्तर के साथ बटावपीद्वय ७ १० में भी मिलता है।

नित्यो नित्याना, चेतनश् चेतनानाम्,  
एको बहूना यो विदधाति कामान् ।<sup>१</sup>  
तत् कारण साख्ययोगाधिगम्य  
ज्ञात्वा देय मुच्यते सर्वपापै ॥ १३ ॥

अनु०—जो नित्यो में नित्य, चेतनो में चेतन, और अकेला ही बहुतों के भोगों का विधान करता है, उस साख्ययोग द्वारा ज्ञातव्य सर्वकारण देव को जान कर [पुरुष] समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । (१३)

ति० अ०—वह नित्यो में नित्य है, चेतनो में चेतन है । वह एक है और बहुतों की कामनाओं को पूरा करता है । वह समस्त जगत का रक्षिता है । उसे साख्य और योग से प्राप्त किया जा सकता है । जो उस देव को जान लेता है वह सभी पापों से छूट जाता है । [१३]

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारक,  
नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्नि ?  
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,  
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १४ ॥<sup>१</sup>

अनु०—वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारक । [वहाँ] ये विजलियाँ भी नहीं चमकती, फिर यह अग्नि किस गिनती में है ? उस के प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी से प्रकाशमान है । (१४)

ति० अ०—वह सत्ता जहाँ है वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा और न तारक । विद्युत का प्रकाश भी वहाँ नहीं पहुँचता । इस अग्नि का तो कहना ही क्या । वह सभी को प्रकाशित करती है और सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित है । [१४]

एको हृद्यसो भुवनस्यास्य मध्ये ।  
स एवाग्निं सलिले सनिविष्ट ।  
तमेव विदित्वाऽपि मृत्युमेति ।  
नान्यं पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥<sup>१</sup>

१ ये दो पाद कठोपनिषद् १३ में विद्यमान हैं ।

२ कठोपनिषद् २ = १५ सुष्टककठोपनिषद् २२ १० ।

३ अन्तिम दो पाद ३ म और मनुवेद ३१ १० में भी प्राप्त हैं ।



मि० ४०—कुछ सोचा में प्रगाढ़ और अज्ञान भरा हुआ है किन्तु अथन को शायी समझत है और कहत है कि जगत् स्वतः उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं कि जो भी है वह काल है। विन्तु ऐसा नहीं है, बल्कि यह ब्रह्माण्ड उच्च ज्योतिर्मयी सत्ता की महिमा से भूम रहत है। [१]

येनावृत नित्यमिदं हि सर्वं,  
ज, कालकारो, गुणी, सर्वविद्य  
तेनेशित् कर्म विवर्तते ह  
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि—चिन्त्यम् ॥ २ ॥

अनु०—जिस के द्वारा यह सब सर्वदा जाग्रादित है तथा जो ज्ञानस्वरूप, काल का वर्ता, गुणवान् और सर्वज्ञ है उसी से प्रेरित हो कर यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाशरूप कर्म [जगद्रूप से] विवर्तित होता है—उस का चिन्तन करना चाहिए। (२)

मि० ४०—उस में सब से जगत् को परिवेष्टित कर रखा है। वह सब है, वात का भी सहारण है मृत्यु का भी मृत्यु है। समस्त गुण उन्हीं में हैं। समस्त दियाएँ और बलाएँ उन्हीं में हैं। वही कर्मफल का विधाता है। वही है जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के रूप में आविर्भूत हुआ है। ऐसा समझना चाहिए कि सब वही है और समस्त कर्म उन्हीं के निमित्त किये जाते हैं। [२]

तत् कर्म कृत्या, विनिवर्त्य भूयस्,  
तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्—  
एवेन, द्वाभ्या, त्रिभिरप्यभिर् वा—  
बालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मे ॥ ३ ॥

अनु०—उस कर्म का कर के, पुनः निवृत्त हो कर, जो उस तत्त्व के साथ तत्त्व का योग कर के—एक, दो, तीन, या आठ [तत्त्वा के साथ]—तथा बाल और अतः वरुण के सूक्ष्म गुणों के साथ, (३)

मि० ४०—चित्तगुणों के अन्तर्गत कर्मों का त्याग करके तत्त्वा के तत्त्व और मूर्ता के मूल में लक्ष हो जाना है। उक्त का योग या, ३—उक्त गुणों की मूर्ता में उपस्थित क्षात्र विशेष गुण और परम धर्म करके और तृतीय गुण में मूर्ता का भरण करना और मूर्ता का अनुपस्थित आत्मा प्राप्त करना और उक्त विधान में मूर्ता

मग रहना, अर्थात् नित्य भक्ति [की साधना करना] । दूसरा [प्रकार है] अष्टांग-योग का अभ्यास और पुन ज्ञान के अनन्तर प्रत्येक कर्म के फल को चञ्छित कर लेना, पुन दया, क्षमा, और शुचिता का अभ्यास, सदा प्रसन्न रहना, निष्काम दान पुण्य करना, कर्मों को अपने ऊपर महान् (आसान) कर लेना, पिशुनता न रखना, और ब्रह्म की बखीया । इन गुणों से जीवात्मा आत्मा से एक हो कर मुक्त हो जाता है । [३]

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि

भावाश्च च सर्वान् विनियोजयेद् य

तेषामभावे कृतकर्मनाश,

कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्य ॥ ४ ॥

अनु०—जो [पुरुष] [सत्त्वादि-] गुणमय कर्म आरम्भ कर [उन का] और समस्त भावों का विनियोग करता है, उन का अभाव हो जाने से उस के कर्मों का नाश हो जाता है, और कर्मों का क्षय हो जाने पर वह वस्तुतः अन्य ही हो जाता है । (४)

गि० अ०—जिन कर्मों से फल की प्राप्ति होती है उन का अनुष्ठान करते हुए प्रत्येक स्वरूप को उस मूढम ग एक कर के समस्त ईश को तीना गुणों की साम्यावस्था में लकीभूत कर दे । जब इस प्रकार ज्ञान हो जाता है, तो स्थूल और सूक्ष्म सब का नाश हो जाता है, जब इत का नाश हो जाता है, तो कर्मों का नाश हो जाता है, और जब मनुष्य के कर्मों का नाश हो जाता है, तो वह स्वरूप ही हो जाता है और भू, भुव और स्व तीना लोकों से छूट जाता । [४]

आदि स, सयोगनिमित्तहेतु,

परस् त्रिवालादवलोऽपि दृष्ट ।

त विश्वरूप, भवभूतमीड्य,

देव स्वचित्तस्यमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

मि० अ०—जिस प्रकार गन्धों स्वेच्छा से अपने में से तन्मयों का जात हुनती है और [उस से] अपने को आवृत कर उसी में रहती है उसी प्रकार वह एकमात्र ज्योति स्वल्प और अल्प सत्ता गुणत्रय की साम्यावस्था का तन्मुबाल अपने में से स्वत उद्भाविता कर स्वयं को उग में आवृत कर के स्थित है। वह अव्यय सत्ता अपने को हम प्रदान करे, अर्थात् हम अपने रूप का कर दे। [१०]

एको देव, सर्वभूतेषु गूढ,  
सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा,  
कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास,  
साक्षी चेता, केवलो, निर्गुणश्च ॥ ११ ॥

अनु०—देव एव है, समस्त प्राणियों में निहित, सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, साक्षी, चेतन, केवल, और निर्गुण। (११)

मि० अ०—वह एकमात्र प्रकाशस्वरूप देव समस्त भूतों में अन्तर्निहित है सर्वव्यापक है समस्त भूतों का अन्तरात्मा है समस्त कर्मों का कर्ता का विधाता है। समस्त भूत उसी में बसते हैं। वह सन का माक्षी है, शाश्वतस्वरूप है, केवल है, और निर्गुण है। [११]

एको, बली, निष्क्रिमाणा बहूना-  
मेव बीज बहुधा य करोति  
तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरास्  
तेषां सुखं प्राप्नुवत, नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

अनु०—जो एक, स्वल्प, परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय तत्त्वों के एव बीज को अनेक रूप कर देता है, अपने अनवरण में स्थित उस [देव] को जो धीर पुष्ट देखते हैं जन्त ही नित्यसुख प्राप्त होता है, ओरों को नहीं। (१२)

मि० अ०—जहाँ उग के वध में हैं। जहाँ एक मात्र सत्ता बीज में स्थावर और अग्रम योनिता को विविध रूप में उद्भाविता करती है। जो जानी उग गता को आगम्य देखते हैं साश्वत सुख उन्हीं का है, न कि दूसरों का। [१२]

१ मद्रास किन्निक् पाठान्न के नाम कठोपनिषद् २० १० में भी पाया है।

नित्यो नित्याना, चेतनश् चेतनानाम्,  
एको बहूना यो विदधाति कामान् ।<sup>१</sup>  
तत् कारण साध्ययोगाधिगम्य  
ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ॥ १३ ॥

अनु०—जो नित्यो में नित्य, चेतनो में चेतन और अकेला ही बहुतो के भोगो का विधान करता है उस साध्ययोग द्वारा ज्ञातव्य सबकारण देव को जान कर [गुरूप] समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । (१३)

सि० अ०—यह नित्यो में नित्य है चेतनो में चेतन है । यह एक है और बहुतो की कामनाओं को पूरा करता है । यह समस्त जगत का रक्षक है । उसे साध्य और योग से प्राप्त किया जा सकता है । जो उस देव को जान लेता है वह सभी पाशों से छूट जाता है । [१३]

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारक  
नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽप्यग्नि ?  
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,  
तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥ १४ ॥<sup>२</sup>

अनु०—वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे । [वहाँ] ये विजलिया भी नहीं चमकती फिर यह अग्नि किस मिनती में है ? उस के प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी से प्रकाशमान है । (१४)

सि० अ०—यह सत्ता जहाँ है वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा और न तारे । विद्युत् का प्रकाश भी वहाँ नहीं पहुँचा इस अग्नि का तो बहना ही क्या । वह सभी को प्रकाशित करती है और सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित है । [१४]

एको ह्यसौ भुवनस्यास्य मध्ये ।  
स एवाग्नि सलिले सनिविष्ट ।  
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति ।  
नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥<sup>३</sup>

१ ये दो पाद कठोपनिषद् ५.१३ में मिलमान हैं ।

२ कठोपनिषद् २.२.१५ मुण्डकोपनिषद् २.२.१० ।

३ अन्तिम दो पाद १५ और मनुवेद ३.१.१५ में भी प्राप्त ग हैं ।

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच् च ब्रह्म

ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्,

अत्याश्रमिभ्यः परमं - पवित्रं

प्रोवाच सम्यगृपिसंघजुष्टम् ॥ २१ ॥

अनु०—निश्चय ही श्वेताश्वतर ने तपोबल और परमात्मा के प्रसाद से ब्रह्म को जाना [और] ऋपिसमुदाय से रोचित इस परम पवित्र [ब्रह्मतत्त्व] का सन्यासियों को सम्यक् उपदेश किया । (२१)-

सि० अ०—श्वेताश्वतर ने ब्रह्म को तप के प्रभाव से और उसी प्रकारस्वरूप सत्ता के प्रसाद से जाना था । और इस परम पवित्र ज्ञान का उन साधकों को सम्यक् उपदेश किया जो चारों प्रकार के सन्यास का अतिशयण कर के ऊपर उठ चुके थे और जिन की परमहंस सत्ता है । [२१]

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्

नाप्रशान्ताय दातव्यं ना पुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥ २२ ॥

अनु०—वेदान्त में परम गुह्य इस पूर्व कल्प में उपविष्ट [विद्या] को न तो अशान्त को देना चाहिए, न अपुत्र को, और न शिष्य को । (२२)

सि० अ०—इस विद्या के रहस्य को ब्रह्मज्ञानी जानते हैं और पते हैं । यह परम रहस्य गोपनीय उपनिषद् है और वे सदा से इस का उपदेश करते आये हैं । जिस का मन शान्त नहीं हुआ है उसे इस विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, और यदि उपदेश ही करना है तो जो पुत्र योग्य हो और जो शिष्य सत्यनिष्ठ हो उसे उपदेश करना चाहिए । [२२]

यस्म देवे परा भक्तिर्, यथा देवे तथा गुरौ,

तत्स्यते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।

प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २३ ॥

अनु०—जिस की परमेश्वर में परा भक्ति है, जैसी परमेश्वर में वैसी ही गुरु में [भी], उस महात्मा के प्रति ही ये कथित अर्थ प्रकाशित होते हैं, महात्मा के प्रति ही प्रकाशित होते हैं । (२३)

सि० अ०—जिसे देव में परा भक्ति है और वैसी ही श्रद्धा अपने गुरु में भी है उसी महात्मा पर इन उपदेश का अर्थ प्रकाशित होता है । [२३]

॥ इति पट्योऽध्यायः ॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषत् समाप्ता ॥

## सुद्धि-पूत्र

### सिरेखवर की सुमिका

पृष्ठ संख्या	कठिङ्का संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१	सकेत	जिस का सकेत
१८	३	जि-हे	जो
	३	किस ओर से	किस हेतु से
२० (टि०१)	X	सूर बाकिअति ३६ ७८	सू० अम्बुज २१ २२

### उपनिषदें

पृष्ठ-संख्या	मूल संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
५२	३ (सि अ )	उस ने	जिस ने
३१	६	चक्षुषि	चक्षुषि
३५	२ (सि अ )	निमित्ति	निमित्त
४३	१ (सि अ )	जि-हे	जो
४६	७ (अनु०)	बाद	प्राप्त
	८ (सि अ )	शुष्यपा	शुष्यपा
५३	२१	जाने जाने	जाना जाने
६०	५	स्वयधीरा	स्वय धीरा
७३	९	छद्दिष्णो	तद विष्णो
७८	(अनु०)	उस विष्णु के परम पद	विष्णु के उस परम पद
७८	३	आत्मा	जीवात्मा
	,	जानता है	जानता है उसे उस के
	६ (सि अ )	प्रच्छन्न	प्रच्छन्न
९७	१	बह्यतीति	बह्यतीति
१२८	८	तमचपत	तमचपत
१३१ (टि ३)	०	और निषण्टु	छन्द और ष्योतिष
१३९ ( १)	०	चतुदश	चतुदश
१३८	१० (सि अ )	मानता	माना
१४०	३ (अनु०)	पृथ्वी	पृथ्वी [ उपग्रह होती है ]
१४३	१०	ब्रह्मपरामतम	ब्रह्म परामृतम
"	३३	प्रति विचिन्तीहि	प्रति विचिन्तीहि
१४५	४	तसु तद्वयमुच्यते	तत्सद्वयमुच्यते
१७५	१	वद	वद
१७६	द्वादशोऽनुवाक	विष्णु	विष्णु
१७९	१ (सि अ )	अनुहरण	अनुसरण
१८७	२	मानन्द	मानन्द
,	२ (अनु०)	श्रोत्रिय	श्रोत्रिय
१९७	८१	प्रतिष्ठतम	प्रतिष्ठितम्

पृष्ठ संख्या	मूल-संख्या	अशुद्ध-	शुद्ध
२०५	४	नाम्मा	नाम्मा
२०८	३	ना गक्कोद्	नागक्कोद्
२१६	६ (अनु०)	अतोन्द्रिय	अतोन्द्रिय
२१७	३ (अनु०)	देव	देव है
२२१	२ (ति. व)	स्थिति	स्थित
२२६	१० (अनु०)	परिणामी प्रवृत्ति और अविनाशी तथा अपरिणामी	क्षर (परिणामी प्रवृत्ति) और लक्षर (अविनाशी तथा अपरिणामी आत्मा)
२२८	१४ (अनु०)	अरणि	अरणि (अधरारणि)
२३०	१ "	बुद्धि को	बुद्धि को योगमुक्त कर के
"	" "	सत्य के लिए	सत्य के लिए मुक्त करते हुए
"	" "	उने पृथिवी से	पृथिवी से
२३२	६ (ति. व)	प्रकाशमान्	प्रकाशमान
"	७ (अनु०)	निपाद्यमान	रिप्य
२३३	१० "	समतल	समतल हो
"	" "	पवित्र	पवित्र हो
"	" "	गर्वा	गर्वा (बबली)
२३५	१३ (ति. व)	अवायमान	अवल
२३९	२	वस्	वस्
"	"	ऊनुरपोरापावकासिनी	ऊनुरपोराआपकासिनी
२४१	८ (ति. व)	ज्योतिर्मय	ज्योतिर्मय
"	१०	अवन्त्यधेरे	अवन्त्यधेरे
२४३	१६ (अनु०)	तर्बल	तर्ब और
२४६	१	जिस अपने	जिस
२४७	४ (अनु०)	नीलवर्ण छन्द	नीलवर्ण
"	" "	लाल आँखों वाला	और लाल आँखों वाला पतंग (पंजी) है, [ वृ. ही ]
"	५ "	बह्नी	बह्नी
२४९	८ "	कगाएँ	आवाएँ
२५०	१०	महर्षि	महर्षि
२५२	१५ (अनु०)	सत्तोन	तीन
२५३	१७ (ति. व)	जगत का	जगत को
२५५	२२ (अनु०)	अश्वों में	अश्वों का
२६१	१४ (ति. व)	ज्योतिर्मया	ज्योतिर्मयी
४६३	४	जन्ता	जाता है
२६४	७ (अनु०)	परत्पर	परत्पर

# मन्त्रप्रतीक-वर्णानुक्रमणिका

## ईशावास्योपनिषद्

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
बाने । नय सुपथा राये	२८	तदेजति, तन नैजति	२३
अनेजदेक मनसो जवोय	२३	सूपन्नस्ये ! यम । सूर्य !	२७
अ-पतम प्रविशति यस्मिन्नाम	२५	यस्य तु सर्वाणि भूतानि	२३
अथ तम प्रविशति यस्मिन्मूर्तिम	२६	यस्मिन् सर्वाणि भूतानि	२४
अयदेवाहुर विद्याया	२५	आयुरनितममृतमयेदम	२७
अयदेवाहु सम्मवाद्यवाहु	२६	विद्यां चाविद्यां च	२५
अयुर्या नाम ते स्तेका	२२	त यद्यगाच्छुक्रमकायमन्नम	२४
ॐ ईशावास्यमिदं तन्मम	२१	सम्भूतिश्च विनाशश्च	२६
कुवन्नवेह कर्माणि	२२	हिरण्येन पात्रेण	२७

## केनोपनिषद्

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
अथ वायुमबुधन	३७	तस्यै तपो, यम, कर्मेति	४२
अथाध्यात्म पथेति	४१	तेऽस्मिन्मबुधन	३५
अथेन्द्रमबुधन	३८	न तत्र चक्षुर वक्षति	३०
ॐ वेदेवेदीय	३४	वाह मन्ये सुदेदेति	३३
उपनिषद् भो ! कूहि	४१	प्रतिबोधविदितम	३४
ॐ केनेयित पतति प्रवित मन	२९	ब्रह्म ह देवेभ्यो	३५
त ऐक्षत—अस्माकमेवायम	३५	यच्च घस्यवा न पश्यति	३१
तदेन्द्रप्रवत । तमभ्यवदत	३६	यच्छ्रोत्रं न शृणोति	३२
ॐ	३७	यत् प्राणं न प्राणति	३२
तद तद नाम	४१	यदि मायसे सुयेदेति	३२
तस्माद् वा इन्द्रोऽतितराम	४०	यद् वाचाज्जमुवितम	३१
तस्माद् वा एते देवा	३९	यन मनसा न मनुते	३१
तस्मिन्नास रश्मि किं शीघ्रम	३६	अस्मात् तस्य सप्तम	३३
ॐ	३७	यो वा एतामेवम	४२
तस्मै रुण निदधौ	३६	श्रोत्रस्य श्रोत्रम	३०
ॐ	३८	त तस्मिन्नाकागने	३९
तार्यंय आदेशो यदेतत्	४०	ता 'ब्रह्म' इति होवाच	३९



## कठोपनिषद्

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
अग्निर् ययको भुवनस्य	८१	अनाम्यहः प्रेयधि	६२
अद्भुष्टमात्र पुरय	८०	त बुर्वेषं गूढम्	६३
" "	८१	तद्य ह कुमारः सन्तम्	४४
" "	९५	सदेतदिति मयते	८८
अग्नीपतानमृतामाम्	५६	समत्रयोत् प्रीयमाण	५०
अग्नोरणीयान् महत	६७	तां योगमिति ममते	९३
अनुमय यया पुर्वे	४५	तिष्ठो राधीर् यदवातो	४७
अभ्यच्छे योऽभ्यनुतेष	५८	प्रिणाक्षितेसम प्रथम्	५१
अयत्र धर्मादयत्र	६४	प्रिणाक्षितेसम् प्रिमि	५१
अरयोद् निहित	७९	दुरमेते विपरीते	५९
सविद्यायाम तरे	६०	देवैरप्यापि विविक्तिस्तम	५३
अध्यक्षात् तु धर	९१	" " " " " "	५३
अथावमत्पशम	७५	न आपते प्रियते वा	६६
अक्षरीरः शरीरेषु	६८	न तत्र सुयो माति	८८
अस्तीर्येवोपलक्ष्य	९३	न नरेणावरेण	६१
अस्य बिलममानस्य	८४	न प्राणेन मयावेन	८४
असमानः रक्षितम्	७१	न वितेन तर्षणीय	५६
असाप्रतोषो, सगतम्	४६	न सद्गुणे तिष्ठति	९९
आगीनो दूर वज्रति	६७	न सापराय प्रतिभाति	६०
इन्द्रियाणां पुमभावम्	९१	नाक्षितेसमुपस्थानम्	७५
इन्द्रियाणि ह्यमाताहु	७१	नापगाहमा प्रवचनेन	६८
इन्द्रियेभ्य वर मम	९१	माक्षितो बुद्धिरित्तन	६८
इन्द्रियेभ्य वरा	७३	निरयोऽनिरयानाम	८७
इह चेवतान् बोद्धुम्	९०	नैव वाचा, न मनसा	९३
इतिष्ठत आपन	७५	नैवा तर्षण मति	६१
ऊर्ध्वं प्राणमुपसति	७३	परस्य कामानुपसति	७७
ऊर्ध्वमुनोऽपराताल	८९	पराञ्च रात्रि व्यतृणत	७६
ऋतं विवर्तो मुहुरात्र	६९	पीतोदरा, जघनृणा	४४
सुखे वतो सर्वमुतात्तरास्य	८३	पुरमेवादसदुरास्य	८२
एतच्छ्रुत्वा सपरिगृह्य	६४	प्र ते कथीमि, तपु	४९
एतत्तु प यदि मयते	५४	कृतनमेवि प्रथम	४५
एतदात्मनोऽधेष्टम	९५	मयावदप्यतिगु सपनि	१०
एतद्भवेवात्र वज्र	६५	मनसवेदमाप्यस्य	८०
एव तेऽग्निर् नक्षित ।	३२	महत परमव्यतर	७४
एव सर्वेषु सुतपु	७४	मृगुप्रोक्तो नाक्षितोऽथ	१५
ऋतात् ॥ व वाजिपशव	४३	य इम परमम	७६
कामाद्यानि, ज्ञान	६३	य इम मरुदहम	७८

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
य एष गुप्तेषु जायति	८५	ये ये कामा कुतंभा.	५५
यद्येद् बाधमनसो	७४	योनिमन्ये प्रपद्यन्ते	८४
यन्तु चोरेति श्रुयं.	७९	सोकादिमद्विम्	५०
यथाऽद्भ्यो तया	९०	वायुर् वर्षको भुवनम्	८६
यथा पुरस्ताद् भविता	४८	विज्ञानतारविद् यत्तु	७३
यथोदकं दुग्ं मृष्ट	८१	ब्रह्मानर प्रविशति	४६
यथोदकं शुद्धे शुद्धम्	८१	शतं धंरा व हृदयस्य	९४
यथा पञ्चासतिष्ठन्ते	९२	शतायुष पुत्रपोत्रान्	५४
यथा सर्वे प्रमिद्यन्ते	९४	शान्ततत्पर्य सुमना	४७
यथा सर्वे प्रमुच्यन्ते	९४	ध्वजपायादि बहुभि	६०
यदिषं किञ्च जगत्	८९	अथैव च प्रेयस् च	५८
यदेवेह तवमुत्र	८०	इकोपाया मयैव	५५
यत्तु नु विज्ञानवान्	७२	त स्वमन्त्रिः इत्यर्थम्	४९
" "	७२	त एव त्रिगान् प्रियरूपाभ्यां च	५९
यत्तु विज्ञानवान्	७१	सर्वे येरा यत्	६५
" "	७२	सह भावयन्तु	९९
यत्तिमिदं विविचिरसन्ति	५७	त होवाच वितर	४४
यत्तु ब्रह्म च क्षम च	९९	गुणो यथा सर्वलोकाश्च	८९
यः पूर्वं तपसः	७८	स्वप्नान्त जगद्विज्ञात	७५
यः सैतुरीशानाम्	७१	स्वयं सोमे न भयम्	४५
या प्राणेन समवति	७९	ह्यस्त पुत्रियद्	८२
यैत कथं रसम्	७७	हन्त त इदं प्रवहयामि	८४
यैव प्रेने विविचिरसि	५२	हन्ता धेन् मन्त्रे	६६

## प्रश्नोपनिषद्

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
अथैव देव स्वप्ने	११८	अथैव सोमं उदान	११४
अथ स्वप्ने जायमानः	९८	अथोत्तरेण तपसा	१०१
अथ यवि द्विमात्रेण	१२२	अथ ये प्रजापति-	१०४
अथ हैन कोतस्मिन्	१११	अथ द्वय रथनाथो	१०९
अथ हैन भाग्ये	१०७	" "	१२७
अथ हैन शंभु	१२१	अहोरात्रो ये प्रजापति	१०४
अथ हैन सुकेता	१२४	अस्मिन् एव प्राण	११२
अथ हैन तोषाविणी	११६	आदिग्यो ह ये प्राण	९९
अथाविद्य उदयन्	९९	आदित्यो ह ये माहृ	११४

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
इन्द्रस्य त्वं प्राण ! तेजसा	११०	प्रजापतिस् चरति	१०९
उत्पत्तिमायतिम्	११६	प्राणस्येवं यजे	१११
ऋग्भिरेत, यजुभिः	१२४	प्राणान्नय एवंतस्मिन्	११७
एष हि दृष्टा, स्पष्टा	१२०	भासो वै प्रजापतिः	१०३
एषोऽग्निस् तपस्येय	१०९	य एवं विद्वान् प्राणम्	११५
ॐ सुकेशा च भारद्वाजः	९७	यन्मिच्छत्स तेनैष प्राणम्	११५
तद् ये ह खं तत्	१०४	यथा सन्नाडेव	११२
तस्मै स होवाच	९८	यदा त्वमभिवर्षसि	११०
" "	१०७	यदुच्छवातनिःश्वासी	११७
" "	११२	य. पुनरेत निमात्रेण	१२२
" "	११६	या ते तनुद् वाचि	१११
" "	१२१	विक्षानारमा रातु	१२१
" "	१२५	विरवहप हरिणम्	१००
तान् वरिष्ठः प्राणः	१०८	वारयस, स्व प्रार्थक्यिरता	११०
तान् ह स ऋविः	९८	स ईक्षां जज्ञे	१२६
तान् होवाच	१२८	स एष संवदानः	१००
तिस्त्री मामा धृत्पुत्रकः	१२३	स प्राणमवृजत	१२६
तेजो ह वा जदानः	११५	स यथेमा मयः	१२६
ते समचदन्तः	१२८	स यथा, सोम्य !	११९
तेषामसौ विरजः	१०७	स यदा तेजता	११८
वेवानामसि बह्वित्तमः	११०	स यत्तेकमात्रम्	१२२
यश्चपायं पितरम्	१०२	संवत्सरो वै प्रजापतिः	१०१
परमेष्ठः क्षरम्	१२०	सोऽग्निमानाहुर्ध्वम्	१०८
मायूपस्येऽपानम्	११३	हुदि ह्येव भारमा	११३
पृथिवी च पृथिवीमात्रा	१११		

मुण्डकोपनिषद्

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
अग्निर् मूर्धा चलपी	१४१	एतस्माज् जायते प्राणः	१४०
भक्तः समुद्रा गिरयश् च	१४३	एनेषु यत् परते	१३५
अथर्वणे यो प्रचरेत्	१३०	एषोऽग्रातया चेतसा	१३३
अरा इव रयनामी	१४६	एतेहोति सवाहुतपः	१३५
अविद्यामन्तरे	१३६	ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथम	१२९
अविद्यामी बहुधा	१३७	वायान् य वायवते	१४५
आविः तानिहितम्	१४४	वासी वरासी न	१३५
एष्टान् मयमन्तः	१३७	निरावन्त धोनिया	१४८

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
गता कता पञ्चदश	१५७	बृहच्च च तद, दिव्यम्	१५२
तत्रापरा श्रुत्वेव	१३१	बहोवेदममृतम्	१४९
तदेतत् सत्यमृषि	१५९	मिच्छते हृदयप्रति	१४७
तदेतत्सत्य मन्त्रेषु	१३४	यत तदग्रेयमप्राह्म	१३१
तदेतत् सत्य यथा	१४०	यथा नरा स्वन्दमाना	१५७
तपसा चीयते ब्रह्म	१३२	यथोपनामि नृजते	१३२
तप ध्ने ये ह्युपवसन्ति	१३८	यदाविमद, यदग्न्योऽग्नौ	१४४
तस्माच्च च देवा बहुधा	१४२	यदा वरय वरयते	१५०
तस्मादग्नि समिध	१४१	यदा तेसायते ह्यग्नि	१३४
तस्माद्ब्रह्म, साम, यजूवि	१४२	य य सोक मनसा	१५३
तस्मै स विद्वानुपसन्नाम	१३९	य सवज्ञ सर्वदिव	१३३
तस्मै स होवाच	१३१	" " " "	१४७
विष्णो ह्यमृतं पुरुष	१४०	यस्मिन् सो पृथिवी	१४६
द्वा सुपर्णा सयुजा	१४९	यस्याग्निहोत्रमदर्थम्	१३४
धनुर् गृहीत्वोपनिषदम्	१४५	येदा त विज्ञानमुनिश्चितार्था	१५६
व क्षुधा गृह्यते	१५२	गौनको ह वै महारात	१३०
न तत्र सुषो माति	१४८	सत्यमेव जयति	१५२
नायमात्मा प्रवक्ष्येन	१५५	सायेन तन्म्यस तपसा	१५१
नायमात्मा ब्रह्महीनेन	१५६	सप्त प्राणा प्रवर्धत	१४२
परीक्ष्य लोकान कर्मजितान	१३८	समश्ने बृधे पुरुष	१५०
पुरुष एवेद विवश	१४३	स यो ह वै तत परमम	१५८
प्रणवो धनु, शर	१४५	स वेदैतत परमम	१५४
प्राणो ह्येष य सर्वमुत	१५१	सप्राप्येनमृषय	१५६
प्लवा ह्यते भद्रका	१३६	हिरण्यये परे कोशे	१४८

## माण्डूक्योपनिषद्

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
अमात्रा चतुर्धो, ऽव्यवहाय	१६५	यत्र गुप्त	१६२
एव सर्वेश्वर	१६२	सर्वथा ह्यस्तव	१६१
ओमित्येतदक्षरम् । इवथा सवम	१६०	मुमुक्षुस्तस्यान	१६४
जागरितस्थानो, अहिप्रज	१६१	सोऽयमात्मा	१६३
जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार	१६४	स्वप्नस्थानस तैजस	१६४
मात प्रतम	१६३	स्वप्नस्थानो ऽत प्रत	१६१

मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्	मन्त्रप्रतीकम्	पृष्ठम्
नवद्वारे पुरे देहो	२४४	युञ्जानः प्रथमं मनः	२३०
न संद्वेगे तिष्ठति रुषमस्य	२४४	येनावृत नित्यमिदं हि सर्वम्	२६२
न सत्रं सूर्यो घाति, न चन्द्रतारकम्	२६७	यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च	२३९
न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके	२६५	यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च	२३९, २५१
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते	२६५	यो देवानामविषो, यस्मिन्	२५१
नित्यो नित्यानां, चेतनश्चेतनानाम्	२६७	यो देवो भव्यो, यो भव्युः	२३७
निष्कलं, निष्कर्म्यं, शान्तम्	२६९	यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्	२६९
मौनः पतङ्गो, हरितो, लोहिताक्षः	२४७	यो यौनि यौनिमधितिष्ठत्येकः	२५०
मोहारपुमार्कानिलात्नसानाम्	२३४	यो यौनि यौनिमधितिष्ठत्येकः	२५०, २५६
नैमसूष्यं, न तिर्यञ्चम्	२५४	सप्तत्वमारोग्यमलोमुपत्वम्	२३५
नैव स्त्री, न पुमानेव	२५८	बह्वै र् यथा यौनिमत्तस्य मूर्तिः	२२८
पञ्चलोलोम्बु, पञ्चयोग्यप्रवक्ष्यम्	२२३	पिबन्तुभ्रष्टस्त, विश्वतोमुखः	२३८
पुरुष एवेवेऽस्य सर्वम्	२४३	वेदाहमेतं पुरुषं, महात्मम्	२४०
पृथ्व्यग्नेर्जोऽनिलस्ये समुत्थिते	२६१	वेदाहमेतमजरं, पुराचमम्	२४५
प्राणान् प्रवीड्येह संयुक्तयेष्ट-	२३३	वेदान्ते परमं गुह्यम्	२७०
बालाग्रशतमागस्य	२५९	स एव काले भुवनस्य शोभा	२५२
आवप्राह्ममनीडाश्वम्	२३४	सङ्कल्पनस्तानदृष्टिभोः	२६०
महान् प्रभुर् वं पुरुषः	२४२	स तन्मयो, ह्यमुत, ईशसंख्यः	२६८
मा नस् तौके तमये, मा	२५५	सयुक्तमेतत् क्षरमजरं च	२२५
माया तु प्रकृतिं विद्यात्	२५०	समाने वृक्षे पुरुषो निमानः	२४८
॥ एको जालवातीशत ईशानीमि	२३७	समे, सुखो, शर्करावन्निधानुकाः	२३३
य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तिर्विशत्	२४६	सर्वतः पाणिपादं तत्	२४३
यत् च स्वमायं पचति दिव्ययोगिः	२५७	सर्वथाविद्यमात्मानम्	२२९
मर्षं विद्मं मृदयोपनिषत्	२३५	सर्वाग्निवे सर्वसंस्थे बृहन्ते	२२४
यदा चर्मवदाकाशम्	२६९	सर्वा दिश ऊर्ध्वमग्राश्चै तिर्यक्	२५७
यदाग्रतस्तत् न विद्या न राशि	२५३	सर्वान्नसिरोषोव-	२४१
यदाग्रतस्तत्त्वेन तु ग्रहास्तत्त्वम्	२३६	सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	२४३
यत् तत्पुनाम इव तत्पुमिः	२६५	सर्विन्ना प्रत्येन युज्यते	२३२
यस्मात् पर नापरमस्ति किञ्चित्	२४१	त विश्वहृद्, विश्वविदात्मयोगिः	२६८
यस्य वेदे परा भक्तिः	२७०	स चक्षुःश्रोत्राकृतिविः परोऽग्न्यः	२६४
या ते यद् । शिवा तन्	२३९	सहस्रशौर्या पुरुषः	२४२
यानिपु निरिन्त ! हस्ते	२३९	सुहृत्प्राप्तिभूषम्, कलितस्य मय्ये	२५१
युक्तेन मनसा यथं देयस्य	२३०	स्थलानि, सुस्थाणि, बहूनि चंद	२६०
युस्तथाय मनसा देयान्	२३०	स्वदेहमरणं कृत्वा	२२८
पुरे ॥ बह्व पुण्यम्	२३१	स्वसावमेकं कथयो धवन्ति	२६१
युञ्जते मन उत युञ्जते	२३१		

देवनागरी लिपि के माध्यम से समस्त भाषाई क्षेत्र

समस्त भाषाओं के सत्साहित्य का समानरूपेण रसास्वादन करें —

**विविध भाषाओं के अन्तर्मुख बृहद् ग्रन्थ**

जिनमें उन भाषाओं के मूल पाठ को,

तदवत उच्चारणा सहित,

देवनागरी लिपि में देते हुए सुन्दर हिन्दी अनुवाद दिया गया है —

★ मलयालम - महाभारत— अष्टोत्तच्छत कृत—रचनाकाल—१५ वीं शताब्दी लिप्यंतरणकार एव हिन्दी-अनुवादक— श्री के० ए० मुन्नाय्य अय्यर भू० पू० उपकुलपति सङ्घटित विश्वविद्यालय वाराणसी एव तत्पनक्त विश्वविद्यालय नवनक्त । मलयालम का मूल मधुर पाठ देवनागरी लिपि में देते हुए हिन्दी भाषा में अनुवाद दिया गया है । पृष्ठ संख्या लगभग १२२५ । मूल्य ४० ०० डाक व्यय पृथक् ।

★ बँगला - कृत्तिवास रामायण— (आदि अयोध्या अरण्य किष्किंध्या और सुन्दरकाण्ड) रचनाकाल—१५ वीं शताब्दी मूल बँगला पाठ देवनागरी लिपि में तथा अवधी दोहा चौपाई में सलित पदधानुवाद । अनुवादक एव लिप्यंतरणकार— श्री नन्दकुमार अवस्थी सम्पादक बापी सरोवर एव प्रतिष्ठाता भुवन बाणी ट्रस्ट । देवनागरी अक्षरों में ग्रंथ का चाहे कगना पाठ सुबोध सुनलित पवार छ बो म पढ़िये चाहे अवधी पदधानुवाद । दोनों का पृथक् अदभुत आनंद है । पृष्ठ संख्या लगभग ६२५ । मूल्य २५ ०० डाक व्यय पृथक् ।

★ बँगला - कृत्तिवास (सकाकाण्ड)— रचनाकाल—१५ वीं शताब्दी मूल बँगला पाठ देवनागरी लिपि में तथा हिन्दी अनुवाद—कमल श्री नन्दकुमार अवस्थी एव श्री प्रबोध भजुमहार । पृष्ठ संख्या ४८८ मूल्य १५ ०० डाक व्यय पृथक् ।

★ कश्मीरी - रामायणरचरित— प्रशाशराम कुशवासी कृत । रचनाकाल १८ वीं शताब्दी । देवनागरी लिपि में कश्मीरी पाठ का लिप्यंतरण तथा हिन्दी अनुवाद के कर्ता डा० शिवन कृष्ण रैणा हिन्दी विभागाध्यक्ष राजकीय महाविद्यालय नाथद्वारा । भूमिका लेखक डा० सुवराज कर्णसिंह स्वाम्यमती भारत सरकार । पृष्ठ संख्या लगभग ४८१ मूल्य २० ००। डाक व्यय पृथक् ।

★ **उर्दू - शरीफजादः (आर्यपुत्र)**— 'उमरावजान अदा' के प्रख्यात लेखक मिर्जा रस्सा द्वारा रचित अति रोचक उपन्यास। देवनागरी लिपि में सख्तनल की सुमधुर उर्दू भाषा का आनन्द उठाइये। मूल्य ₹ ००। डाक व्यय पृथक्।

★ **गुरमुखी - श्री जपुजी सुखमनी साहिब**— गुरु नानकदेव और गुरु अर्जुनदेव की अमर वाणी देवनागरी लिपि में। साथ में गीता के सफल पदयानुवादक खानयहादुर खान दिलमुहम्मद का अति प्रसिद्ध प्रवाहमय पदयानुवाद। अनुवाद को पढ़ते समय पाठक झूम उठता है। मूल्य ₹ ००। डाक व्यय पृथक्।

★ **अरबी - जादे सफर (रियाजुल्लाहिन)**— प्रसिद्ध प्रामाणिक हदीस (पैगम्बर के कलाम) के उर्दू अनुवाद जादे सफर का देवनागरी लिपि में सारा पाठ देते हुए बठिन उर्दू शब्दों का हिन्दी अर्थ फुटनोट में दिया गया है। इस्लामी धर्म के सदाचार की स्पष्ट झांकी है। पृष्ठ संख्या ३३६ मूल्य ₹ २००। डाक व्यय पृथक्।

★ **फारसी - सिरै-अववर**— (शाहजाद दाराशिकोह कृत—५० उपनिषदों की फारसी व्याख्या में से ईश, वेन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर— इन ९ उपनिषदों का अनुवाद। ग्रन्थ में उपनिषदों का मूल संस्कृत पाठ, उनका भारतीय अनुवाद, साथ में शाहजाद दारा की स्पष्ट व्याख्या, पाद-टिप्पणियाँ सहित। एक अभावी मुस्लिम शाहजादे की तत्त्वज्ञान में पैठ देखते ही बनती है। हिन्दी रूपान्तरकार हैं वाणी विपदविद्यालय के डॉ० हर्षनारायण। पृष्ठ २००। इस परिश्रमसाध्य ग्रन्थ का मूल्य ₹ २००० मात्र है। डाक व्यय पृथक्।

★ **बाइबिल - सार**— इस पुस्तिका में बाइबिल में दिये गये सारोमन के नीति-वाक्यों को देते हुए उनके समानान्तर भारतीय नीति-वचनों को उद्धृत किया गया है। मूल्य ₹ ०० मात्र।

## वाणी सरोवर

( अपने ढंग का निराला त्रैमासिक पत्र )

हम पत्र में हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी सहित फारसी अंग्रेजी, ओडिया, मराठी, पुरुषोत्तम तमिऴ, मलयालम अंग्रेजी, गुजराती, वैनपु, बङ्ग, सिन्धी, कश्मीरी, राजस्थानी नेपाली आदि के अनुपम ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद तथा देवनागरी लिपि में उल्लेख मूल पाठ धारावाहिक प्रकाशित हो रहा है। वार्षिक शुल्क ₹ ०००० मात्र।

मधीन पाहल बननेवाले मज्जना की गन् १९७० से अब तक का १००० प्रतिवर्ष के हिसाब से शुल्क भेजना उनका हित में होगा। कीते हुए वर्षों के अर्थ न संग्रहित पर धारावाहिक चलनवाच पड़ल म शुल्क अनेक ग्रंथ उनसे सप्रहामय म अपुन रह प्रसंगे। वैसे दृष्ट हो आपति नहीं है, आप जिस वय में पाहें पाहल बन घमते हैं।

वाणी सरोवर अथवा ट्रस्ट में बत रहे तानुवाद देवनागरी लिप्यन्तरण ग्रन्थ —

- १—(तमिल) तिखकुडल
- २—(तमिल) कम्ब रामायण
- ३—(तेलुगु) रगनाथ रामायण ४—(कन्नड) पम्प रामायण—जैनसाहित्य
- ५—(असमिया) माधवकदली रामायण ६—(कश्मीरी) रामावतार चरित
- ७—(नेपाली) रामायण भानुभक्त कृत ८—(गुजराती) गिरधर रामायण
- ९—(मलयाळम) तुञ्चत् एळुत्तञ्छन् कृत महाभारत
- १०— " तथा " " " अध्यात्म रामायण
- ११—(ओडिया) वेदेहीश विद्यास—उपेन्द्र भञ्ज १२—(सिंधी) स्वामी केसवोक्त
- १३—(मराठी) श्रीराम विजय—श्रीधर स्वामी कृत भूलपाठ अनुवाद सहित
- १४—(गुरुमुखी) श्रीगुरुग्रन्थ साहब १५—(उर्दू) गुलशत लखनऊ—मौ० शरर
- १६—(फारसी) दाराशिकोह कृत ५० उपनिषदों की फारसी व्याख्या का धारावाहिक हिंदी अनुवाद
- १७—(राजस्थानी) हविमणीमंगल—पदम भगत कृत
- १८—(अरबी) रियाजुस्सालिहीन (हदीस)—(जबे सफर)
- १९—रामचरितमानस (तुलसी)—संस्कृत पद्यानुवाद सहित, तथा
- २०— " ओडिया लिपि में लिप्यन्तरण एवं ओडिया गद्य पद्यानुवाद

प्रा० स्थान—भुवन वाणी ट्रस्ट ४०५/१२८ चौपटियां रोड, लखनऊ—३

अन्यत्र प्रकाशित लिप्यन्तरण ग्रन्थों का परिचय —

## क्रत्रान शरीफ [हिन्दी]

बीस की मुसलमान हिस्मी मिहन्त के बाद देवनागरी रस्मुलखत में कुर्बान शरीफ नव मतन (नूल आयतें) व हिंदी तनुमा व उपसीरी मोहस छप कर अबाम की पेश नजर है। इसमें मिलते जुलते हुरूफ मसलन जात छे शाह जी वहीर को जलाहद मुमताज करते हुए क़सूर ओकाफ (विरामाविराम चिह्न) व बीयर अलामतें गरब कि शास्त्रीय अरबी पढ़सि पर इयकवनी सूरत में सही लिखावत (पाठ) का पूरा इहतिपात मुहय्या किया गया है। हर सफ पर कुर्बान शरीफ के असली छप वाले अरबी खत में इक्कहाई सही ग्लार भी देकर तफ़्फ़ा की गुल्जादमा ही खरम कर दी गई है। जलावा मौलाना सय्यद अबुल हुसन अली बलहसनी अलमवनी जनाब अली मियां साहब ने इस हिन्दी कुर्बान शरीफ पर पेश लफ्ज लिख कर मिहन्त को चीनत बरूनी है। इदय महज ४०००। ३५० डाक खब। बाहर के साथ १००० पेशगी छहर भेजिए।

प्राप्तिस्थान—लखनऊ किताबघर ४०५/१२८ चौपटियां रोड, लखनऊ—३





**BHAVAN S LIBRARY**

**Kulapati K. H. Munshi Marg**

**BOMBAY-400 007**